भासप्रणीतं

स्वप्नवासवदत्तम्

हिन्दी अनुवाद, संस्कृत टीका, विशद व्याख्या
एवं अन्य उपयोगी सामग्री सहित

जयपाल विद्यालङ्कार
अध्यक्ष, संस्कृत विभाग
हंसराज महाविद्यालय, दिल्ली

© मोतीलाल बनारसीदास
कार्यालय : बंगलो रोड, जवाहर नगर, दिल्ली-७
शाखाएँ : (१) चौक, वाराणसी (उ० प्र०)
(२) अशोक राजपथ, पटना (बिहार)

द्वितीय संशोधित संस्करण
१९७२
मूल्य : रु० ७.५०

आमुख

कविकुलगुरु कालिदास एवं बाण सदृश महाकवियों द्वारा सादर कीर्तित सरस्वती के वरद पुत्र भास की सुप्रसिद्ध तेरह कृतियों में भारतीय विद्वत्परम्परा ने स्वप्नवासवदत्तम् को ही सर्वश्रेष्ठ माना है। कविवर राजशेखर ने अग्निपरीक्षा के रूपक से इसी तथ्य को प्रतिपादित किया है—

भासनाटकचक्रेऽस्मिन् छेकैः क्षिप्ते परीक्षितुम्।
स्वप्नवासवदत्तस्य दाहकोऽभून्न पावकः॥

भाषा सौष्ठव, भावप्रवणता एवं अभिव्यंजना शिल्प की दृष्टि से यह नाटक संस्कृत वाङ्मय में अपना विशिष्ट स्थान रखता है। देश-विदेश में इसे अपूर्व ख्याति मिली है। अनेक आलोचकों ने इसे अपनी-अपनी दृष्टि से देखा है और रमणीयता के चिर-परिचित सिद्धान्त के अनुसार इसके प्राचीन होने पर भी इसे क्षण-क्षण नवीन पाया है। इसकी इस नवीनता का रहस्य जानने का उन्होंने प्रयास किया है। इसके सौन्दर्य से अभिभूत हो उन्होंने मुक्त-कण्ठ से इसका यशोगान किया है।

गत कतिपय दशकों में इस नाटक के कई संस्करण प्रकाशित हुए हैं। इसी परम्परा में प्रस्तुत संस्करण भी है।

श्री जयपाल विद्यालंकार ने इसमें अपनी पारदर्शिनी दृष्टि से स्वप्ननाटक के समस्त रहस्य को हृदयंगम कर अपनी सरल एवं सुबोध भाषा में उसे प्रस्तुत कर दिया है। उनका मूल संस्कृत का हिन्दी अनुवाद तो उच्चकोटि का है ही पर इससे भी उच्चकोटि के एवं महत्त्वपूर्ण हैं उनके टिप्पण जो उनके गहन चिन्तन, सतत अध्यवसाय एवं अपूर्व निष्ठा के परिचायक हैं। स्वप्नवासवदत्त का श्री जयपाल विद्यालंकार का प्रथम संस्करण विद्यार्थी जगत् में प्रिय हुआ है। इसमें इसका प्रस्तुत द्वितीय संस्करण ही प्रमाण है। यह पूर्वापेक्षया अधिक परिष्कृत एवं उपबृंहित है अतः अवश्य ही उससे कहीं अधिक लोकप्रिय होगा।

आचार्य एवं अध्यक्ष, संस्कृत विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय
३-२-१९७२

—सत्यव्रत शास्त्री

कभी-कभी शब्दार्थ के अनुवाद से भिन्न होता है। इसी कारण नाटक के अनुवाद में शब्दार्थ एवं वाक्यार्थ दोनों की संगति का निर्वाह अपेक्षाकृत अधिक कठिन होता है। प्रस्तुत अनुवाद में शब्दार्थ एवं वाक्यार्थ दोनों की संगति को रखने का प्रयत्न किया गया है। जहाँ कहीं दोनों को प्राधान्य देना सम्भव नहीं हो सका है वहाँ प्रसंगानुसार कहीं शब्दार्थ को और कहीं तात्पर्यार्थ को प्रधानता दी गई है। इस कारण कहीं शब्दार्थ की ओर कहीं वाक्यरचना की उपेक्षा हो गई हो तो उसे उपर्युक्त कठिनाई की पृष्ठभूमि में ही पाठक देखेंगे।

संस्कृत टीका विशुद्ध रूप से प्रचलित टीका है। पद्यों पर पूरी टीका की गई है और गद्यभाग में केवल व्याख्या-सापेक्ष शब्दों को ही समझाया गया है। इस टीका का उद्देश्य विद्यार्थी को संस्कृत में सरल रूप से टीका करना सिखाना मात्र है। इसी कारण इसमें सान्वय शब्द-पर्याय को ही प्राधान्य दिया गया है। बहुत-सी अवान्तर सामग्री देकर इसे बोझिल नहीं होने दिया है। नये प्रतीत होने वाले शब्दों के साथ प्रायः सर्वत्र ही अमरकोश आदि कोश-ग्रन्थों के उद्धरण दिये हैं। यह कहीं तो अर्थ की प्रामाणिकता की दृष्टि से और कहीं विद्यार्थी को विभिन्न पर्यायवाची शब्दों का ज्ञान कराने के लिए किया है। व्याकरण-सम्बन्धी टिप्पणियाँ कुछ अंश में ही इस भाग में आई हैं। विस्तार से इनका विवेचन परिशिष्ट १ में मिलेगा।

परिशिष्ट १ में विस्तृत व्याख्या है। अर्थ की दृष्टि से, भाव की दृष्टि से और काव्य की दृष्टि से किसी सन्दर्भ के विषय में जो कुछ कहना था सो सब इसी भाग में कहा है। विभिन्न प्रकार की सामग्री का संग्रह होने के कारण यह भाग अपेक्षाकृत कुछ अधिक विस्तृत भी हो गया है। किन्तु 'स्वप्नवासवदत्तम्' का ठीक-ठीक मूल्यांकन करने के लिए यह अपरिहार्य है। इसमें बिखरे हुए रूप में नाटक-विषयक सभी कुछ आ गया है।

नाटक में आये मुख्य पात्रों के चरित्र का संग्रह भूमिका में न करके परिशिष्ट २ में है। नाटक को ठीक से पढ़ लेने के उपरान्त ही इसे पढ़ना चाहिए। इसी कारण इसे उपर्युक्त क्रम में स्थान दिया है। छन्द-परिचय के प्रसंग से संस्कृत के छन्दों का सामान्य परिचय भी उपयोगी समझकर करवा दिया है। भाषा-सम्बन्धी अपाणिनीय प्रयोगों को परिशिष्ट ४ में दर्शाया है। आनन्दवर्धन ध्वन्यालोक में महात्माओं के दोष-उद्घोषण को अपना ही दोष बताते हैं—"सूक्तिसहस्रद्योतितात्मनां महात्मनां दोषोद्घोषणमात्मन एव दूषणं भवति···।" अतः भाषा के इन प्रयोगों को दोष न मानकर उस समय के प्रचलित प्रयोग मानना चाहिए। या फिर जैसा कि हमने भूमिका में दर्शाया है ये नाटक भास की मूल रचनाओं के परिवर्तित संस्करण मात्र हैं अतः यह भी सम्भव है कि इस प्रकार की भाषा-सम्बन्धी तथा अन्य प्रकार की अशुद्धियों का उत्तरदायित्व इनके रूपान्तरकार पर हो। ये सभी नाटक भास के मूल नाटक नहीं हैं, इस पक्ष में इन भाषासम्बन्धी और अन्य अशुद्धियों

को (इनका विवेचन यथाप्रसङ्ग परिशिष्ट १ में है) एक युक्ति के रूप में भी स्वीकार करना चाहिए।

भूमिका भाग में 'उपलब्ध तेरह नाटक और भास' केवल इसी प्रश्न का विवेचन किया गया है। 'भास का स्थान और समय' का विवेचन आवश्यक होने पर भी पुस्तक का आकार बढ़ जाने के भय से यहाँ नहीं किया जा सका है।

इस पुस्तक के प्रकाशन का श्रेय तो मोतीलाल बनारसीदास को है ही, इसके लिखे जाने का श्रेय भी उक्त प्रकाशन के अध्यक्ष लाला सुन्दरलालजी को ही है। स्थान-स्थान पर हिन्दी माध्यम के स्वीकृत हो जाने से हिन्दी में इसकी उपयोगिता को अनुभव करके श्री सुन्दरलाल जी ने इतनी बार मुझे इस कार्य को करने के लिए प्रेरित किया कि इसे लिखे जाने का समग्र श्रेय उन्हें देते हुए मैं प्रसन्नता का अनुभव करता हूँ। श्री जगदीशलाल जी शास्त्री (अवकाश-प्राप्त अध्यापक जबलपुर) ने न केवल इस सारी पुस्तक के प्रूफ शोधे अपितु स्थान-स्थान पर विशेषतः संस्कृत टीका में अपने उपयोगी सुझाव भी दिये। इन्हीं के कारण प्रकाशन के समय भी मैं अत्यन्त निश्चिन्त रह सका हूँ। इनका मैं हृदय से आभार मानता हूँ। श्रीमती सुशीला अम्बिके, प्राध्यापिका इन्द्रप्रस्थ महाविद्यालय, दिल्ली और डा० रामाश्रय शर्मा, प्राध्यापक दिल्ली महाविद्यालय, दिल्ली के प्रति भी मैं अत्यन्त आभारी हूँ। समय-समय पर आप दोनों के साथ विभिन्न स्थलों की विवेचना करके मैंने पुस्तक के ठीक-ठीक भाव को समझने का प्रयत्न किया है।

अन्त में "चलतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः" को ध्यान में रखकर कहीं पर भी हुई किसी अशुद्धि के लिए क्षमाप्रार्थी हूँ।

—जयपाल विद्यालङ्कार

प्राक्कथन

(द्वितीय संस्करण)

विद्यार्थियों के हाथ में 'स्वप्नवासवदत्तम्' का द्वितीय संस्करण देते हुए मुझे अत्यन्त प्रसन्नता हो रही है। मेरे सहयोगी मित्रों ने और विद्यार्थियों ने इस पुस्तक को अपनी आवश्यकता के अनुरूप पाया, इससे अधिक समीचीन और किस प्रतिफल की कामना मैं कर सकता था?

प्रथम संस्करण में जो कमियाँ मुझे प्रतीत हुईं, उन सबका परिष्कार इस संस्करण में करने का प्रयास किया है। अनुवाद को शब्दार्थ की रक्षा करते हुए भी यत्र-तत्र आवश्यकतानुसार अधिक भाषानुरूप बनाने का प्रयत्न किया है। तात्पर्यार्थ में प्रायः कहीं कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। मुख्य रूप से परिवर्तन वाक्य-विन्यास से सम्बन्वित ही रहा है। संस्कृत टीका में अपेक्षाकृत परिवर्तन कम हैं। कहीं-कहीं व्याकरण-विषयक टिप्पणी और कहीं-कहीं किसी शब्द की व्याख्या ही बढ़ाई गई है। टिप्पणियों में भी कुछ स्थलों पर व्याख्या-सापेक्ष शब्दों का और संयोजन कर दिया गया है। कुछ स्थलों पर क्रम को बदलकर मूल के अनुरूप कर दिया गया है।

अन्त में परिशिष्ट १ में व्याख्यात प्रमुख शब्दों की अनुक्रमणिका देकर इस संस्करण को अधिक उपयोगी बनाया गया है।

हंसराज महाविद्यालय, दिल्ली
फरवरी, १९७२

—जयपाल विद्यालंकार

को (इनका विवेचन यथाप्रसङ्ग परिशिष्ट १ में है) एक युक्ति के रूप में भी स्वीकार करना चाहिए।

भूमिका भाग में 'उपलब्ध तेरह नाटक और भास' केवल इसी प्रश्न का विवेचन किया गया है। 'भास का स्थान और समय' का विवेचन आवश्यक होने पर भी पुस्तक का आकार बढ़ जाने के भय से यहाँ नहीं किया जा सका है।

इस पुस्तक के प्रकाशन का श्रेय तो मोतीलाल बनारसीदास को है ही, इसके लिखे जाने का श्रेय भी उक्त प्रकाशन के अध्यक्ष लाला सुन्दरलालजी को ही है। स्थान-स्थान पर हिन्दी माध्यम के स्वीकृत हो जाने से हिन्दी में इसकी उपयोगिता को अनुभव करके श्री सुन्दरलाल जी ने इतनी बार मुझे इस कार्य को करने के लिए प्रेरित किया कि इसे लिखे जाने का समग्र श्रेय उन्हें देते हुए मैं प्रसन्नता का अनुभव करता हूँ। श्री जगदीशलाल जी शास्त्री (अवकाश-प्राप्त अध्यापक जबलपुर) ने न केवल इस सारी पुस्तक के प्रूफ शोधे अपितु स्थान-स्थान पर विशेषतः संस्कृत टीका में अपने उपयोगी सुझाव भी दिये। इन्हीं के कारण प्रकाशन के समय भी मैं अत्यन्त निश्चिन्त रह सका हूँ। इनका मैं हृदय से आभार मानता हूँ। श्रीमती सुशीला अम्बिके, प्राध्यापिका इन्द्रप्रस्थ महाविद्यालय, दिल्ली और डा० रामाश्रय शर्मा, प्राध्यापक दिल्ली महाविद्यालय, दिल्ली के प्रति भी मैं अत्यन्त आभारी हूँ। समय-समय पर आप दोनों के साथ विभिन्न स्थलों की विवेचना करके मैंने पुस्तक के ठीक-ठीक भाव को समझने का प्रयत्न किया है।

अन्त में "चलतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः" को ध्यान में रखकर कहीं पर भी हुई किसी अशुद्धि के लिए क्षमाप्रार्थी हूँ।

हंसराज महाविद्यालय, दिल्ली —जयपाल विद्यालङ्कार

१३ फरवरी, १९६८

प्राक्कथन

(द्वितीय संस्करण)

विद्यार्थियों के हाथ में 'स्वप्नवासवदत्तम्' का द्वितीय संस्करण देते हुए मुझे अत्यन्त प्रसन्नता हो रही है। मेरे सहयोगी मित्रों ने और विद्यार्थियों ने इस पुस्तक को अपनी आवश्यकता के अनुरूप पाया, इससे अधिक समीचीन और किस प्रतिफल की कामना मैं कर सकता था ?

प्रथम संस्करण में जो कमियाँ मुझे प्रतीत हुईं, उन सबका परिष्कार इस संस्करण में करने का प्रयास किया है। अनुवाद को शब्दार्थ की रक्षा करते हुए भी यत्र-तत्र आवश्यकतानुसार अधिक भाषानुरूप बनाने का प्रयत्न किया है। तात्पर्यार्थ में प्रायः कहीं कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। मुख्य रूप से परिवर्तन वाक्य-विन्यास से सम्बन्धित ही रहा है। संस्कृत टीका में अपेक्षाकृत परिवर्तन कम हैं। कहीं-कहीं व्याकरण-विषयक टिप्पणी और कहीं-कहीं किसी शब्द की व्याख्या ही बढ़ाई गई है। टिप्पणियों में भी कुछ स्थलों पर व्याख्या-सापेक्ष शब्दों का और संयोजन कर दिया गया है। कुछ स्थलों पर क्रम को बदलकर मूल के अनुरूप कर दिया गया है।

अन्त में परिशिष्ट १ में व्याख्यात प्रमुख शब्दों की अनुक्रमणिका देकर इस संस्करण को अधिक उपयोगी बनाया गया है।

हंसराज महाविद्यालय, दिल्ली
फरवरी, १९७२

—जयपाल विद्यालंकार

अनुक्रमणिका

भूमिका

उपलब्ध तेरह नाटक और भास

बीसवीं शती के प्रथम दशक तक कालिदास, बाणभट्ट एवं राजशेखर आदि के माध्यम से महाकवि भास का नाम मात्र ही संस्कृत विद्वानों को ज्ञात था। १९०१ ई० में श्री टी० गणपति शास्त्री को त्रावणकोर राज्य में पद्मनाभपुरम् के समीप मणलिक्कर मठ से लिखित तालपत्रों का एक संग्रह प्राप्त हुआ। इस संग्रह में १०५ पत्र थे। इनकी लिपि प्राचीन केरली थी। लगभग तीन-चार सौ वर्ष पुराने इन पत्रों में से आरम्भ के १२ पत्रों के अतिरिक्त शेष सभी बहुत अच्छी अवस्था में थे। परीक्षा करने पर ये दस नाटकों के रूप में सामने आये। प्रत्येक नाटक की समाप्ति पर उसका नाम दिया गया था। इन दस नाटकों के नाम निम्नलिखित थे—

स्वप्ननाटकम्, प्रतिज्ञानाटकम्, पञ्चरात्रम्, चारुदत्तम्, दूतघटोत्कचम्, अविमारकम्, बालचरितम्, मध्यमव्यायोगः, कर्णभारम्, ऊरुभङ्गम्। ग्यारहवें नाटक का आरम्भ मात्र था। कुछ कालोपरान्त कटित्तुरत्ति के निकटवर्ती कैलासपुरम् के निवासी, ज्योतिषी श्री गोविन्दपिषारोटि से दो नाटक और मिले। ये दोनों 'अभिषेक-नाटकम्' और 'प्रतिमानाटकम्' पूर्व संग्रह में प्राप्त नाटकों के समान ही थे। लिपि भी वही थी। बाद में इन दोनों नाटकों के हस्तलेख राजकीय पुस्तकालय से भी उपलब्ध हो गये। स्वप्ननाटक का प्रारम्भिक भाग कुछ कीट-भक्षित था। प्रकाशन के निमित्त खोज करने पर श्री शास्त्री को इस नाटक के तीन हस्तलेख और प्राप्त हो गये। मैसूर के पण्डित अनन्ताचार्य से स्वप्ननाटक और प्रतिज्ञानाटक के जो सम्पूर्ण हस्तलेख मिले उनके अन्त में 'स्वप्नवासवदत्ता समाप्ता' और 'प्रतिज्ञा-यौगन्धरायण' ऐसा नाम लिखा गया था। इससे स्पष्ट था कि इन नाटकों का पूरा नाम 'स्वप्नवासवदत्तम्' और 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' है।

इन तेरह नाटकों में परस्पर कुछ समानताएँ हैं। इस साम्य से यह स्पष्ट होता है कि इन सभी रचनाओं का लेखक अथवा संग्रहीता कोई एक ही व्यक्ति या वर्ग होगा। ये समानताएँ मुख्य रूप से निम्नलिखित हैं—

(१) प्रायः संस्कृत नाटकों का आरम्भ नान्दी पद्य से होता है। इन सभी नाटकों का समारम्भ "नान्द्यन्ते ततः प्रविशति सूत्रधारः" वाक्य से होता है। इसके बाद आशीर्वादात्मक या मंगलश्लोक हैं।

(२) अन्य नाटकों में सामान्यतः प्रयुक्त 'प्रस्तावना' शब्द के स्थान पर इन सभी में 'स्थापना' शब्द का प्रयोग है।

स्वस्ति भवते सपत्नीकाय (अविमारक)
उत्सादयिष्यन्निव सर्वराज्ञः (दूतवाक्य)

(३) धातुरूप में गणपरिवर्तन :—

धरते खलु वासवदत्ता (स्वप्न०)
नष्टाः शरीरैः ऋतुभिर्धरन्ते (पञ्चरात्र)
हतेषु देहेषु गुणा धरन्ते (कर्णभार)

(४) मा के साथ क्त्वा या तुमुन् का प्रयोग :—

मेदानीं भवाननर्थं चिन्तयित्वा (स्वप्न०)
मा खलु मा खलु मां शप्तुम् (प्रतिज्ञा०)
याचे, मा निर्बध्य... (अविमारक)
मा स्वयं मन्युमुत्पाद्य (प्रतिमा)

(ख) विभिन्न नाटकों में आये भाव, वाक्य और पद्यांशों के कुछ उदाहरण हंसराज अग्रवाल-कृत 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' पुस्तक में देखे जा सकते हैं।

उपलब्ध तेरह नाटकों में उपर्युक्त सभी समानताएँ निरपवाद रूप से मिलती हों सो बात नहीं है। इसी प्रकार इनमें से कुछ विशेषताएँ इन तेरह नाटकों के अतिरिक्त अन्य नाटकों में भी उपलब्ध होती हैं। उदाहरणार्थ प्रथम पद्य में मुद्रालङ्कार का प्रयोग सभी नाटकों में नहीं है। भरतवाक्य की दृष्टि से भी तीन नाटक अपवाद हैं। नाटककार और नाटक का नाम वररुचि-कृत उभयाभिसारिका की प्रस्तावना में भी नहीं मिलता है। प्रस्तावना के स्थान पर स्थापना नाम और सूत्रधार के प्रवेश के बाद नान्दी प्रयोग, शूद्रक के पद्मप्राभृतक, ईश्वरदत्त के धूर्तविटसंवाद, विज्जक के कौमुदीमहोत्सव, महेन्द्रविक्रम के मत्तविलास प्रहसन, कुलशेखरवर्मन् के सुभद्राधनञ्जय और तपतीसंवरण आदि नाटकों में भी उपलब्ध होता है। इस प्रकार ये तेरह नाटक सर्वथा अपनी एक ही श्रेणी बनाते हों सो तो नहीं, किन्तु इतनी अधिक समानता और एक संग्रह में उपलब्धि के आधार पर यह माना जा सकता है कि पंद्रहवीं शती में त्रिवेन्द्रम राज्य के किसी विशिष्ट वर्ग या व्यक्ति की सम्पत्ति में सभी नाटक रहे होंगे। ये सभी नाटक पंद्रहवीं शती में निश्चित रूप से नहीं लिखे गए। सम्भवतः उस समय की किसी नाटक-मण्डली ने किन्हीं प्राचीन नाटकों की प्रतिलिपि की होगी। प्रारम्भ और अन्त की समानताओं से यह भी अनुमान लगाया जा सकता है कि इन लोगों ने अपनी विशेषता को बनाए रखने के लिए इनमें परिवर्तन भी किया होगा। सम्भवतः रंगमञ्च की दृष्टि से इन्हें संक्षिप्त (संशोधित) भी किया हो।

इन तेरह नाटकों और इनके तथाकथित रचयिता भास के विषय में विद्वानों में अत्यधिक मतभेद है। यहाँ इस का युक्तिसंगत विवेचन प्रस्तुत है।

नाट्यशास्त्र में वर्णित नाटकीय नियमों के अभाव और भाषा तथा शैली की

दृष्टि से प्रकृत तेरह अथवा इनके मूल आधारभूत नाटक निस्सन्देह अत्यन्त प्राचीन हैं। साहित्यिक उत्कृष्टता के कारण यह भी निश्चित है कि इनका लेखक कोई यशस्वी ही कवि रहा होगा।

"प्रथितयशसां भाससौमिल्लकविपुत्रादीनां प्रबन्धानतिक्रम्य......।" मालविकाग्निमित्र की प्रस्तावना में उपलब्ध, कालिदास के इस उद्धरण से एक यशस्वी प्राचीन कवि भास के विषय में पता चलता है।

बाणभट्ट ने हर्षचरित के आरम्भ में भास की प्रशस्ति और उसकी रचनाओं की विशेषता के सम्बन्ध में लिखा है—"सूत्रधारकृतारम्भैर्नाटकैर्बहुभूमिकैः, सपताकैर्यशो लेभे भासो देवकुलैरिव।" यशस्वी भास के नाटकों की तीन विशेषताओं में से केवल प्रथम, स्पष्ट रूप से प्रकृत रचनाओं में दिखाई देती है।[1]

---

१. बाणभट्ट ने भास के नाटकों की दूसरी विशेषता 'बहुभूमिकैः' बह्व्यः भूमिकाः येषु, अर्थात् नाटकों में अधिक पात्रों की विद्यमानता कही है। बाण के समय (७वीं शती) तक प्रसिद्ध नाटक शूद्रक, अश्वघोष, कालिदास, हर्ष, विशाखदत्त और भट्टनारायण के मिलते हैं। आकार के आधार पर इन सभी नाटकों की पात्र-संख्या से प्रकृत १३ नाटकों की पात्र-संख्या सामान्यतः कम है। इस प्रकार बाण द्वारा निर्दिष्ट यह विशेषता भास के तथाकथित नाटकों में नहीं है। बहुभूमिकैः का तात्पर्य यदि पात्रों की विविधता से है तो इन नाटकों में यह विशेषता है। जीवन का शायद ही कोई ऐसा क्षेत्र हो, जिसका प्रतिनिधित्व इन नाटकों में उपलब्ध कोई पात्र न कर रहा हो। तीसरी विशेषता है सपताकैः। "व्यापि प्रासङ्गिकं वृत्तं पताकेत्यभिधीयते" (सा० दर्पण) यह पताका की परिभाषा है। डा० दीक्षित ने अपने शोधप्रबन्ध में तेरह में से दो (स्वप्न० और प्रतिज्ञा०) में इस पताकारूप गौणकथा को ढूँढ़ा है। वास्तव में वासवदत्ता का अग्निदाह और महासेन का पुत्री के विवाह के सम्बन्ध में वार्तालाप कदापि अवान्तर कथाएँ नहीं मानी जा सकतीं। भास के नाटकों में नाट्यशास्त्रोक्त नियमों को घटाने का प्रयत्न ही समीचीन नहीं है। घुणाक्षरन्याय से भले ही कोई बात घट जाय, पूर्वभावी होने से सर्वांगीण विवेचन सम्भव नहीं।

८०० ई० के वाक्पति अपने 'गउडवहो' में भास के विषय में लिखते हैं—
ासे ज्वलनमित्रे कुन्तीदेवे च यस्य रघुकारे। सौवन्धवे च बन्धे हरिचन्द्रे च
नन्दः।" यहाँ वाक्पति ने भास को अग्नि का मित्र कहा है। काव्य की भाषा में
ग्नि का मित्र' भास की अग्नि-प्रसंग के वर्णन में निपुणता का द्योतक है। प्रस्तुत
ाटकों में इस अग्निकाण्ड का विशिष्ट वर्णन है। स्वप्नवासवदत्ता का तो आधार ही
ग्निकाण्ड है।

उपर्युक्त उद्धरणों तथा वक्ष्यमाण स्वप्नवासवदत्त से सम्बद्ध प्रमाणों के
ाधार पर, टी० गणपति शास्त्री और उनके अनुयायी कुछ विद्वानों ने यह परिणाम
नेकाला कि इन सभी नाटकों का रचयिता वही यशस्वी कवि भास है जिसकी
शंसा कालिदास ने की है। हमारे मत में इन प्रमाणों से यह स्पष्ट परिणाम नहीं
नेकाला जा सकता। इसके अतिरिक्त भास रचित मूल नाटक अपने यथार्थ रूप में
ही इन नाटकों के रूप में मिले हैं, यह तो इन युक्तियों के आधार पर कदापि नहीं
कहा जा सकता।

इन तेरह नाटकों में से एक स्वप्नवासवदत्त के विषय में अवान्तर साहित्य में
अपेक्षाकृत अधिक जानकारी मिलती है। इस सामग्री से किसी परिणाम पर पहुँचने
के लिए इसका विश्लेषण करना आवश्यक है।

(क) वे उद्धरण जो स्वप्न० को भास की रचना बताते हैं और उपलब्ध
स्वप्नवासवदत्त के साथ संगत होते हैं—

(१) राजशेखर (९वीं शती) स्वप्न० को भास की रचना बताते हैं—

"भासनाटकचक्रेऽपि च्छेकैः क्षिप्तैः परीक्षितुम्।
स्वप्नवासवदत्तस्य दाहकोभून्न पावकः॥"

भास के नाटकों की कड़ी परीक्षा होने पर स्वप्न० उस परीक्षा में खरा निकला।
जिस प्रकार नाटक में आग वास्तव में वासवदत्ता को नहीं जला पाई, उसी प्रकार
परीक्षा की आग भी इस नाटक को नष्ट नहीं कर सकी। निस्संदेह उपलब्ध नाटकों
में स्वप्न० सर्वश्रेष्ठ है। इसका लेखक भास है, उद्धरण से यह स्पष्ट है।

(२) १२वीं शती के रामचन्द्र और गुणचन्द्र अपने 'नाट्यदर्पण' में भासकृत
स्वप्नवासवदत्त से एक उद्धरण देते हैं—

"यथा भासकृते स्वप्नवासवदत्ते शेफालिकाशिलामवलोक्य—
वत्सराजः—पादाक्रान्तानि पुष्पाणि सोष्म चेदं शिलातलम्।
नूनं काचिदिहासीना मां दृष्ट्वा सहसा गता॥"

यद्यपि उपलब्ध स्वप्न० में यह पद्य नहीं मिलता, परन्तु श्री काले ने इसे समुचित
स्थान पर जोड़ दिया है। यह प्रसंग के इतना अनुकूल है कि इसे इस स्थल पर
स्वीकार करने में आपत्ति नहीं हो सकती।

(अ) वासवदत्ता का पद्मावती के पास धरोहर रूप में न्यास। (ब) उदयन को, पद्मावती के मस्तक पर विशेष तिलक को देखकर, वासवदत्ता के जीवित होने की जानकारी। (स)'वासवदत्ता' आओ आओ ! कहाँ जाती हो' इत्यादि प्रकार से उदयन की दुःखाभिव्यक्ति। (द) घोषवती के मिलने पर राजा का वासवदत्ता की उपलब्धि के लिए छटपटाना। (ज) अन्त में 'किं ते भूयः प्रियं कुर्याम्' इत्यादि वाक्य का अभाव। उपलब्ध स्वप्नवासवदत्त के कथानक में दूसरी संधि का अभाव है। कथा-सरित्सागर में उपलब्ध इस कथा में यह द्वितीय संधि स्पष्ट उल्लिखित है। सम्भवतः इसी मूलकथा पर आश्रित मूल स्वप्नवासवदत्त में विस्तार से सभी कुछ रहा होगा। यहाँ श्री एम० आर० काले का यह कथन कि एक संधि की अनुपलब्धि और चार की उपलब्धि के कारण इसे पक्ष की युक्ति मानना चाहिए, अधिक संगत नहीं प्रतीत होता है। विस्तृत नाटक के संक्षिप्त रूप में सर्वथा तो किसी एकाध अंग का ही त्याग किया जायेगा। कौन कह सकता है कि उपलब्ध सन्धियाँ भी मूल की अपेक्षा कितनी संक्षिप्त रूप में विद्यमान हैं।

(३) सागरनन्दिन् (१३वीं शती) अपने 'नाटकलक्षणरत्नकोश' में स्वप्न-वासवदत्त से निम्नलिखित उद्धरण देते हैं—

"यथा स्वप्नवासवदत्ते नेपथ्ये सूत्रधार उत्सारणां श्रुत्वा पठति—अये कथं तपोवनेऽप्युत्सारणा ? (विलोक्य) कथं मन्त्री यौगन्धरायणः ? वत्सराजस्य राज्यप्रत्या-नयनं पद्मावतीजनेनोत्सार्यते।"

वर्तमान स्वप्न० की स्थापना का पाठ इस पाठ से सर्वथा भिन्न है। "अये कथम्......" इत्यादि पाठ सागरनन्दिन् द्वारा अपने समय में उपलब्ध स्वप्नवासव-दत्त से ही उद्धृत किया हुआ प्रतीत होता है। पाठ की शब्दावली से स्पष्ट है कि यहाँ मूल पाठ का भाव उद्धृत न करके मूल पाठ ही उद्धृत किया गया है। इस प्रसङ्ग में दी गई श्री एम० आर० काले की युक्ति हमें संगत प्रतीत नहीं होती। नाटक के प्रारम्भ को नाटक-मण्डली ने अपनी स्वीकृत पद्धति के अनुसार परिवर्तित कर लिया हो, यही अधिक संगत प्रतीत होता है। इन सभी नाटकों के प्रारम्भ में एक-जैसी पंक्ति "एवमार्यमिश्रान्......" भी इसी विचार को पुष्ट करती प्रतीत होती है।

(४) अभिनवगुप्त 'ध्वन्यालोक' की टीका में स्वप्नवासवदत्त से एक आर्या उद्धृत करते हैं—

"सञ्चितपक्ष्मकपाटं नयनद्वारं स्वरूपताडनेन।
उद्घाट्य सा प्रविष्टा हृदयगृहं मे नृपतनूजा॥"

वर्तमान स्वप्नवासवदत्त में न तो यह पद्य मिलता है और न ही अर्थ की दृष्टि से कथानक में ही कहीं सङ्गत होता है।

उपर्युक्त विश्लेषण में क वर्ग के उद्धरण वर्तमान स्वप्नवासवदत्त को ही भास की रचना बताते हैं। ख वर्ग के उद्धरण स्वप्न० को केवल एक प्राचीन नाटक सिद्ध करते हैं और ग वर्ग के उद्धरण वर्तमान स्वप्न० से भिन्न किसी स्वप्नवासवदत्त की स्थिति की पुष्टि करते हैं। वर्तमान स्वप्नवासवदत्त को ही भास की मूल रचना माना जाय तो ग वर्ग के उद्धरणों की असङ्गति का कोई समीचीन समाधान नहीं दिया जा सकता। इसके विपरीत यदि वर्तमान नाटक को मूल भासरचित स्वप्नवासवदत्त का परिवर्तित (सम्भवतः संक्षिप्त) रूप माना जाय तो परिवर्तन या संक्षेप के कारण ग वर्ग के उद्धरणों की असङ्गति का तो सम्यक् समाधान हो ही जाता है, क वर्ग के उद्धरण भी असङ्गत नहीं होते क्योंकि संक्षिप्त रचना में भी मूल का कुछ अंश तो ज्यों-का-त्यों होगा ही, संक्षेप में कुछ अंश का पूर्णतः परित्याग और कुछ का संक्षेप ही होता है, न कि सारी रचना ही परिवर्तित होती है। ख वर्ग के उद्धरण दोनों ही पक्षों में सङ्गत होंगे। वर्तमान नाटक चाहे मूल हो चाहे परिवर्तित, इनकी स्थिति में कोई अन्तर नहीं आता क्योंकि ये तो स्वप्न० की केवल प्राचीनता मात्र के साधक हैं। इस प्रकार क वर्ग के प्रमाणों के उभय पक्ष में समबल होने से और ग वर्ग के प्रमाणों के केवल एक पक्ष में समवेत, तथा संख्या में भी अधिक होने के कारण वर्तमान स्वप्नवासवदत्त मूल भास-रचित स्वप्नवासवत्त का परिवर्तित संस्करण है, यही सिद्ध होता है। इस प्रकार स्वप्नवासवदत्त के आश्रय से शेष नाटकों को भास की रचना सिद्ध करने का प्रयत्न भी विफल हो जाता है। सम्भवतः १३वीं, १४वीं शती के बाद किसी नाटक-मण्डली ने इन प्राचीन नाटकों को लेकर अपनी आवश्यकता एवं विशिष्टतानुसार संक्षिप्त एवं परिवर्तित किया है।

दण्डी (६ठी शती) द्वारा 'काव्यादर्श' में उद्धृत **"लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः"** प्रकृत बालचरित और चारुदत्त में मिलता है। भामह (८वीं शती) द्वारा काव्यालङ्कार में उद्धृत **"हतोऽनेन मम भ्राता मम पुत्रः पिता मम"** गद्य रूप में प्रकृत प्रतिज्ञानाटक में मिलता है। वामन (९वीं शती) द्वारा उद्धृत **"यो भर्तृपिण्डस्य कृते न युद्धयेत्"** प्रकृत प्रतिज्ञायौगन्धरायण में मिलता है, और **"यासां बलिर्भवति०"** पद्य चारुदत्त में मिलता है (यह पद्य मृच्छकटिक में भी मिलता है)। ये सभी उद्धरण बिना किसी संकेत के उपलब्ध होते हैं। इनसे केवल इतना ही परिणाम निकाला जा सकता है कि उपलब्ध नाटक छठी शती से पहले के हैं। इस परिणाम से किसी को भी आपत्ति नहीं है। किन्तु वर्तमान नाटक ठीक मूल नाटकों की ही प्रतिलिपि हैं, इस विषय में इन उद्धरणों से कुछ भी सिद्ध नहीं किया जा

सकता । 'इसके अतिरिक्त स्फुट रूप से भास के नाम से उपलब्ध तेरह पद्यों में से एक भी इन उपलब्ध नाटकों में नहीं मिलता । अतः ये नाटक मूल नाटकों के संक्षिप्त या परिवर्तित रूप हैं और भास के कुछ नाटक अभी मिले ही नहीं हैं, ऐसा परिणाम निकालना अधिक युक्तियुक्त होगा । तेरह नाटकों में से जिनके विषय में कोई संकेत कहीं नहीं मिलता उन्हें एक बण्डल में मिलने से या कुछ समानता के कारण एक ही नाटक-मण्डली से सम्बद्ध तो माना जा सकता है किन्तु भास के साथ जोड़ने के लिए और प्रमाणों की अपेक्षा है

मलयालम के विद्वान् श्री ए० के० पिपारोटि और श्री के० आर० पिपारोटि का कहना है कि केरल की चाक्यार नाटक-मण्डली ने इन नाटकों को अपनी आवश्यकतानुसार अपने साँचे में ढाल कर विभिन्न मूल नाटकों से नकल किया होगा और श्री टी० गणपति शास्त्री को इन्हीं का बण्डल मिला है । इस पक्ष को भी अभी प्रबल साधक युक्तियों की आवश्यकता है । इन्हीं तेरह नाटक में से कुछ रंगमञ्च की दृष्टि से शोधे हुए नहीं जान पड़ते । 'अविमारक' संस्कृत में उपलब्ध विशुद्ध काव्य की दृष्टि से लिखे गये, अन्य नाटकों की श्रेणी का ही एक नाटक प्रतीत होता है ।

उपर्युक्त सम्पूर्ण विवेचन से ऐसा प्रतीत होता है कि उपलब्ध तेरह नाटक तो अवश्य ही १५वीं, १६वीं शती की केरल की किसी नाटक-मण्डली (सम्भवतः चाक्यार) की सम्पत्ति हैं । इनके मूल आधार अत्यन्त प्राचीन हैं । नाटक-मण्डली ने अपनी विशेषता के लिए इनमें आदि और अन्त को अपनी शैली के अनुसार बदल लिया है । रङ्गमञ्च की दृष्टि से इन्हें शोधा भी है । कुछ भाग को संक्षिप्त किया है और कुछ को सम्पूर्ण रूप से ही छोड़ दिया है । भाषा इत्यादि में भी सम्भवतः कुछ-कुछ परिवर्तन किया हो । इनमें से कुछ के मूल रचयिता अवश्य भास प्रतीत होते हैं । ये सभी भास-रचित हैं या फिर केवल ये ही भास की रचनाएँ हैं, ऐसा कुछ भी निर्णयात्मक रूप से नहीं कहा जा सकता ।

कोई भी एक परिणाम सब नाटकों पर ठीक से लागू नहीं होता । इससे यह अनुमान भी लगाया जा सकता है कि यह संग्रह नाटक-मण्डली की सम्पत्ति न होकर किसी एक व्यक्ति या परिवार की सम्पत्ति हो । उन्होंने मुख्य रूप से अपनी आस्था की पात्र नाटक-मण्डली के संगृहीत नाटकों को अपने पास रखा हो और अपनी रुचि के कुछ और नाटक भी इस संग्रह में मिला दिये हों । यह भी सम्भव है कि नाटक-मण्डली ही पूरी तरह से सभी नाटकों को किन्हीं परिस्थितियों के कारण न शोध पाई हो । कुछ भी हो, इन सभी नाटकों के रचयिता भास ही हैं ऐसा तो निर्णयात्मक रूप से नहीं कहा जा सकता ।

नाटक के पात्र

पुरुष

राजा—वत्सदेश का राजा उदयन

यौगन्धरायण—उदयन का मन्त्री

विदूषक—वसन्तक नामक उदयन का मित्र (नर्मसचिव)

ब्रह्मचारी—लावाणक ग्राम का निवासी छात्र

काञ्चुकीय—राजकुल का सेवक

संभपक, भट—पद्मावती के सेवक

स्त्री

वासवदत्ता—उदयन की प्रथम पत्नी, गुप्त वेश में यही आवन्तिका है

पद्मावती—मगधराज दर्शक की बहिन, उदयन की द्वितीय पत्नी

तापसी—मगध के निकट तपोवन में रहने वाली एक स्त्री

मधुकरिका }
पद्मिनिका } —पद्मावती की सखियाँ एवं परिचारिकाएँ

धात्री—पद्मावती की उपमाता

विजया—वत्सराज की प्रतिहारी

धात्री—वासवदत्ता की उपमाता

महाकविभासप्रणीतं

स्वप्नवासवदत्तम्

॥ श्रीः ॥

स्वप्नवासवदत्तम् ।

(नान्द्यन्ते ततः प्रविशति सूत्रधारः ।)

सूत्रधारः—उदयनवेन्दुसवर्णावासवदत्ताबलौ बलस्य त्वाम् ।
पद्मावतीर्णपूर्णौ वसन्तकम्रौ भुजौ पाताम् ॥१॥

एवमार्यमिश्रान् विज्ञापयामि । अये ! किं नु खलु मयि विज्ञापनव्यग्रे शब्द इव श्रूयते ? अङ्ग ! पश्यामि ।

(नेपथ्ये)

उत्सरतोत्सरतार्याः ! उत्सरत । [उस्सरह उस्सरह अय्या ! उस्सरह ।]

सूत्रधारः—भवतु विज्ञातम् ।

भृत्यैर्मगधराजस्य स्निग्धैः कन्यानुगामिभिः ।
धृष्टमुत्सार्यते सर्वस्तपोवनगतो जनः ॥२॥

(निष्क्रान्तः ।)

स्थापना ।

उदयते इति उदय उदीयमानो नवो नूतन इन्दुस्तेन समानो वर्णो ययोस्तौ । आसवेन मद्येन मद्यपानेनेत्यर्थः दत्तमबलं शक्तिक्षयो याभ्यां तौ, अथवा दत्तमासवं मद्यं अबलायै याभ्यां तौ । आसवदत्ता इत्यत्र "वाऽऽहिताग्न्यादिषु" २-२-३७ इत्यनेन निष्ठान्तस्य दत्तशब्दस्य वा परनिपातः । पद्माया लक्ष्म्या अवतीर्णेन अवतारेण प्राकट्येन इति भावः (अव+तॄ--अवतीर्णम्, "नपुंसके भावे क्तः ३-३-११४) पूर्णौ सम्पन्नौ, वसन्त इव कम्रौ मनोज्ञौ, बलरामस्य भुजौ त्वां पातां रक्षताम् । अत्र पद्ये मुद्रालङ्कारः । तस्य लक्षणम्—"सूच्यार्थसूचनं मुद्रा प्रकृतार्थपरैः पदैः ।" अनेन च प्रधानपात्राणाम्—उदयनवासवदत्तापद्मावतीवसन्तकानाम्—उल्लेखोऽत्र कृतः । आर्या छन्दः । १ ।

स्वप्नवासवदत्तम् ।

(नान्दी के वाद फिर सूत्रधार प्रवेश करता है ।)

सूत्रधार—उदय होते हुए नये चन्द्रमा के सदृश वर्ण वाली, मद्यपान से वलरहित अथवा अवला [अपनी पत्नी] को मद्य देने वाली, लक्ष्मी के प्रकट होने से सम्पन्न, वसन्त-जैसी सुन्दर, वलराम की भुजाएँ आपकी रक्षा करें । (१)

मान्य सज्जनों को मैं यह [इस प्रकार] बताता हूँ । अरे ! यह क्या, मेरे निवेदन में व्यस्त होते ही शब्द-सा सुनाई पड़ता है ? तो फिर देखता हूं ।

(नेपथ्य में)

हटो सज्जनो ! हटो ।

सूत्रधार—अच्छा, जाना ।

मगधाधिपति के स्नेही, [अतएव] कन्या के पीछे चलने वाले सेवकों से सभी तपोवन-प्राप्त [वासी] लोग धृष्टतापूर्वक हटाए जा रहे हैं । (२)

(निकल गया ।)

स्थापना ।

अथ प्रथमोऽङ्कः ।

(प्रविश्य)

भटौ—उत्सरतोत्सरतार्याः ! उत्सरत । [उस्सरह उस्सरह अय्या ! उस्सरह ।]
(ततः प्रविशति परिव्राजकवेषो यौगन्धरायण आवन्तिकावेषधारिणी वासवदत्ता च ।)

यौगन्धरायणः—(कर्णं दत्त्वा) कथमिहाप्युत्सार्यते । कुतः—

धीरस्याश्रमसंश्रितस्य वसतस्तुष्टस्य वन्यैः फलै-
र्मानार्हस्य जनस्य वल्कलवतस्त्रासः समुत्पाद्यते ।
उत्सिक्तो विनयादपेतपुरुषो भाग्यैश्चलैर्विस्मितः
कोऽयं भो ! निभृतं तपोवनमिदं ग्रामीकरोत्याज्ञया ॥३॥

वासवदत्ता—आर्य ! क एष उत्सारयति ? [अय्य ! को एसो उस्सारेदि ?]
यौगन्धरायणः—भवति ! यो धर्मादात्मानमुत्सारयति ।
वासवदत्ता—आर्य ! नह्येवं वक्तुकामा । अहमपि नामोत्सारयितव्या भवामीति ।
[अय्य ! ण हि एव्वं वत्तुकामा । अहं वि णाम उस्सारइदव्वा होमि त्ति ।]
यौगन्धरायणः—भवति ! एवमनिर्ज्ञातानि दैवतान्यप्यवधूयन्ते ।
वासवदत्ता—आर्य ! तथा परिश्रमः परिखेदं नोत्पादयति यथायं परिभवः । [अय्य ! तह परिस्समो परिखेदं ण उप्पादेदि जह अअं परिभवो]
यौगन्धरायणः—भुक्तोज्झित एष विषयोऽत्रभवत्या । नात्र चिन्ता कार्या । कुतः—

पूर्वं त्वयाप्यभिमतं गतमेवमासी-
च्छ्लाघ्यं गमिष्यसि पुनर्विजयेन भर्तुः ।

अपि शब्द उत्सारणाकार्यस्य सर्वथैवानुचितत्वं द्योतयति तदेव च पद्येन प्रकटयति—

धीरस्य धैर्ययुक्तस्य अचञ्चलचित्तस्य,आश्रमसंश्रितस्य आश्रमाश्रितस्य, वसतः अरण्ये तपोवने वा वासं कुर्वतः, अथवा वन्यैः फलैस्तुष्टस्येति वसतः । वने भवाः वन्याः तैर्वन्यैः फलैः तुष्टस्य सन्तुष्टस्य, वल्कलानि एव वस्त्राणि अस्य इति तस्य वल्कलवतः, मानमर्हत्यसौ मानार्हस्तस्य, जनस्य(समुदाये एकवचनम्)त्रासो भयं समुत्पाद्यते भृत्यैः । भो ! उत्सिक्तः उद्धतः मर्यादाविरहितः, विनयो नम्रत्वं तस्मादपेतो दूरीभूतः अविनीतः, चलैरस्थिरैः भाग्यैः धनादिरूपविभवैः विस्मितः गर्वितः, अयं कः पुरुषः, निभृतं शान्तमिदं

प्रथम अङ्क ।

(प्रवेश करके)

दो रक्षक—हटो हटो सज्जनो ! हटो ।

(उसके बाद सन्यासीवेशधारी यौगन्धरायण और अवन्ति-देश के अनुरूप वेश धारण किए हुए वासवदत्ता प्रवेश करते हैं ।)

यौगन्धरायण—(कान लगा कर) क्या यहाँ भी हटाया जा रहा है ? [यह उत्सारणा उचित नहीं हैं] क्योंकि—

धैर्यशाली, आश्रम में आश्रय लिए हुए, [तपोवन में] रहने वाले, जंगली फलों से तृप्त, वल्कल [वस्त्र पहनने] वाले, मान के योग्य, मनुष्य [मनुष्यों] को भयभीत किया जा रहा है । अरे ! यह कौन उद्दण्ड, अस्थिर भाग्यों से गर्वित, अविनीत पुरुष है, जो इस शान्त तपोवन को आज्ञा से गाँव बना रहा है । (३)

वासवदत्ता—आर्य ! यह कौन हटा रहा है ?

यौगन्धरायण—देवी ! जो धर्म से स्वयं को हटा रहा है ।

वासवदत्ता—आर्य ! मैं यह नहीं कहना चाहती [मेरा अभिप्राय यह नहीं है] । क्या मुझे भी हटाया जायेगा ?

यौगन्धरायण—देवी ! इस प्रकार बिन-पहचाने देवता भी तिरस्कृत हो जाते हैं ।

वासवदत्ता—आर्य ! परिश्रम वैसा कष्ट नहीं पहुँचाता जैसा यह तिरस्कार ।

यौगन्धरायण—यह विषय [सेवकों की उत्सारणा पूर्वक गमन] आपने भोग कर छोड़ दिया है । इसमें चिन्ता नहीं करनी चाहिए । क्योंकि—

पहले तुम भी इसी प्रकार इच्छानुसार जाया करती थी । पति के जीतने पर

तपोवनम्, आज्ञया उत्सारणरूपया ग्रामीकरोति न ग्रामः इति अग्रामः, अग्रामं ग्रामं करोति इति ग्रामीकरोति "अभूततद्भावे इति वक्तव्यम्" इत्यनेन 'च्वि' प्रत्ययः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ।३।

भवत् शब्दः श्रेष्ठवाचकः, तस्यैव स्त्रियां सम्बोधने 'भवति' इति रूपम् माननीये ! तपस्विनामपसारणं धर्मविरुद्धम् । अतः कथितं य आत्मानं धर्मादुत्सारयति इति । उत्सारयति (उत्+सृ+णिच्+शप्+तिप्) दूरीकरोति । विरुद्धाचरणेन (कर्त्री) आत्मानं(कर्मीभूतं) धर्मात् च्यावयतीत्यर्थः । अवधूयन्ते परिभूयन्ते परिभवः तिरस्कारः । भुक्तोज्झितः पूर्वं भुक्तः पश्चादुज्झितः 'पूर्वकालैकसर्वजरत्" २-१-४९ इत्यनेन कर्मधारयसमासः, प्रथमस्य च पदस्य नियमेन पूर्वनिपातः । विषयः उत्सारणापूर्वकं गमनम् ।

अधुना समुत्सारणया खिद्यमानया त्वयापि पूर्वम् एवं भृत्यैरुत्सारणापूर्वकं गतं गमनमभिमतस्वीकृतमासीत् । भर्तुः उदयनस्य विजयेन पुनरपि श्लाघ्यं श्लाघायोग्यं

कालक्रमेण जगतः परिवर्तमाना
चक्रारपङ्क्तिरिव गच्छति भाग्यपङ्क्तिः ॥४॥

भटौ—उत्सरतार्याः ! उत्सरत । [उस्सरह अय्या ! उस्सरह ।]

(ततः प्रविशति काञ्चुकीयः ।)

काञ्चुकीयः—सम्भषक ! न खलु न खलूत्सारणा कार्या । पश्य,

परिहरतु भवान् नृपापवादं
न परुषमाश्रवासिषु प्रयोज्यम् ।
नगरपरिभवान् विमोक्तुमेते
वनमभिगम्य मनस्विनो वसन्ति ॥५॥

उभौ—आर्य तथा । [अय्य ! तह ।]

(निष्क्रान्तौ ।)

यौगन्धरायणः—हन्त सविज्ञानमस्य दर्शनम् । वत्से उपसर्पावस्तावदेनम् ।
वासवदत्ता—आर्य ! तथा । [अय्य तह ।]
यौगन्धरायणः—(उपसृत्य) भोः ! किङ्कृतेयमुत्सारणा ?
काञ्चुकीयः—भोस्तपस्विन् !
यौगन्धरायणः—(आत्मगतम्) तपस्विन्निति गुणवान् खल्वयमालापः । अपरिचयात्तु न श्लिष्यते मे मनसि ।
काञ्चुकीयः—भोः ! श्रूयताम् । एषा खलु गुरुभिरभिहितनामवेयस्यास्माकं महाराजदर्शकस्य भगिनी पद्मावती नाम । सैषा नो महाराजमातरं महादेवीमाश्रमस्थामभिगम्यानुज्ञाता तत्रभवत्या राजगृहमेव यास्यति । तदद्यास्मिन्नाश्रमपदे वासोऽभिप्रेतोऽस्याः । तद् भवन्तः—

तीर्थोदकानि समिधः कुसुमानि दर्भान्
स्वैरं वनादुपनयन्तु तपोधनानि ।

यथा स्यात्तथा गमिष्यसि । जगतः संसारस्य समयक्रमेण परिवर्तमाना परिभ्रमन्ती भाग्यस्य उच्चावचावस्थायाः पङ्क्तिः परम्परा चक्रस्य अराणां पङ्क्तिरिव गच्छति । अर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः । "सामान्यं विशेषो वा तदन्येन समर्थ्यते । यत्र सोऽर्थान्तरन्यासः साधर्म्येणेतरेण वा" का० प्रकाशः । वृत्तं वसन्ततिलकम् ।४।

सम्भषक इति द्वयोर्भटयोरेकतरस्य नाम ।

भवान् नृपस्य राज्ञः दर्शकस्य अपवादं निन्दां परिहरतु वर्जयतु, राज्ञि जन-निन्दामुत्पादयितुं न भवता चेष्टनीयमित्यर्थः । आश्रमवासिषु तपोवननिवासिषु तेषां विषये (विषयश्च सप्तम्यर्थः) परुषं निष्ठुरं वचनमिति यावत् न प्रयोज्यं न प्रयोक्तव्यम् ।

फिर श्लाघनीय रूप से गमन करोगी। समय के क्रम से बदलती हुई संसार की भाग्यपंक्ति पहिये के अरों की तरह चलती है। (४)

दो रक्षक—हटो सज्जनो ! हटो।

(इसके बाद काञ्चुकीय प्रवेश करता है।)

काञ्चुकीय—सम्भषक ! नहीं, उत्सारणा नहीं करनी चाहिए। देखो—

आप राजा के अपयश को दूर करें, आश्रमवासियों में [के प्रति] निष्ठुर [व्यवहार] नहीं करना चाहिए। ये मनस्वी नगर में होने वाले तिरस्कारों को छोड़ने के लिए[से बचने के लिए] वन में आकर रहते हैं। (५)

दोनों—आर्य ! अच्छा।

(निकल गये।)

यौगन्धरायण—अहा ! देखने में यह बुद्धिमान् प्रतीत होता है। बेटी ! हम इसके पास चलें।

वासवदत्ता—आर्य ! अच्छा।

यौगन्धरायण—(पास जाकर) श्रीमन् ! यह 'हटो-हटो'[उत्सारणा] किस कारण से किया जा रहा है ?

काञ्चुकीय—हे तपस्वी !

यौगन्धरायण—(स्वगत) "तपस्वी" निश्चय से यह सम्बोधन-प्रकार गुण-युक्त है। पर अपरिचित होने से मेरे मन में संगत नहीं हो रहा।

काञ्चुकीय—श्रीमन् ! सुनिये—गुरुजन जिन्हें दर्शक नाम से पुकारते हैं, उन हमारे महाराज की यह 'पद्मावती' नाम की बहन है। वह यह [पद्मा०] आश्रमवासिनी हमारे महाराज की माता, महादेवी से मिलकर [बाद में] उन पूजनीया की अनुज्ञा से राजगृह को ही जायेगी। इस प्रकार आज इसकी इस आश्रम मे रहने की इच्छा है। तो आप—

तप की सम्पत्ति [के साधन] तीर्थजलों, समिधाओं, फूलों, [और] कुशाओं

यतो हि एते मनस्विनः प्रशस्तं मनो येषां ते, प्रशस्तमानसाः "अस्मायमेधास्रजो विनिः" ५-२-१२१ इत्यनेन 'विनिः' प्रत्ययः। नगरेषु सुलभान् परिभवान् अनादरान् विमोक्तुं परिहर्तुं वनमधिगम्य गत्वा वसन्ति निवसन्ति। वनौकसवृत्तिमङ्गीकुर्वन्तीत्यर्थः। पुष्पिताग्रा वृत्तम् ।५।

हन्तेति हर्षे "हन्त हर्षेऽनुकम्पायां वाक्यारम्भविषादयोः" इत्यमरः। विशिष्टं ज्ञानमिति विज्ञानं तेन सहितमिति सविज्ञानम्। ज्ञानवानयं परिदृश्यते। भो इति आदरपूर्वकं सम्बोधनम्। केन निमित्तेन कृता इति किङ्कृता। न [illegible] न [illegible]। वासः अवस्थानमभिप्रेतः इष्टः।

तपसः धनानि सम्पादकानि साधनानि इति भावः। तीर्थस्य [illegible] जलानि, समिधः पलाशतरोः काष्ठखण्डानि, [illegible] पुष्पाणि, दर्भान् कुशान् [illegible]

धर्मप्रिया नृपसुता न हि धर्मपीडा-
मिच्छेत् तपस्विषु कुलव्रतमेतदस्याः ॥६॥

यौगन्धरायणः—(स्वगतम्)एवम् । एषा सा मगधराजपुत्री पद्मावती नाम या पुष्पक-भद्रादिभिरादेशिकैरादिष्टा स्वामिनो देवी भविष्यतीति । ततः—

प्रद्वेषो बहुमानो वा संकल्पादुपजायते ।
भर्तृ-दाराभिलाषित्वादस्यां मे महती स्वता ॥७॥

वासवदत्ता—(स्वगतम्) राजदारिकेति श्रुत्वा भगिनिकास्नेहोऽपि मेऽत्र संपद्यते । [राअदारिअत्ति सुणिअ भइणिआसिणेहो वि मे एत्थ संपज्जदि ।]

(ततः प्रविशति पद्मावती सपरिवारा चेटी च ।)

चेटी—एत्वेतु भर्तृ-दारिका, इदमाश्रमपदं प्रविशतु । [एदु एदु भट्टिदारिआ, इदं अस्समपदं पविसदु ।]

(ततः प्रविशत्युपविष्टा तापसी ।)

तापसी—स्वागतं राजदारिकायाः । [साअदं राअदारिआए ।]
वासवदत्ता—(स्वगतम्) इयं सा राजदारिका । अभिजनानुरूपं खल्वस्या रूपम् । [इअं सा राअदारिआ । अभिजणाणुरूवं खु से रूवं ।]
पद्मावती—आर्ये ! वन्दे । [अय्ये । वंदामि ।]
तापसी—चिरं जीव । प्रविश जाते ! प्रविश । तपोवनानि नामातिथिजनस्य स्वगेहम् । [चिरं जीव । पविस जादे ! पविस । तवोवणाणि णाम अदिहिजणस्स सअगेहं ।]
पद्मावती—भवतु भवतु । आर्ये विश्वस्तास्मि । अनेन बहुमानवचनेनानुगृहीतास्मि । [भोदु भोदु । अय्ये ! विस्सत्थम्हि । इमिणा बहुमाणवअणेण अणुग्गहिदम्हि ।]
वासवदत्ता—(स्वगतम्) न हि रूपमेव वागपि खल्वस्या मधुरा । [ण हि रूवं एव्व वाआ वि खु से महुरा ।]

यथेच्छं वनादरण्यादुपनयन्तु आनयन्तु भवन्तः । धर्मः प्रियो यस्याः सा तथाभूता नृपसुता राजपुत्री तपस्विपु विषये (विषयश्च सप्तम्यर्थः) धर्मे पीडां बाधां धर्माचरणे व्यवधानमिति यावत् न हि इच्छेत् नैवाभिलषेत् । एतद् धर्माचरणत्वमस्याः पद्मावत्याः कुलव्रतं परम्पराचारो वर्तते । वसन्ततिलका वृत्तम् ।६।

आदेशिकैः दैवज्ञैः । ये वर्तमानभूतभविष्यत्कालिकं कर्म जानन्ति तदाश्रितञ्च शुभाशुभमुद्घाट्य तत्प्रतीकारादींश्चोपदिश्य जीविकां निर्वहन्ति ते दैवज्ञाः । पुष्पकश्च भद्रकश्च (द्वन्द्व) तौ आदी येषां तैः (बहु०) । आदिष्टा (आ+दिश्+क्त) कथिता, प्रदर्शिता, आदेशिक-सम्बन्धात् भविष्यत्पत्नीत्वेनोद्घोपिता इत्यर्थः ।

को जंगल से स्वेच्छापूर्वक लायें। धर्म में रुचि रखने वाली राजपुत्री तपस्वियों में [तपस्वियों के दैनिक धर्माचरण में] बाधा को कदापि नहीं चाहेगी। यह इसका वंश-धर्म है। (६)

यौगन्धरायण—(स्वगत) अच्छा, तो यह है वह मगधराज पुत्री पद्मावती, जिसे [जिसके बारे में] पुष्पक भद्रक आदि ज्योतिषियों ने भविष्यवाणी की थी 'स्वामी की पत्नी होगी'। इसलिए—

अधिक द्वेष [तिरस्कार] अथवा अधिक आदर मन की भावना से उत्पन्न होता है। [यह] स्वामी की पत्नी होवे [इस] इच्छा के कारण इसमें मेरी बड़ी आत्मीयता है। (७)

वासवदत्ता—(स्वगत) 'राजपुत्री' ऐसा सुनकर मुझे इससे बहिन का [सा] स्नेह भी हो रहा है।

(इसके बाद पद्मावती परिजन और चेटी सहित प्रवेश करती है।)

चेटी—आइए, आइए राजकुमारी! यह है आश्रम, अन्दर आइये।

(उसके बाद बैठी हुई तापसी प्रविष्ट होती है।)

तापसी—राजपुत्री का स्वागत है।

वासवदत्ता—(स्वगत) यह है वह राजपुत्री। निश्चय से [उच्च] कुल के अनुरूप ही इसका सौन्दर्य है।

पद्मावती—आर्ये! अभिवादन करती हूँ।

तापसी—चिरजीवी होओ। आओ बेटी, आओ। तपोवन तो अतिथि-जन का अपना ही घर होता है।

पद्मावती—हाँ हाँ। आर्ये! मैं आश्वस्त हुई। [आपके] इस आदर-वचन से मैं अनुगृहीत हुई।

वासवदत्ता—(स्वगत) केवल रूप ही नहीं, इसकी वाणी भी मधुर है।

प्रद्वेषः द्वेषातिशयः, तिरस्कार इति यावत्, बहुमानः अत्यादरः, सङ्कल्पात् (सम्+क्लृप्+घञ्) मनोव्यापारात् 'सङ्कल्पः कर्म मानसम्' इत्यमरः उपजायते उत्पद्यते। भर्तुः स्वामिन उदयनस्य दाराः भार्या भूयात्। 'दार' शब्दः पुंसि बहुवचने च केवलम् "पुंभूम्निदाराः" इत्यमरः एवंरूपेणाभिलापोऽस्यास्तीति भर्तृ-दाराभिलाषी तस्य भावस्तस्मात् भर्तृदाराभिलाषित्वात् स्वामिनः भार्या इयं भूयात् इत्यभिलापस्य इयं विषयः वर्तते, अतः अस्यां पद्मावत्यां मे महती अनल्पा स्वता (स्व+तल्) आत्मीयता वर्तते। पूर्वोक्तसामान्येन उत्तरोक्तविशेषस्य समर्थनात् अर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः। लक्षणमत्रैव चतुर्थपद्ये न्यस्तम्। अनुष्टुप् वृत्तम्।७।

भगिनी एव भगिनिका (स्वार्थे क प्रत्ययः) भगिनीतुल्यः स्नेह इति भगिनिका-स्नेहः स्नेहसामान्यं तु मनुष्यमात्रत्वात् जायत एव राजपुत्रीति कृत्वा विशेषस्नेहो भगिनिकारूपोऽपि भवति इति 'अपि' शब्दार्थः। एतु एतु इत्यनेन मार्गनिदर्शनम्। अभिजनानु-

तापसी—भद्रे ! इमां तावद् भद्रमुखस्य भगिनिकां कश्चिद् राजा न वरयति । [भद्दे ! इमं दाव भद्दमुहस्य भइणिश्रं कोच्चि राश्रा ण वरेदि ।]

चेटी—अस्ति राजा प्रद्योतो नामोज्जयिन्याः । स दारकस्य कारणाद् दूतसंपातं करोति । [अत्थि राश्रा पज्जोदो णाम उज्जइणीए । सो दारश्रस्स कारणादो दूदसम्पादं करेदि ।]

वासवदत्ता—(आत्मगतम्) भवतु भवतु । एषा चात्मीयेदानीं संवृत्ता [भोदु भोदु । एसा अ अत्तणीआ दाणिं संवृत्ता ।]

तापसी—अर्हा खल्वियमाकृतिरस्य बहुमानस्य । उभे राजकुले महत्तरे इति श्रूयते । [अर्हा खु इअं आइदी इमस्स बहुमाणस्स । उभआणि राअउलाणि महत्तराणि त्ति सुणीअदि ।]

पद्मावती—आर्य किं दृष्टो मुनिजन आत्मानमनुग्रहीतुम् ? अभिप्रेतप्रदानेन तपस्विजन उपनिमन्त्र्यतां तावत् कः किमत्रेच्छतीति [अय्य ! किं दिठ्ठो मुणिजणो अत्ताणं अणुग्गहीदुं ? अभिप्पेदप्पदाणेण तवस्सिजणो उवणिमंतीअदु दाव को किं एत्थ इच्छदि त्ति ।]

काञ्चुकीयः—यदभिप्रेतं भवत्या । भो भो आश्रमवासिनस्तपस्विनः! श्रृण्वन्तु श्रृण्वन्तु भवन्त । इहात्रभवती मगधराजपुत्र्यनेन विस्रम्भेणोत्पादितविस्रम्भा धर्मार्थमर्थेनोपनिमन्त्रयते ।

कस्यार्थः कलशेन को मृगयते वासो यथानिश्चितं
　　दीक्षां पारितवान् किमिच्छति पुनर्देयं गुरोर्यद् भवेत् ।
आत्मानुग्रहमिच्छतीह नृपजा धर्माभिरामप्रिया ।
　　यद् यस्यास्ति समीप्सितं वदतु तत्कस्याद्य किं दीयताम् ॥८॥

यौगन्धरायणः—(आत्मगतम्) हन्त दृष्ट उपायः । (प्रकाशम्) भो अहमर्थी ।

रूपम् अभिजायते अस्मिन्निति (अभिजन् घञ्, वृद्ध्यभावः) अन्वयोचितं कुलानुरूपमिति । वाचो माधुर्यं स्वरतो वर्णतो अर्थतश्च ज्ञेयम् । भद्रे इति चेटीं प्रति सम्बोधनम् । दारकस्य कारणात् अनया सह पुत्रस्य विवाहो भूयादिति हेतोः । इयमाकृतिरिदं सौन्दर्ययुक्तं स्वरूपमस्य प्रद्योतपुत्रोद्वाहाभिलापरूपस्य बहुमानस्य अर्हा योग्या । महत्तरे प्रशस्यतरे । अभिप्रेतप्रदानेन अभिलषितार्थस्य वितरणेन हेतुना । उपनिमन्त्र्यताम् (उप + नि + मन्त्र + ताम्, कर्मणि लोट्) आहूयताम् । विस्रम्भेण तपस्विनां प्रणयेन स्नेहेन इति यावत् । "विस्रम्भः स्यात् प्रणयेऽपि च" इत्यमरः । उत्पादितो जनितः विस्रम्भो विश्वासो यस्यां सा "समौ विश्वासविस्रम्भौ" ।

कस्य तपस्विजनस्य कलशेन घटेन अर्थः प्रयोजनम् । कः यथानिश्चितं निश्चयमनतिक्रम्य यथार्थेऽव्ययीभावः, निश्चय एव निश्चितं भावे क्तः । स्वव्रतानुरूपमित्यर्थः,

पद्मावती—दिष्ट्या सफलं मे तपोवनाभिगमनम् ।[दिठ्ठिआ सहलं मे तवोवणाभिगमणं ।]

तापसी—सन्तुष्टतपस्विजनमिदमाश्रमपदम् । आगन्तुकेनानेन भवितव्यम् । [संतुठ्ठतपस्सिजणं इदं अस्समपदं । आअंतुएण इमिणा होदव्वं ।]

काञ्चुकीयः—भोः ! किं क्रियताम् ?

यौगन्धरायणः—इयं मे स्वसा । प्रोषितभर्तृकामिमामिच्छाम्यत्रभवत्या कञ्चित् कालं परिपाल्यमानाम् । कुतः—

कार्यं नैवार्थैर्नापि भोगैर्न वस्त्रै-
नाहं काषायं वृत्तिहेतोः प्रपन्नः ।
धीरा कन्येयं दृष्टधर्मप्रचारा
शक्ता चारित्रं रक्षितुं मे भगिन्याः ॥९॥

वासवदत्ता—(आत्मगतम्) हम् । इह मां निक्षेप्तुकाम आर्ययौगन्धरायणः । भवतु, अविचार्य क्रमं न करिष्यति । (आत्मगतम्) [हं । इह मं णिक्खिविदुकामो अय्ययोगंधरायणो । होदु अविआरिअ कमं ण करिस्सदि ।]

काञ्चुकीयः—भवति ! महती खल्वस्य व्यपाश्रयणा । कथं प्रतिजानीमः? कुतः—

सुखमर्थो भवेद् दातुं सुखं प्राणाः सुखं तपः ।
सुखमन्यद् भवेद् सर्वं दुःखं न्यासस्य रक्षणम् ॥१०॥

पद्मावती—आर्य ! प्रथममुद्घोष्य कः किमिच्छतीत्ययुक्तमिदानीं विचारयितुम् । यदेष भणति तदनुतिष्ठत्वार्यः । [अय्य पढमं उग्घोसिअ को किं इच्छदित्ति अजुत्तं दाणिं विआरिदुं । जं एसो भणादि तं अणुचिठ्ठदु अय्यो ।]

सुलभवन्यपदार्थोपभोगेन तृप्ता अत एव निःस्पृहाः तपस्विजना यस्मिन् तादृशमिदमाश्रमपदं स्थानम् । स्वसा भगिनी । प्रोषितः (प्र + वस् + क्त) प्र दूरे उषितः स्थितः भर्त्ता यस्यास्ताम् । "नानाकार्यवशाद्यस्या दूरदेशं गतः पतिः । सा मनोभवदुःखार्त्ता भवेत् प्रोषितभर्तृका ।।" साहित्यदर्पण ३-८४ । भर्तृका "नद्यृतश्च" ५-४-१५३ इत्यनेन कप् ततश्च स्त्रियां टाप् । कालम् "कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे" २-३-५ इत्यनेन परिपालनक्रियया सह निरन्तर-संयोगे द्वितीया । परिपाल्यमानाम् (परि+पाल्+णिच्+शानच्, कर्मणि) परिरक्ष्यमाणाम् ।

अर्थैः धनैः कार्यं प्रयोजनं नैव वर्तते । भोगैर्भोग्यार्हैर्वस्तुभिरपि न प्रयोजनम् । वस्त्रैरपि न प्रयोजनम्, सर्वत्रापि 'हेतौ' इत्यनेन तृतीया । वृत्तिहेतोः आजीविकार्थमहं कापायं कपायवर्णयुक्तं वस्त्रं मार्जिष्ठमिनि यावत् कपायेण रक्तं वस्त्रमिति कापायम् "तेन रक्तं रागात्" ४-२-१ इत्यनेन अण्, रज्यते अनने इति रागः(रञ्ज+घञ्) ।

पद्मावती—सौभाग्य से मेरा तपोवन में आना सफल हुआ।

तापसी—यहां आश्रम में संतोषी तपस्वीजन रहते हैं। अवश्य यह आगन्तुक होगा।

काञ्चुकीय—श्रीमन् ! [आप के लिये] क्या किया जाय ?

यौगन्धरायण—यह मेरी वहिन है। इसके पति दूर देश गये हैं, कुछ समय तक आप देवी इसका संरक्षण करें—मैं [इतना मात्र] चाहता हूँ। क्योंकि—

वन से मुझे काम नहीं, न भोगों से और न वस्त्रों से [मुझे प्रयोजन है]। मैं आजीविका के लिए काषायवस्त्रधारी नहीं हुआ। बुद्धिमती, धर्म की गति को समझने वाली यह कन्या मेरी वहिन के चरित्र की रक्षा करने में समर्थ है। (९)

वासवदत्ता—(स्वगत) अच्छा ! आर्य यौगन्धरायण मुझे यहाँ छोड़ना [धरोहर रखना] चाहते हैं। ठीक है ! विना सोचे [ये] कार्य नहीं करेंगे।

काञ्चुकीय—देवी ! इसकी चाहना वहुत वड़ी है। कैसे हामी भरें ? क्योंकि—

धन देना सरल है, प्राणों [का देना] आसान है, तप [के फल को देना सरल है] अन्य सब कुछ [देना] सरल है, [परन्तु] धरोहर की रक्षा करना कठिन है। (१०)

पद्मावती—आर्य ! पहले घोषणा करके "कौन क्या चाहता है" अव विचार करना ठीक नहीं। जो यह कहता है, उसे आर्य पूरा करें।

न प्रपन्नः न स्वीकृतवान् (प्र+पद्+क्त)। धीरा पण्डिता "धीरो मनीषी ज्ञः प्राज्ञः संख्यावान् पण्डितः कविः" इत्यमरः। दृष्टः अवगतः धर्मस्य प्रचारो विस्तारो गतिरिति यावत् यया सा, अथवा दृष्टः धर्मप्रचारो धर्माचरणं यस्याः सा (बहु०)। इयं कन्या पद्मावती मे भगिन्याः मम स्वसुः चारित्रं शीलम् चर्यते अनेन इति विग्रहे "अर्तिलूधू०" ३-२-१८४ इत्यनेन चरतेः 'इत्र' प्रत्यये चरित्रशब्दः, ततश्च स्वार्थे अणि कृते चरित्रमेव चारित्रम्। रक्षितुं शक्ता समर्था वर्तते इति शेषः वैश्वदेवी छन्दः।९।

हम् इति विषादे अव्ययम्। निक्षेप्तुं न्यासत्वेन अर्पयितुम् कामोऽभिलाषो यस्य सः। क्रमम् विधानम् "कल्पे विधिक्रमौ" इत्यमरः। व्यपाश्रयणा (वि+अप् आ+श्रि+णिच्+युच्, भावे) अभ्यर्थना। प्रतिजानीमः प्रतिश्रृणमः।

अर्थः द्रव्यं दातुमर्पयितुं सुखं यथा स्यात्तथा भवेत्। प्राणाः अपि दातुं सुखं भवेयुः, तपः तपश्चरणस्य फलमित्यर्थः, इत्यपि दातुं सुखम्। अन्यत् सर्वमपि दातुं सुखं शक्यं, किन्तु न्यासस्य निक्षेपस्य रक्षणं परिपालनं दुःखं कष्टसाध्यं भवतीत्यर्थः। अनुष्टुप् वृत्तम्।१०।

उद्घोष्य (उद्+घुष्+णिच्+ल्यप्) घोषणां कृत्वा। विचारयितुम् इदमस्माभिः निष्पादयितुं शक्यं न वा इति चिन्तयितुम्। अनुरूपं योग्यम्। रूपं स्वकीय-

काञ्चुकीयः—अनुरूपमेतद्भवत्याभिहितम् ।
चेटी—चिरं जीवतु भर्तृ-दारिकैवं सत्यवादिनी। [चिरं जीवदु भट्टिदारिआ एवं सच्च-वादिणी ।]
तापसी—चिरं जीवतु भद्रे !। [चिरं जीवदु भद्दे !]
काञ्चुकीयः—भवति तथा। (उपगम्य) भोः ! अभ्युपगतमत्रभवतो भगिन्याः परि-पालनमत्रभवत्या ।
यौगन्धरायणः—अनुगृहीतोऽस्म्यत्रभवत्या। वत्से ! उपसर्पात्रभवतीम् ।
वासवदत्ता—(आत्मगतम्) का गतिः ? एषा गच्छामि मन्दभागा। [का गई ? एसा गच्छामि मंदभाआ ।]
पद्मावती—भवतु भवतु । आर्यात्मीयेदानीं संवृत्ता । [भोदु भोदु । अय्या अत्तणीआ दाणिं संवुत्ता ।]
तापसी—यदीदृश्यस्या आकृतिरियमपि राजदारिकेति तर्कयामि । [जा ईदिसी से आइदी इय वि राअदारिअत्ति तक्केमि ।]
चेटी—सुष्ठु आर्या भणति । अहमप्यनुभूतसुखेति पश्यामि । [सुठ्ठु अय्या भणादि । अहं वि अणुहूदसुहत्ति पेक्खामि ।]
यौगन्धरायणः—(आत्मगतम्) हन्त भोः ! अर्धमवसितं भारस्य । यथा मन्त्रिभिः सह समर्थितं तथा परिणमति । ततः प्रतिष्ठिते स्वामिनि तत्रभवतीमुपनयतो मे इहात्रभवती मगधराजपुत्री विश्वासस्थानं भविष्यति । कुतः—

पद्मावती नरपतेर्महिषी भवित्री
दृष्टा विपत्तिरथ यैः प्रथमं प्रदिष्टा ।
तत्प्रत्ययात् कृतमिदं न हि सिद्धवाक्या-
न्युत्क्रम्य गच्छति विधिः सुपरीक्षितानि ॥११॥

(ततः प्रविशति ब्रह्मचारी ।)

ब्रह्मचारी—(ऊर्ध्वमवलोक्य) स्थितो मध्याह्नः । दृढमस्मि परिश्रान्तः । अथ कस्मिन् प्रदेशे विश्रमयिष्ये ? (परिक्रम्य) भवतु, दृष्टम् । अभितस्तपोवनेनानेन भवितव्यम् । तथाहि—

मुदारादिगुणयुक्त स्वभावमनतिक्रम्य इत्यर्थः । तथा इत्यस्य बलेन यथा भवत्या आदिष्टमित्यस्याक्षेपः तथा निष्पादयामि इति सम्बन्धः । अभ्युपगतं स्वीकृतम् । पद्मावतीमुपसर्पन्त्याः वासवदत्तायाः अभ्युपगमः, भवतु भवतु आदरेण द्विरुक्तिः । अनुभूतं सुखं यया सा अनुभूतसुखा । पश्यामि तर्कयामि । हन्त भोः ! इति हर्षे । अवसितं समाप्तम् । समर्थितं निर्णीतम् । परिणमति फलति । विश्वासस्य प्रत्ययस्य स्थान-मधिष्ठानं विश्वासहेतुः साक्षिणी इत्यर्थः भविष्यति ।

पद्मावती मगधराजपुत्री नरपतेः राज्ञः उदयनस्य महिषी कृताभिषेका पत्नी

काञ्चुकीय—यह आपने [अपने] अनुरूप ही कहा।

चेटी—ऐसी सत्य बोलने वाली राजपुत्री चिरजीवी हों।

तापसी—कल्याणी ! चिरजीवी होओ।

काञ्चुकीय—देवी ! वैसा [ही करता हूँ जैसा आपने कहा]। [यौगन्धारायण के] (पास जाकर) श्रीमन् ! राजपुत्री ने आप की बहिन का संरक्षण स्वीकार कर लिया।

यौगन्धरायण—राजपुत्री के द्वारा मैं अनुगृहीत हुआ। चेटी ! देवी के पास जाओ।

वासवदत्ता—(स्वगत) और क्या चारा है ? यह जाती हूँ अभागिनी।

पद्मावती— आओ, आओ। आर्या अब अपनी हो गई हैं।

तापसी—इसकी जो यह ऐसी सूरत है, इससे सोचती हूँ यह भी राजपुत्री है।

चेटी—आर्या ठीक कहती है। मुझे भी लगता है कि इसने सुख भोगे हैं।

यौगन्धरायण—(स्वगत) अहा। [कार्य] भार का आधा भाग सम्पन्न हुआ। जैसा मन्त्रियों के साथ निर्णय किया था वैसा ही फल रहा है। बाद में स्वामी के सत्तारूढ होने पर, देवी [वासवदत्ता] को [महाराज के] समीप ले जाते हुए, मेरे लिए इस [वास० की शील-शुद्धि के] विषय में देवी मगधराजपुत्री विश्वसनीय [साक्षी] होगी। क्योंकि—

"पद्मावती राजा की पत्नी होगी" जिन [सिद्ध पुरुषों ने] विपत्ति [पराजय] पहले घोषित की, [और] बाद में [हम सब ने वह पूर्वघोषित पराजय सत्य होते हुए] देखी। उन [सिद्ध पुरुषों] में विश्वास के कारण यह किया है। भली प्रकार जांचे गये सिद्ध पुरुषों के वाक्यों का उल्लंघन कर के भाग्य भी नहीं चलता है। (११)

(इसके बाद ब्रह्मचारी प्रवेश करता है।)

ब्रह्मचारी—(ऊपर देखकर) दोपहर हो गई है। अत्यन्त थक गया हूँ। किस स्थान पर विश्राम करूँ ? (घूम कर) अच्छा, जाना यहाँ चारों ओर यह तपोवन होना चाहिए। क्योंकि—

"कृताभिषेका महिषी" इत्यमरः, भवित्री भविष्यति भविष्यदर्थे तृच् ततश्च ऋदन्तत्वात् ङीप् यैः दैवज्ञैः विपत्तिः (वि+पद्+क्तिन्) आपत्तिः राज्यस्खलनरूपा इत्यर्थः प्रथमं पूर्वं प्रदिष्टा भविष्यत्त्वेनोद्घोषिता। अथ पश्चात् अस्माभिः सत्यत्वेन परिणता सा विपत्तिः दृष्टा प्रत्यक्षं दृष्टा। तत् प्रत्ययात् तेषु दैवज्ञेषु विश्वासात् (हेतौ पञ्चमी) इदं वासवदत्तायाः पद्मावत्या हस्ते निक्षेपरूपं कार्यं कृतम्। हि निश्चयेन सुपरीक्षितानि (परि+ईक्ष+क्त) सम्यक् विवेचितानि सिद्धानां दैवज्ञानां वाक्यानि कथितानि उत्क्रम्य (उद्+क्रम्+ल्यप्) उल्लङ्घ्य विधिः भागधेयं न गच्छति सर्वथैव तदनुसार्येव तद्भवतीत्यर्थः। अर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः। वृत्तं वसन्ततिलका।११।

मध्याह्नः मध्यमह्नः इति मध्याह्नः "अह्नोऽह्न एतेभ्यः" ५-४-८८ इत्यनेन

विस्रब्धं हरिणाश्चरन्त्यचकिता देशागतप्रत्यया
वृक्षाः पुष्पफलैः समृद्धविटपाः सर्वे दयारक्षिताः ।
भूयिष्ठं कपिलानि गोकुलधनान्यक्षेत्रवत्यो दिशो
निःसंदिग्धमिदं तपोवनमयं धूमो हि बह्वाश्रयः ॥१२॥

यावत् प्रविशामि । (प्रविश्य) अये ! आश्रमविरुद्धः खल्वेष जनः । (अन्यतो विलोक्य) अथवा तपस्विजनोऽप्यत्र । निर्दोषमुपसर्पणम् । अये ! स्त्रीजनः ।

काञ्चुकीयः—स्वैरं स्वैरं प्रविशतु भवान् । सर्वजनसाधारणमाश्रमपदं नाम ।

वासवदत्ता—हम् । [हं ।]

पद्मावती—अम्मो! परपुरुषदर्शनं परिहरत्यार्या । भवतु, सुपरिपालनीयः खलु मन्न्यासः । [अम्मो ! परपुरुसदंसणं परिहरदि अय्या । भोदु । सुपरिवालणीओ खु मण्णासो ।]

काञ्चुकीयः—भोः ! पूर्वं प्रविष्टाः स्मः प्रतिगृह्यतामतिथिसत्कारः ।

ब्रह्मचारी—(आचम्य) भवतु भवतु । निवृत्तपरिश्रमोऽस्मि ।

यौगन्धरायणः—भोः ! कुत आगम्यते, क्व गन्तव्यम्, क्वाधिष्ठानमार्यस्य ?

ब्रह्मचारी—भोः ! श्रूयताम् । राजगृहतोऽस्मि । श्रुतिविशेषणार्थं वत्सभूमौ लावाणकं नाम ग्रामस्तत्रोषितवानस्मि ।

वासवदत्ता—(आत्मगतम्) हा ! लावाणकं नाम । लावाणकसंकीर्तनेन पुनर्नवीकृत इव मे संतापः [हा ळावाणअं णाम । ळावाणअसंकित्तणेण पुणा णवीकिदो विअ मे संदावो ।]

अहन् शब्दस्य 'अह्न' आदेशः, "राजाहःसखिभ्यष्टच्" इत्यनेन समासान्तः 'टच्' प्रत्ययः, "रात्राह्नाहाः पुंसि" इत्यनेन पुंस्त्वम् । स्थितः सञ्जातः । दृढमतीव । विश्रमयिष्ये खेदपरिहारं करिष्ये (वि+श्रम्+णिच् स्वार्थे+लृट्) । अभितः उभयतः समन्तात् इत्यर्थः "समीपोभयतः शीघ्रसाकल्याभिमुखेऽभितः" इत्यमरः । भवितव्यम् (भू+तव्य)।

देशागतप्रत्ययाः देशे प्रदेशविषये आगतः प्राप्तः प्रत्ययः विश्वासो येषां ते, अत एव अचकिताः (चक्+क्त+जस्) भयरहिताः हरिणाः मृगाः विस्रब्धं निःशङ्कं यथा स्यात्तथा चरन्ति इतस्ततः परिभ्रमन्ति अत्रेतिशेषः । सर्वे वृक्षाः पुष्पैः फलैश्च समृद्धाः सम्पन्ना विटपाः शाखा येषां ते तथाभूता अपि च दयया अनुकम्पया रक्षिताः सन्तीति शेषः । कपिलानि पिङ्गलवर्णानि गोकुलधनानि गवां धेनूनां कुलानि यूथानि तानि धनानीव "उपमितं व्याघ्रादिभिः" इत्यनेन उपमितसमासः । भूयिष्ठम्

[आस-पास के] स्थान के बारे में जिन्हें भरोसा [प्राप्त] है ऐसे, भय-रहित हरिण निःशंक [इधर-उधर] घूम रहे हैं। [यहाँ] सभी पेड़ फल-फूलों से समृद्ध शाखाओं वाले [और] अनुकम्पा से संरक्षित हैं। कपिला गो-धन बहुतायत से है। दिशाएँ [दिक्-प्रदेश] खेती वाली नहीं हैं। निःसन्देह यह तपोवन है, क्योंकि यह धुआँ बहुत आश्रय वाला है। [सभी तपस्वियों की कुटियों से यज्ञीय अग्नि का धुआँ उठ रहा है।] (१२)

चलो प्रविष्ट होता हूँ। (प्रवेश करके) अरे! आश्रम में असम्भावित यह व्यक्ति है। (दूसरी ओर देखकर) अथवा तपस्वी लोग भी यहाँ हैं। तो आगे चलने में कोई दोष नहीं। अरे! स्त्रियाँ।

काञ्चुकीय—स्वेच्छापूर्वक, बिना झिझके आप आइए। आश्रम-स्थान तो सभी के लिए बराबर होता है।

वासवदत्ता—हूँ।

पद्मावती—अहो! आर्या [वासवदत्ता] पर-पुरुष-दर्शन से बचती है। ठीक है, मेरी धरोहर सरलता से रक्षणीय है।

काञ्चुकीय—श्रीमन्! हम [यहाँ] पहले प्रविष्ट हुए हैं। [अतः हमसे] अतिथि-सत्कार ग्रहण कीजिए।

ब्रह्मचारी—(आचमन करके) बस, बस। थकावट दूर हो गई।

यौगन्धरायण—श्रीमन्! कहाँ से आ रहे हैं? कहाँ जाना है? कहाँ आर्य का निवास है?

ब्रह्मचारी—श्रीमन्! सुनिये, राजगृहवासी हूँ [राजगृह से हूँ]! वेद के विशेष [ज्ञान] के लिए, वत्सराज्य में लावाणक नामक गाँव है वहाँ रहता था।

वासवदत्ता—(स्वगत) हाय! 'लावाणक' नामक। 'लावाणक' नाम लेने से ही मेरा दुःख पुनः नया सा हो गया है।

(बहु [भू]+यिट्+इष्ठन्) "बहोर्लोपो भू च बहोः" इत्यनेन भू आदेशः "इष्ठस्य यिट् च" इत्यनेन यिडागमः। बाहुल्येन दृश्यन्ते इति शेषः। "कडारः कपिलः पिङ्ग-पिशङ्गौ" इत्यमरः। दिशः ककुभः प्रदेशा इत्यर्थः अक्षेत्रवत्यः न क्षेत्रवत्यः क्षेत्रपरिहीनाः सन्तीति शेषः। प्रान्तभूमिषु कृषियोग्यानां क्षेत्राणां केदाराणामभावः वर्तते। ग्रामो यदि भवेत् क्षेत्राण्यपि स्युः आश्रमवासिनस्तु यत् किञ्चित् सस्यं स्वयमेवोत्पद्यते तदेव भक्षयन्ति, ग्रामीणास्तु क्षेत्रेषु बीजावापं कृत्वा जीविकां कुर्वन्तीत्यर्थः। इदं पुरो दृश्य-मानं निःसंदिग्धं सन्देहरहितं सुनिश्चितमिति यावत्, तपोवनं वर्तते इति शेषः। हि निश्चयेन अयं दृश्यमानो धूमो बह्वाश्रयः बहवः आश्रया उत्पत्तिस्थानानि यस्य सः तथाभूतो वर्तते। अस्य धूमस्य बहुस्थानेभ्यः उद्गमो दृश्यते, स्थाने-स्थाने यज्ञस्य माध्यन्दिनाग्निकार्यस्य प्रारम्भोऽनेन सूच्यते। यत्र तत्र यज्ञप्रवर्तनाच्च इदं तपोवन-मिति सुनिश्चितमिति भावः। अनुमानालंकारः। वृत्तं शार्दूलविक्रीडितम्। (१२)

यौगन्धरायणः—अथ परिसमाप्ता विद्या ?

ब्रह्मचारी—न खलु तावत् ।

यौगन्धरायणः—यद्यनवसिता विद्या किमागमनप्रयोजनम् ?

ब्रह्मचारी—तत्र खल्वतिदारुणं व्यसनं संवृत्तम् ।

यौगन्धरायणः—कथमिव ।

ब्रह्मचारी—तत्रोदयनो नाम राजा प्रतिवसति ।

यौगन्धरायणः—श्रूयते तत्रभवानुदयनः । किं सः ?

ब्रह्मचारी—तस्यावन्तिराजपुत्री वासवदत्ता नाम पत्नी दृढमभिप्रेता किल ।

यौगन्धरायणः—भवितव्यम् । ततस्ततः ?

ब्रह्मचारी—ततस्तस्मिन् मृगयानिष्क्रान्ते राजनि ग्रामदाहेन सा दग्धा ।

वासवदत्ता—(आत्मगतम्) अलीकमलीकं खल्वेतत् । जीवामि मन्दभागा ।
[अलिअं अलिअं खु एदं । जीवामि मन्दभाआ ।]

यौगन्धरायणः—ततस्ततः ?

ब्रह्मचारी—ततस्तामभ्यवपत्तुकामो यौगन्धरायणो नाम सचिवस्तस्मिन्नेवाग्नौ पतितः ।

यौगन्धरायणः—सत्यं पतित इति । ततस्ततः ?

ब्रह्मचारी—ततः प्रतिनिवृत्तो राजा तद्वृत्तान्तं श्रुत्वा तयोर्वियोगजनितसंतापस्तस्मिन्नेवाग्नौ प्राणान् परित्यक्तुकामोऽमात्यैर्महता यत्नेन वारितः ।

वासवदत्ता—[आत्मगतम्] जानामि जानाम्यार्यपुत्रस्य मयि सानुक्रोशत्वम्[जाणामि जाणामि अय्यउत्तस्स मई साणुक्कोसत्तं ।]

यौगन्धरायणः—ततस्ततः ?

ब्रह्मचारी—ततस्तस्याः शरीरोपभुक्तानि दग्धशेषाण्याभरणानि परिष्वज्य राजा मोहमुपगतः ।

सर्वे—हा !

वासवदत्ता—(स्वगतम्) सकाम इदानीमार्ययौगन्धरायणो भवतु । [सकामो दाणि अय्यजोअंधराअणो होदु ।]

चेटी—भर्तृदारिके ! रोदिति खल्वियमार्या [भट्टिदारिए ! रोदिदि खु इअं अय्या]।

पद्मावती—सानुक्रोशया भवितव्यम् । [साणुक्कोसाए होदव्वं ।]

उपसर्पणे प्रवेशे दोषो नास्ति । स्वैरं स्वच्छन्दम् अशंकितं वा । सर्वेषां जनानां कृते साधारणं सामान्यं वैशिष्ट्यरहितं प्रवेशयोग्यमिति भावः, आश्रमस्थानम् । हम् अस्वीकृतौ उक्तिः । अधिष्ठानं निवासः । श्रुतौ आम्नाये विशेषणं वैशिष्ट्यं तदर्थम् ।

यौगन्धरायण— क्या अध्ययन समाप्त कर लिया ?

ब्रह्मचारी—नहीं तो ।

यौगन्धरायण—यदि विद्या समाप्त नहीं की, तो [बीच में] चले आने का क्या कारण है ?

ब्रह्मचारी—वहाँ बड़ा घोर दुःख हुआ है ।

यौगन्धरायण—कैसे ?

ब्रह्मचारी—वहाँ उदयन नाम का राजा रहता था ।

यौगन्धरायण—हाँ, सुना है महाराज उदयन हैं । उन्हें क्या हुआ ?

ब्रह्मचारी—अवन्तिराजपुत्री वासवदत्ता-नामक पत्नी निश्चय से उन्हें बहुत प्रिय थी ।

यौगन्धरायण—होनी चाहिए । फिर क्या हुआ ?

ब्रह्मचारी—फिर उस राजा के शिकार के लिए निकल जाने पर गाँव में आग लग जाने से वह जल गई ।

वासवदत्ता—(स्वगत) झूठ है, यह बिलकुल झूठ है । मैं अभागिन जीवित हूँ ।

यौगन्धरायण—फिर, फिर क्या हुआ ?

ब्रह्मचारी—उसके बाद, उसे बचाना चाहता हुआ यौगन्धरायण-नामक सचिव उसी आग में गिर पड़ा ।

यौगन्धरायण—सचमुच गिर गया । उसके बाद ?

ब्रह्मचारी—उसके बाद [शिकार से] लौटा हुआ, उस वृत्तान्त को सुनकर उनके वियोग से उत्पन्न संताप वाला, उसी आग में प्राणों को त्यागना चाहता हुआ राजा, मन्त्रियों से बड़े प्रयत्न से रोका गया ।

वासवदत्ता—(स्वगत) आर्यपुत्र की मुझ पर जो अनुकम्पा है, उसे मैं अच्छी तरह जानती हूँ ।

यौगन्धरायण—फिर उसके बाद ?

ब्रह्मचारी—उसके बाद उसके शरीर पर पहने हुए [भोगे हुए] जलने से बचे आभूषणों का आलिङ्गन करके राजा मूर्च्छित हो गया ।

सभी—हाय !

वासवदत्ता—(स्वगत) अब आर्य यौगन्धरायण पूर्ण-काम होवें ।

चेटी—राजकुमारी ! यह देवी तो रो रही हैं ।

पद्मावती—दयालु स्वभाव की होंगी ।

अनवसिता अपरिसमाप्ता । अतिदारुणमतिघोरम् । व्यसनम् (वि + अस् + ल्युट्) दुःखम् । अवसितकामः परिसमाप्तकामः । सानुक्रोशत्वम् अनुक्रोशोऽनुकम्पा तया सहितः सानुक्रोशस्तस्य भावः । दग्धशेषाणि दग्धानि ततः शेषाणि अवशिष्टानि

यौगन्धरायणः—अथ किमय किम् । प्रकृत्या सानुक्रोशा मे भगिनी ततस्ततः ?

ब्रह्मचारी—ततः शनैः शनैः प्रतिलब्धसंज्ञः संवृत्तः ।

पद्मावती—दिष्ट्या ध्रियते । मोहं गत इति श्रुत्वा शून्यमिव मे हृदयम् ।
[दिट्ठिआ धरइ । मोहं गदो त्ति सुणिअ सुण्णं विअ मे हिअअं ।]

यौगन्धरायणः—ततस्ततः ?

ब्रह्मचारी—ततः स राजा महीतलपरिसर्पणपांसुपाटलशरीरः सहसोत्थाय 'हा वासवदत्ते ! हा अवन्तिराजपुत्रि ! हा प्रिये ! हा प्रियशिष्ये !' इति किमपि बहु प्रलपितवान् । किं बहुना—

> नैवेदानीं तादृशाश्चक्रवाका
> नैवाप्यन्ये स्त्रीविशेषैर्वियुक्ताः ।
> धन्या सा स्त्री यां यथा वेत्ति भर्ता
> भर्तृ-स्नेहात् सा हि दग्धाप्यदग्धा ॥१३॥

यौगन्धरायणः—अथ भोः ! तं तु पर्यवस्थापयितुं न कश्चिद्यत्नवानमात्यः ?

ब्रह्मचारी—अस्ति रुमण्वान्नामामात्यो दृढं प्रयत्नवांस्तत्रभवन्तं पर्यवस्थापयितुम् । स हि—

> अनाहारे तुल्यः प्रततरुदितक्षामवदनः
> शरीरे संस्कारं नृपतिसमदुःखं परिवहन् ।
> दिवा वा रात्रौ वा परिचरति यत्नैर्नरपतिं
> नृपः प्राणान् सद्यस्त्यजति यदि तस्याप्युपरमः ॥१६॥

अर्धदग्धानि वह्निना विकृतानि इति यावत् । ध्रियते अवतिष्ठते ।

महीतले भूतले परिसर्पणेन अवलुण्ठनेन पांसुभिः धूलिभिः पाटलं श्वेतमिश्रं रक्तं 'गुलाबी' इति भाषायाम्, शरीरं यस्य सः । धूलिधूसरितगात्रः इत्यर्थः ।

इदानीं उदयनदुःखावस्थायां चक्रवाकाः कोकाः पक्षिविशेषाः तादृशाः उदयन-सदृशा दुःखयुक्ताः नैव वर्तन्ते । विरहदुःखावस्थायामसौ विरहदुःखप्रसिद्धान् चक्रवाका-नप्यतिशेते । स्त्रीविशेषैः स्त्रीरत्नैः सौन्दर्यादिगुणसम्पदा विशिष्टैः स्त्रीभिर्वियुक्ताः विरहिताः अन्येऽपि इतिहासपुराणप्रसिद्धा जनास्तादृशा नैव वर्तन्ते । तानपि दुःखे असौ अतिशेते इति भावः । सा स्त्री धन्या सुभगा यां तथा तादृशरूपेण भर्ता वेत्ति स्मरति । हि निश्चयेन भर्तुः पत्युः स्नेहात् प्रणयात् हेतोः दग्धा अपि अदग्धा मृता अपि अमृता एव । विरोधाभासोऽलङ्कारः । शालिनी वृत्तम् ॥१३॥

पर्यवस्थापयितुम् (परि + अव + स्था + णिच् + तुमुन्) प्रकृतौ स्थापयितुम् ।

यौगन्धरायण—हाँ, सचमुच। मेरी बहिन स्वभाव से दयालु है। फिर, फिर [क्या हुआ] ?

ब्रह्मचारी—उसके बाद धीरे-धीरे राजा सचेत हुआ।

पद्मावती—भाग्य से जीवित है। अचेत हो गया—यह सुनकर मेरा हृदय सूना-सा हो गया था।

यौगन्धरायण—फिर, फिर ?

ब्रह्मचारी—फिर भूतल पर लोटने से धूल से भूरे शरीर वाले उस राजा ने एकाएक उठकर 'हाय वासवदत्ता ! हाय अवन्तिराजपुत्री ! हाय प्रिये ! हाय प्रियशिष्ये !' ऐसा बहुत कुछ प्रलाप किया। अधिक क्या कहूँ—

इस [दुःखी] अवस्था में न तो चकवे ही वैसे हैं और न ही विशिष्ट स्त्रियों [स्त्रीरत्नों] से वियुक्त कोई और [वैसे विरह शोकाकुल हैं]। वह स्त्री धन्य है, जिसे पति उस [उपर्युक्त] प्रकार से याद करता है। पति-प्रेम के कारण निश्चय से वह जल कर भी नहीं जली है। (१३)

यौगन्धरायण—अच्छा महोदय ! उसे [राजा को] प्रकृतिस्थ करने के लिए कोई मन्त्री प्रयत्नवान् नहीं है ?

ब्रह्मचारी—रुमण्वान्-नामक मन्त्री महाराज को स्थिर करने में अत्यधिक प्रयत्नशील है। वह तो—

भोजन न करने में [राजा के] समान है [राजा के भोजन न करने पर स्वयं भी नहीं करता], निरन्तर रोने से [उसका भी] मुंह सूख गया है। राजा के समान दुःख-पूर्वक शरीर में संस्कार [स्नानादि] को धारण करता हुआ, दिन हो या रात राजा की प्रयत्नपूर्वक परिचर्या करता है। यदि राजा प्राणों को छोड़ देवे [दुःसह दुःख के कारण तो] उसका भी तुरन्त प्राणान्त हो जाय। (१४)

स हि रुमण्वान् अनाहारे अनशने तुल्यः उदयनसदृशः। यथा राज्ञः दुःखितस्य भोजनेऽरुचिः तथैव तस्यापि तद्दुःखदुःखितस्य भोजने अरुचिः। प्रततं सततं यथा स्यात्तथा रुदितेन रोदनेन क्षामं क्षीणं निष्प्रभमित्यर्थः वदनं मुखं यस्य स तादृशः। रुदितम् भावे क्तः, क्षामम् क्तप्रत्ययान्तस्य क्षैधातोः "क्षायो मः" ८-२-५३ इत्यनेन मत्वे रूपम्। नृपतिसमदुःखं नृपतिना राज्ञा समं सदृशं दुःखपूर्वकं यथा स्यात्तथा (क्रियाविशेषणमिदम्) नृपतिरिव दुःखेन इति भावः, शरीरे देहे संस्कारं स्नानवस्त्रादिकं परिवहन् धारयन्। यत्नैः प्रयत्नैः दिवा वा रात्रौ वा अहर्निशं नरपतिं भूपतिं परिचरति परिषेवते। यदि नृपः उदयनः प्राणान् असून् त्यजति जहाति तदा तस्य रुमण्वतः अपि सद्यः सपदि उपरमः मृत्युः भविष्यतीति शेषः। स तु सर्वात्मनैव राजानमनुसरति इति भावः। शिखरिणी वृत्तम् ॥४॥

वासवदत्ता—(स्वगतम्) दिष्ट्या सुनिक्षिप्त इदानीमार्यपुत्रः । [दिट्ठिआ सुणिक्खित्तो दाणिं अय्यउत्तो ।]

यौगन्धरायणः—(आत्मगतम्) अहो महद्भारमुद्वहति रुमण्वान् । कुतः—

> सविश्रमो ह्ययं भारः प्रसक्तस्तस्य तु श्रमः ।
> तस्मिन् सर्वमधीनं हि यत्राधीनो नराधिपः ॥१५॥

(प्रकाशम्) अथ भोः ! पर्यवस्थापित इदानीं स राजा ।

ब्रह्मचारी—तदिदानीं न जाने । इह तया सह हसितम्, इह तया सह कथितम्, इह तया सह पर्युषितम्, इह तया सह कुपितम्, इह तया सह शयितम्, इत्येवं विलपन्तं तं राजानममात्यैर्महता यत्नेन तस्माद् ग्रामाद् गृहीत्वापक्रान्तम् । ततो निष्क्रान्ते राजनि प्रोषितनक्षत्रचन्द्रमिव नभोऽरमणीयः संवृत्तः स ग्रामः । ततोऽहमपि निर्गतोऽस्मि ।

तापसी—स खलु गुणवान् नाम राजा य आगन्तुकेनाप्यनेनैवं प्रशस्यते । [सो खु गुणवंतो णाम राआ जो आअंतुएण वि इमिणा एव्वं पसंसीअदि ।]

चेटी—भर्तृदारिके ! किं नु खल्वपरा स्त्री तस्य हस्तं गमिष्यति ? [भट्टिदारिए ! किं नु खु अवरा इत्थिआ तस्स हत्थं गमिस्सदि ?]

पद्मावती—(आत्मगतम्) मम हृदयेनैव सह मन्त्रितम् । [मम हिअएण एव्व सह मंतिदं ।]

ब्रह्मचारी—आपृच्छामि भवन्तौ । गच्छामस्तावत् ।

उभौ—गम्यतामर्थसिद्धये ।

ब्रह्मचारी—तथास्तु । [निष्क्रान्तः ।]

यौगन्धरायणः—साधु । अहमपि तत्रभवत्याभ्यनुज्ञातो गन्तुमिच्छामि ।

काञ्चुकीयः—तत्रभवत्याभ्यनुज्ञातो गन्तुमिच्छति किल ।

पद्मावती—आर्यस्य भगिनिकार्येण विनोत्कण्ठिष्यते । [अय्यस्स भइणिआ अय्येण विना उक्कंठिस्सदि ।]

यौगन्धरायणः—साधुजनहस्तगतैषा नोत्कण्ठिष्यते । (काञ्चुकीयमवलोक्य) गच्छामस्तावत् ।

काञ्चुकीयः—गच्छतु भवान् पुनर्दर्शनाय ।

यौगन्धरायणः—तथास्तु । [निष्क्रान्तः ।]

सुनिक्षिप्तः समुचितस्थाने न्यस्तः ।

हि निश्चयेन अयं भारः मया धृतः भारः सविश्रमः विश्रान्त्या सहित एव वर्तते । तस्य रुमण्वतस्तु श्रमः प्रसक्तः सततः, न क्षणमपि विश्रमः तत्र

वासवदत्ता—(स्वगत) सौभाग्य से अब आर्यपुत्र समुचित [हाथों में] अवस्थित हैं।
यौगन्धरायण—(स्वगत) अहो रुमण्वान् बहुत बड़े बोझ को वहन करता है। क्योंकि—

निश्चय से यह [मेरा] भार विश्राम से युक्त है, [किन्तु] उसका तो परिश्रम निरन्तर है, क्योंकि जिस पर राजा आश्रित है सब कुछ उसी पर आश्रित है।(१५)
(प्रकट) अच्छा महोदय ! अब वह राजा प्रकृतिस्थ [किया गया] है ?
ब्रह्मचारी—वह अब मैं नहीं जानता। "यहाँ उसके साथ हंसा था, यहां उसके साथ बतियाया था, यहाँ उसके साथ रहा था, यहाँ उसके साथ गुस्सा [प्रणयकलह] किया था, यहाँ उसके साथ सोया था", इस प्रकार विलाप करते हुए उस राजा को बड़े प्रयत्न से मन्त्री उस गाँव से लेकर चले गये। फिर राजा के जाने पर वह गाँव ऐसे सौन्दर्य-रहित हो गया जैसे तारों सहित चांद के चले जाने पर आकाश [सौन्दर्य-रहित हो जाता है]। फिर मैं भी निकल आया।
तापसी—निश्चय से वह राजा गुणवान् है, जिसकी आगन्तुक भी ऐसे प्रशंसा करता है।
चेटी—राजपुत्री ! क्या भला दूसरी स्त्री से उसका विवाह होगा [उसके साथ जायेगी] ?
पद्मावती—(स्वगत) मेरे मन की बात कही है। [मेरे मन के ही साथ सोचा है]
ब्रह्मचारी—आप दोनों से विदा मांगता हूँ। तो जाते हैं।
दोनों—अभीष्टसिद्धि के लिए जाइए।
ब्रह्मचारी—तथास्तु।

(निकल गया।)

काञ्चुकीयः—समय इदानीमभ्यन्तरं प्रवेष्टुम् ।
पद्मावती—आर्ये ! वन्दे । [अय्ये ! वंदामि ।]
तापसी—जाते ! तव सदृशं भर्तारं लभस्व । [जादे ! तव सदिसं भत्तारं ळभेहि ।]
वासवदत्ता—आर्ये ! वन्दे तावदहम् । [अय्ये ! वंदामि दाव अहं ।]
तापसी—त्वमप्यचिरेण भर्तारं समासादय । [तुवं पि अइरेण भत्तारं समासादेहि ।]
वासवदत्ता—अनुगृहीतास्मि । [अणुग्गहीदम्हि ।]
काञ्चुकीयः—तदागम्यताम् । इत इतो भवत्यः । सम्प्रति हि—

खगा वासोपेताः सलिलमवगाढो मुनिजनः
प्रदीप्तोऽग्निर्भाति प्रविचरति धूमो मुनिवनम् ।
परिभ्रष्टो दूराद्रविरपि च संक्षिप्तकिरणो
रथं व्यावर्त्यासौ प्रविशति शनैरस्तशिखरम् ॥१६॥

(निष्क्रान्ताः सर्वे ।)

इति प्रथमोऽङ्कः ।

समासादय प्रतिलभस्व ।

खगाः पक्षिणः वासोपेताः नीडं प्राप्ताः । मुनिजनः सलिलं जलमवगाढः अवतीर्णः स्नानार्थमित्यर्थः । प्रदीप्तः प्रज्वलितोऽग्निः यज्ञाग्निर्भाति प्रकाशते । धूमो मुनिवनं प्रविचरति व्याप्नोति । दूरात् दूरप्रदेशात् परिभ्रष्टः च्युतः संक्षिप्ताः संहृताः किरणाः

काञ्चुकीय—अब भीतर प्रवेश करने का समय हो गया।
पद्मावती—आर्ये ! प्रणाम करती हूँ।
तापसी—बेटी ! तुम्हारे [अपने] समान पति को पाओ।
वासवदत्ता—आर्ये ! मैं प्रणाम करती हूँ।
तापसी—तुम भी शीघ्र ही पति को पुनः प्राप्त करो।
वासवदत्ता—अनुगृहीत हुई।
काञ्चुकीय—तो आइए। इधर इधर, आप [देवियाँ]। इस समय—

पक्षी अपने वासस्थान पर चले गये, मुनिलोग [स्नान के लिए] जल में प्रविष्ट हो गये, [यज्ञ के लिए] प्रज्वलित अग्नि चमकने लगी है, तपोवन में धुआँ फैल रहा है। दूर से [आकाश से] गिरा हुआ और समेटा है किरणों को जिसने ऐसा वह सूर्य भी रथ को लौटा कर धीरे-धीरे अस्ताचल को जा रहा है। (१६)

(सब निकल गये।)

प्रथम अंक समाप्त।

करा येन सस्तादृशः असौ रविरपि भास्करोऽपि रथं व्यावर्त्य परिवर्त्य अस्तशिखरमस्ताचलशृङ्गं शनैः यथा स्यात् तथा प्रविशति प्रवेशं करोति। अस्तं गच्छतीत्यर्थः। स्वभावोक्तिरलङ्कारः। वृत्तं शिखरिणी।१६।

प्रथमोऽङ्कः परिसमाप्तः।

अथ द्वितीयोऽङ्कः ।

चेटी—कुञ्जरिके कुञ्जरिके ! कुत्र कुत्र भर्तृदारिका पद्मावती ? किं भणसि 'एषा भर्तृ-दारिका माधवीलतामण्डपस्य पार्श्वतः कन्दुकेन क्रीडती'ति ? यावद् भर्तृ-दारिका-मुपसर्पामि । (परिक्रम्यावलोक्य) अम्मो ! इयं भर्तृ-दारिका उत्कृतकर्णचूलिकेन व्यायामसंजातस्वेदविन्दुविचित्रितेन परिश्रान्तरमणीयदर्शनेन मुखेन कन्दुकेन क्रीडन्तीत एवागच्छति यावदुपसर्प्स्यामि । [कुञ्जरिए कुञ्जरिए ! कहिं कहिं ! भट्टिदारिआ पदुमावदी । किं भणासि 'एसा भट्टिदारिआ माहवीळदामंडवस्स पस्सदो कंदुएण कीळदि' त्ति ? जाव भट्टिदारिअं उवसप्पामि । अम्मो । इअं भट्टिदारिआ उक्करिदकण्णचूळिएण वाआमसंजाद सेदबिंदुविइत्तिदेण परिस्संतरमणीअदंसणेण मुहेण कंदुएण कीळंदी इदो एव्व आअच्छदि । जाव उवसप्पिस्सं ।]

(निष्क्रान्ता ।)

प्रवेशकः ।

(ततः प्रविशति कन्दुकेन क्रीडन्ती पद्मावती सपरिवारा वासवदत्तया सह ।)

वासवदत्ता—हला ! एष ते कन्दुकः । [हळा ! एसो दे कंदुओ ।]

पद्मावती—आर्ये ! भवत्विदानीमेतावत् । [अय्ये ! भोदु दाणिं एत्तअं ।]

वासवदत्ता—हला ! अतिचिरं कन्दुकेन क्रीडित्वाधिकसंजातरागौ परकीयाविव ते हस्तौ संवृत्तौ । [हळा ! अदिचिरं कंदुएण कीळिअ अहिअसंजादरआ परकेरआ विअ दे हत्था संवुत्ता ।]

चेटी—क्रीडतु क्रीडतु तावद् भर्तृदारिका ! निर्वर्त्यतां तावदयं कन्याभावरमणीयः कालः । [कीळदु कीळदु दाव भट्टिदारिआ । णिव्वत्तीअदु दाव अअं कण्णाभाव-रमणीओ काळो ।]

पद्मावती—आर्ये ! किमिदानीं मामपहसितुमिव निध्यायसि ! [अय्ये ! किं दाणिं मं ओहसिदुं विअ णिज्झाअसि ?]

वासवदत्ता—नहि नहि, हला ! अधिकमद्य शोभसे । अभित इव तेऽद्य वरमुखं पश्यामि । [णहि णहि, हला ! अधिअं अज्ज सोहसि । अभिदो विअ दे अज्ज वरमुहं पेक्खामि ।]

उत्कृतकर्णचूलिकेन······उत्कृते ऊर्ध्वे कृते कर्णचूलिके कर्णाभरणविशेषौ 'बाली' इति भाषायां, यस्मिन् तेन 'मुखम्' इत्यस्य विशेषणम् । व्यायामेन क्रीडन-

द्वितीय अङ्क।

चेटी—कुञ्जरिका ! [ओ] कुञ्जरिका। राजकुमारी पद्मावती कहाँ है ? क्या कहती हो 'यह राजकुमारी माधवीलता-कुञ्ज की बगल में गेंद से खेलती है ?' अच्छा, राजकुमारी के पास चलती हूँ। (घूमकर, देखकर) ओहो, यह कान की बालियों को ऊपर उठाये हुए, परिश्रम से उत्पन्न पसीने की बूंदों से चित्रित, थकावट से सुन्दर दिख रहे मुँह वाली राजकुमारी गेंद से खेलती हुई इधर ही आ रही हैं। अच्छा [मैं भी उसके] पास चलूँ।

(निकल गई।)

प्रवेशक।

(फिर गेंद खेलती हुई पद्मावती परिजन और वासवदत्ता के साथ प्रविष्ट होती है।)

वासवदत्ता—सखि, ! यह तुम्हारी गेंद है।

पद्मावती—आर्ये ! बस, अब इतना ही।

वासवदत्ता—सखि ! बहुत देर तक गेंद से खेलकर, अधिक लाल हुए तुम्हारे हाथ पराये-से हो गये हैं।

चेटी—खेलो, [और भी] खेलो राजकुमारी ! यह कुँवारेपन के कारण रमणीय समय [यों ही] बिताओ।

पद्मावती—आर्ये ! क्यों अब मानो हँसी उड़ाने के लिए मुझे देख रही हो ?

वासवदत्ता—नहीं नहीं, सखि ! आज अधिक सुन्दर लग रही हो। आज तुम्हारा मानो सब ओर से सुन्दर मुख देख रही हूँ। अथवा तुम्हारे सब ओर [वर की उपस्थिति में जैसा रोमाञ्चित एवं रक्तिम सा मुख हो जाता है वैसा] वर-मुख देख रही हूँ।

परिश्रमेण सञ्जाताः समुद्भूता ये स्वेदबिन्दवः घर्मपृषताः "घर्मो निदाघः स्वेदः स्यात्" इत्यमरः। तैः विचित्रितेन वैचित्र्यं प्रापितेन, परिश्रान्तेन परिश्रान्त्या रमणीयं सुन्दरं दर्शनं यस्य तेन मुखेन वदनेन, 'इत्थंभूतलक्षणे' इत्यनेन तृतीया, इयं भर्तृदारिका इत्यनेन अन्वयः, कन्दुकेन क्रीडन्तीत एवागच्छति (क्रीड + शतृ + ङीप्)। उपसर्प्स्यामि (उप + सृप् + लृट् उ० ए०) आसन्नभविष्यति लृट् प्रयोगः। उपसर्पामि (उप + सृप् + लट् उ० ए०) इति पाठे "वर्त्तमानसामीप्ये वर्त्तमानवद्वा" (३-३-१३१) इत्यनेन वर्तमानसमीपे भविष्यति लट् प्रयोगः।

अधिकसञ्जातरागौ अधिकः सञ्जातः समुद्भूतः रागः रक्तिमा ययोस्तौ (बहुव्रीहिः)। परकीयाविव अन्यदीयाविव, अपरस्वामिकौ इति सरलार्थः। कन्यायाः भावस्तेन रमणीयः कालः। निर्वर्त्यताम् (निर् + वृत + णिच् + ताम् कर्मणि लोट्) परिसमाप्ति नीयताम्। निध्यायसि (नि + ध्यै + सिप् लट्) पश्यसि "निध्यानं दर्शनालोकने क्षणम्" इत्यमरः। अभित इव सर्वत इव ते वरमुखं वरं सुन्दरं मुखम् (कर्मधारयः) पश्यामि। अथवा, वराय मुखमिति वरमुखं परिणेतरि उपस्थिते सति यथा

पद्मावती—अपेहि । मेदानीं मामुपहस । [अवेहि । मा दाणिं मं ओहस ।]

वासवदत्ता—एषास्मि तूष्णीका भविष्यन्महासेनवधु! [एसम्हि तुण्हीआ भविस्सम्महासेणवहू !]

पद्मावती—क एष महासेनो नाम ? [को एसो महासेणो णाम ?]

वासवदत्ता—अस्त्युज्जयिनीयो राजा प्रद्योतो नाम । तस्य बलपरिमाणनिर्वृत्तं नामधेयं महासेन इति । [अत्थि उज्जइणीओ राआ पज्जोदो णाम । तस्य बळपरिमाणणिव्वुत्तं णामहेअं महासेणोत्ति ।]

चेटी—भर्तृदारिका तेन राज्ञा सह संवन्धं नेच्छति । [भट्टिदारिआ तेण रञ्ञा सह संवंधं णेच्छदि ।]

वासवदत्ता—अथ केन खल्विदानीमभिलषति ? [अह केण खु दाणिं आभिलसदि ।]

चेटी—अस्ति वत्सराज उदयनो नाम । तस्य गुणान् भर्तृदारिकाभिलषति । [अत्थि वच्छराओ उदअणो णाम । तस्य गुणाणि भट्टिदारिआ अभिळसदि ।]

वासवदत्ता—(आत्मगतम्) आर्यपुत्रं भर्तारमभिलषति । (प्रकाशम्) केन कारणेन ? [अय्यउत्तं भत्तारं अभिळसदि । केण कारणेण ?]

चेटी—सानुक्रोश इति । [साणुक्कोसो त्ति ।]

वासवदत्ता—(आत्मगतम्) जानामि जानामि अयमपि जन एवमुन्मादितः । [जाणामि जाणामि । अअं वि जणो एव्वं उम्मादिदो ।]

चेटी—भर्तृदारिके ! यदि स राजा विरूपो भवेत् । [भट्टिदारिए ! जदि सो राआ विरूओ भवे ।]

वासवदत्ता—नहि नहि । दर्शनीय एव । [णहि णहि । दंसणीओ एव्व ।]

पद्मावती—आर्ये ! कथं त्वं जानासि ? । [अय्ये ! कहं तुवं जाणासि ?]

वासवदत्ता—(आत्मगतम्) आर्यपुत्रपक्षपातेनातिक्रान्तः समुदाचारः । किमिदानीं करिष्यामि ? (प्रकाशम्) भवतु, दृष्टम् । हला ! एवमुज्जियिनीयो जनो मन्त्रयते । [अय्यउत्तपक्खवादेण अदिक्कंदो समुदाआरो । किं दाणिं करिस्सं ? होदु दिट्ठं । हळा ! एव्वं उज्जइणीओ जणो मंतेदि ।]

पद्मावती—युज्यते । न खल्वेष उज्जयिनी-दुर्लभः । सर्वजनमनोभिरामं खलु सौभाग्यं नाम । (जुज्जइ । ण खु एसो उज्जइणीदुळ्ळहो । सव्वजणमणोभिरामं खु सोभग्गं णाम ।]

(ततः प्रविशति धात्री ।)

धात्री—जयतु भर्तृ-दारिका । भर्तृ-दारिके ! दत्तासि । [जेदु भट्टिदारिआ । भट्टिदारिए ! दिण्णासि ।]

रोमाञ्चितमीषद्रक्तञ्च मुखं भवति तादृशं ते मुखमलोकयामि । इत्यनेनोपस्थितविवाहसूचकमेवेत्यवगन्तव्यम् ।

पद्मावती—हटो, अब मेरा उपहास मत करो।

वासवदत्ता—होने वाली महासेन-वधू [पुत्रवधू] ! [लो] यह मैं चुप हूँ।

पद्मावती—यह महासेन भला कौन है?

वासवदत्ता—उज्जयिनी का राजा है, प्रद्योत नाम का। उसका सेना के परिमाण से निष्पन्न नाम 'महासेन' है।

चेटी—राजकुमारी उस राजा के साथ सम्बन्ध नहीं चाहती है।

वासवदत्ता—तो फिर अब किस के साथ चाहती है?

चेटी—वत्साधिपति उदयन नामक [राजा] है। उसके गुणों को राजकुमारी चाहती है।

वासवदत्ता—(स्वगत) आर्यपुत्र को पति [रूप में] चाहती है। (प्रकट) किस कारण से?

चेटी—[वह] दयालु है इसलिए।

वासवदत्ता—(स्वगत) जानती हूँ, जानती हूँ। यह भी व्यक्ति इसी प्रकार उन्मत्त किया गया था [मैं भी उनके इस दयालुपन पर मरी थी]।

चेटी—राजकुमारी ! यदि वह राजा कुरूप होवे?

वासवदत्ता—नहीं नहीं, देखने योग्य ही है।

पद्मावती—आर्ये ! तुम कैसे जानती हो?

वासवदत्ता—(स्वगत) आर्यपुत्र के पक्षपात से [मैंने] औचित्य का उल्लंघन कर दिया। अब क्या करूँ? अच्छा, समझी (प्रकट) सखि ! ऐसा उज्जयिनी के लोग कहते हैं।

पद्मावती—ठीक है। निश्चय ही उज्जयिनी [वासियों] के लिये यह [उदयन को देखना] दुर्लभ नहीं। सौन्दर्य वही है जो सब लोगों के मन का आह्लादक हो।

[उसके बाद धाय प्रवेश करती है।)

धाय—राजकुमारी की जय हो। राजकुमारी ! दे दी गई हो।

अपेहि (अप + इ + हि लोट्) दूरीभव। तूष्णीका (तूष्णीम् + कन् + निपातनात् स्त्रियामाप्) मौनपरा। महासेनस्य प्रद्योतस्य वधूः स्नुषा "समाः स्नुषाजनीवध्वः" इत्यमरः। परिमाणनिर्वृत्तम् इयत्तया निष्पन्नम्। सैन्य-परिमाणं तत्र हेतुः इत्यर्थः।

सानुक्रोशः—अनुक्रोशोऽनुकम्पा दया, सहानुभूतिः इति यावत् तेन सह वर्तमानः, अनुकम्पया सहितः इति सानुक्रोशः, सदयः सहानुभूतिशील इत्यर्थः "तेन सहेति तुल्ययोगे" इत्यनेन बहुव्रीहिसमासः। उन्मादितः उन्मादं प्रापितः (उत् + मद् + णिच् + क्त)। अतिक्रान्तः उल्लङ्घितः। समुदाचारः (सम् + उद् + आ + चर् + घञ्) व्यवहारः शिष्टाचारः। सौभाग्यं सुभगस्य भावः (सुभग + ष्यञ्) सौन्दर्यं सर्वेषां जनानां मनसः अभिरामम् (अभि + रम् + घञ्) आह्लादकं नाम। प्रतीष्टा (प्रति +

वासवदत्ता—आर्यं कस्मै ? [अय्ये ! कस्स ?]

धात्री—वत्सराजायोदयनाय । [वच्छराअस्स उदअणस्स ।]

वासवदत्ता—अथ कुशली स राजा ? [अह कुसळी सो राआ ?]

धात्री—कुशली स इहागतः । तस्यभर्तृदारिका प्रतीष्टा च ।[कुसळी सो इह आअदो। तस्य भट्टिदारिआ पडिच्छिदा अ ।]

वासवदत्ता—अत्याहितम् । [अच्चाहिदं ।]

धात्री—किमत्रात्याहितम् ? [किं एत्थ अच्चाहिदं ?]

वासवदत्ता—न खलु किञ्चित् । तथा नाम संतप्योदासीनो भवतीति । [ण हु किंचि । तह णाम संतप्पिअ उदासीणो होदि त्ति ।]

धात्री—आर्ये ! आगमप्रधानानि सुलभपर्यवस्थानानि महापुरुषहृदयानि भवन्ति । [अय्ये ! आअमप्पहाणाणि सुळहपय्यवत्थाणाणि महापुरुसहिअआणि होन्ति ।]

वासवदत्ता—आर्ये ! स्वयमेव तेन वरिता ? [अय्ये ! सअं एव्व तेन वरिदा ?]

धात्री—नहि नहि । अन्यप्रयोजनेनेहागतस्याभिजनविज्ञानवयोरूपं दृष्ट्वा स्वयमेव महाराजेन दत्ता । [णहि णहि । अण्णप्पओअणेण इह आअदस्स अभिजणविञ्ञाणवओरूवं पेक्खिअ सअं एव्व महाराएण दिण्णा]

वासवदत्ता—(आत्मगतम्) एवम् । अनपराद्ध इदानीमत्रार्यपुत्रः । [एव्वं । अणवरद्धो दाणिं एत्थ अय्यउत्तो ।

(प्रविश्यापरा)

चेटी—त्वरतां त्वरतां तावदार्या । अद्यैव किल शोभनं नक्षत्रम् । अद्यैव कौतुकमङ्गलं कर्तव्यमित्यस्माकं भट्टिनी भणति । [तुवरदु तुवरदु दाव अय्या । अज्ज एव्व किळ सोभणं णक्खत्तं । अज्ज एव्व कोदुअमंगळं कादव्वं त्ति अम्हाणं भट्टिणी भणादि ।]

वासवदत्ता—(आत्मगतम्) यथा यथा त्वरते तथा तथान्धीकरोति मे हृदयम् । [जह जह तुवरदि तह तह अंधीकरेदि मे हिअअं ।]

धात्री—एत्वेतु भर्तृदारिका । [एदु एदु भट्टिदारिआ ।]

(निष्क्रान्ताः सर्वे ।)

इति द्वितीयोऽङ्कः ।

इष् + क्त ! स्त्रियामाप्) स्वीकृता । अत्याहितम् (अति + आ + धा + क्त) अयुक्तम्, अविचार्यं कृतं कर्मं, अतिरभसकृतं कर्मं वा । आगमः (आ + गम् + अच्) शास्त्र-

वासवदत्ता—आर्ये ! किसे ?
धाय—वत्सराज उदयन को।
वासवदत्ता—वह राजा सकुशल तो है ?
धाय—[हाँ] सकुशल है [और] वह यहां आया है और उसे राजकुमारी स्वीकार है।
वासवदत्ता—अनुचित हुआ।
धाय—इसमें क्या अनुचित है ?
वासवदत्ता—नहीं, कुछ नहीं। उस [ब्रह्मचारी द्वारा वर्णित] प्रकार से संताप करके उदासीन हो जाता है। इसलिए [कहा कि अनुचित हुआ]।
धाय—आर्ये ! महापुरुषों के शास्त्रज्ञान-प्रधान हृदय सरलता से स्वाभाविक अवस्था में आने वाले होते हैं।
वासवदत्ता—आर्ये ! उस [उदयन] ने स्वयं ही [वासवदत्ता] वरण की ?
धाय—नहीं नहीं, दूसरे काम से यहाँ आये हुए [उस राजा] का कुल, ज्ञान, आयु [और] रूप देखकर, स्वयं ही महाराज [दर्शक] ने दी।
वासवदत्ता—(स्वगत) ऐसा। तब तो आर्यपुत्र निरपराध हुए।

(प्रवेश करके दूसरी [चेटी])

चेटी—आर्या जल्दी करो, जल्दी करो। आज ही शुभ नक्षत्र है। 'आज ही माङ्गलिक कौतुक [बन्धन-संस्कार] करना है', ऐसा हमारी महारानी [दर्शक की पत्नी] कहती हैं।
वासवदत्ता—(स्वगत) जैसे जैसे जल्दी करती है वैसे वैसे मेरे हृदय को अंधकारित करती है [मेरा दिल बैठता जाता है]।
धाय—आओ आओ राजकुमारी।

(सब निकल गये।)

द्वितीय अङ्क समाप्त।

ज्ञानम्। आगच्छतीति आगमः भाविकालः। आगमः प्रधानं येषां तानि (बहु०) महापुरुषाणां हृदयानि सुलभं सौकर्येण लब्धुं योग्यं पर्यवस्थानम्—(परि+अव+स्था+ल्युट्) स्वप्रकृतौ स्थापनं येषां तानि तादृशानि भवन्ति। "न सत्पुरुषाः शोकवास्तव्या भवन्ति"। अभिजनः कुलम्। अनपराद्धः न अपराद्धः। कौतुकमुद्वाहसूत्रम् 'कंगना' इति भाषायाम्। तद्बन्धनरूपं मङ्गलं शुभकार्यम्। अन्धीकरोति प्रतिपत्तिशून्यं करोतीत्यर्थः।

द्वितीयोऽङ्कः परिसमाप्तः।

अथ तृतीयोऽङ्कः ।

(ततः प्रविशति विचिन्तयन्ती वासवदत्ता ।)

वासवदत्ता—विवाहामोदसंकुले अन्तःपुरचतुःशाले परित्यज्य पद्मावतीमिहागतास्मि प्रमदवनम् । यावदिदानीं भागधेयनिर्वृत्तं दुःखं विनोदयामि । (परिक्रम्य) अहो अत्याहितम् ! आर्यपुत्रोऽपि नाम परकीयः संवृत्तः । यावदुपविशामि । (उपविश्य) धन्या खलु चक्रवाकवधूः या विरहिता न जीवति । न खल्वहं प्राणान् परित्यजामि । आर्यपुत्रं पश्यामीत्येतेन मनोरथेन जीवामि मन्दभागा । [विवाहामोदसंकुळे अंतेउरचउस्साळे परित्तजिअ पदुमावदिं इह आअदम्हि पमदवणं । जाव दाणिं भाअवेअणिव्वुत्तं दुःखं विणोदेमि । अहो अच्चाहिदं । अय्यउत्तो वि णाम परकेरओ संवुत्तो । जाव उवविसामि । धण्णा खु चक्कवाअवहू जा विरहिदा ण जीवइ । ण खु अहं पाणाणि परित्तजामि । अय्यउत्तं पेक्खामि त्ति एदिणा मणोरहेण जीवामि मंदभाआ ।]

(ततः प्रविशति पुष्पाणि गृहीत्वा चेटी ।)

चेटी—क्व नु खलु गता आर्यावन्तिका ? (परिक्रम्यावलोक्य) अम्मो ! इयं चिन्ताशून्यहृदया नीहारप्रतिहतचन्द्रलेखेवामण्डितभद्रकं वेषं धारयन्ती प्रियङ्गुशिलापट्टके उपविष्टा । यावदुपसर्पामि (उपसृत्य) आर्ये आवन्तिके ! कः कालः त्वामन्विष्यामि ? [कहिं णु खु गदा अय्या आवंतिआ ? अम्मो ! इयं चिंतासुण्णहिअआ णीहारपडिहदचंदळेहा विअ अमंडिदभद्दअं वेसं धारअंदी पिअंगुसिळापट्टए उवविठ्ठा । जाव उवसप्पामि । अय्ये आवंतिए ! को कालो तुमं अण्णेसामि ?]

वासवदत्ता—किंनिमित्तम् ? [किंणिमित्तं ?]

चेटी—अस्माकं भट्टिनी भणति महाकुलप्रसूता स्निग्धा निपुणेति इमां तावत् कौतुकमालिकां गुम्फत्वार्या । [अम्हाअं भट्टिणी भणादि 'महाकुलप्पसूदा सिणिद्धा णिउणा' त्ति इमं दाव कोदुअमालिअं गुम्हदु अय्या ।]

विवाहामोदसंकुले विवाहस्य परिणयस्य आमोद आनन्दस्तेन लक्षणया विवाहोत्सवानन्दयुक्तजनैः संकुले व्याप्ते । अन्तःपुरस्य स्त्र्यागारस्य "स्त्र्यागारं भूभुजामन्तःपुरं स्यादवरोधनम् । शुद्धान्तश्चावरोधश्च···।" इत्यमरः । चतुःशाले चतस्रः शालाः समाहृता इति चतुःशालम् (समाहारद्विगुः) अन्योन्याभिमुखशालाचतुष्टयवेष्टितगृहविभागस्तस्मिन् । अन्तःपुरोचितं प्रमदोचितं वा वनमिति । राज्ञः प्रमदादिभिः सह क्रीडाश्रयं वनम् "प्रमदवनमन्तःपुरोचितम्" इत्यमरः । भागधेयनिर्वृत्तम्

तृतीय अङ्क ।

(उसके बाद सोचती हुई वासवदत्ता प्रवेश करती है ।)

वासवदत्ता—विवाह के आनन्द [से युक्त मनुष्यों] से व्याप्त अन्तःपुर की चौशाला में पद्मावती को छोड़कर यहां अन्तःपुर-उद्यान में आ गई हूँ । यहाँ [इस एकान्त में] भाग्य से निष्पन्न [प्राप्त] दुःख को कुछ हल्का करूँ । (घूमकर) अहो बहुत बुरा हुआ । आर्यपुत्र भी अब पराये हो गये । चलो बैठती हूं । (बैठकर) धन्य है चकवे की पत्नी, जो अलग होकर नहीं जीती है । किन्तु मैं प्राणों को नहीं छोड़ती हूँ । 'आर्यपुत्र को देखूंगी' इसी मनोभिलाषा से अभागिन जी रही हूँ ।

(उसके बाद फूलों को लेकर चेटी प्रविष्ट होती है ।)

चेटी—भला कहाँ गई आर्या आवन्तिका ? (घूम कर, देखकर) अहो ! यह चिन्ता से शून्य हृदय वाली, कुहरे से मारी गई [आच्छादित] चन्द्रकला-जैसी, आभूषण-रहित भद्र वेश को धारण किए हुए प्रियंगु [लता] के शिलापट्ट पर बैठी हुई है । तो पास जाती हूँ । (पास जाकर) आर्या आवन्तिका ! कितनी देर से तुम्हें ढूंढ रही हूं ?

वासवदत्ता—किस लिए ?

चेटी—हमारी स्वामिनी कहती हैं—[आप] उच्च कुल में उत्पन्न, प्रिय और चतुर हैं—अतः इस विवाह-माला को आर्या गूंथ दें ।

भागधेयम् भाग्यम् स्वार्थे धेयप्रत्ययः तेन निर्वृत्तम् निष्पादितम् अथवा तस्मात् निर्वृत्तम् प्राप्तम् दुःखम् । विनोदयामि तद्विषयकचिन्तया किञ्चिदुपशमयामि । "यावत्पुरानिपातयोर्लट्" इत्यनेन भविष्यदर्थे लट् प्रयोगः । अत्याहितम् महदनिष्टं सञ्जातम् । महत्कष्टमित्यर्थः (अति+आ+धा+क्त) । न जीवति मृतप्राया भवति । अम्मो इति आश्चर्योद्गारे । चिन्ताशून्यहृदया चिन्तया शून्यं रिक्तं विचारादिरहितं हृदयं यस्याः सा (बहु०) । स्वदुःखध्यानेन बाह्यज्ञानरहिता इत्यर्थः । नीहारेण तुषारेण "अवश्यायस्तु नीहारस्तुषारस्तुहिनं हिमम् ।" इत्यमरः । प्रतिहता नष्टप्रभा चन्द्रलेखेव । यथा नीहारसमाच्छन्ना सती चन्द्रलेखा न भाति तथैव दुःखपरिव्याप्ता वासवदत्ता अपि न भाति इत्यर्थः । उपमालङ्कारः । अमण्डितभद्रकम् न मण्डितम् (मडि भूषणे+क्त) न भूषितं तच्च भद्रकम् (भद्र+कन् स्वार्थे) मङ्गलं तं वेषं परिधानं धारयन्ती (धृ+णिच्=धारि+शतृ=धारयत् इत्यस्य स्त्रियामेकवचने धारयन्तीति रूपम्) ।

स्निग्धा प्रिया (स्निह्+क्त+टाप्) । कौतुकमालिकाम् कौतुकाय विवाहाय माला स्रक् तां विवाहमालामित्यर्थः । गुम्फतु ग्रथ्नातु ।

वासवदत्ता—अथ कस्मै किल गुम्फितव्यम् ? [अह कस्स किल गुम्हिदव्वं ?]

चेटी—अस्माकं भर्तृ-दारिकायै। [अम्हाअं भट्टिदारिआए।]

वासवदत्ता—(आत्मगतम्) एतदपि मया कर्तव्यमासीत्। अहो ! अकरुणाः खल्वीश्वराः। [एदं पि मए कत्तव्वं आसी। अहो ! अकरुणा खु इस्सरा।]

चेटी—आर्ये ! मेदानीमन्यच्चिन्तयित्वा। एष जामाता मणिभूम्यां स्नायति। शीघ्रं तावद् गुम्फत्वार्या। [अय्ये ! मा दाणिं अण्णं चिंतिअ। एसो जामादुओ मणिभूमिए ण्हाअदि। सिग्घं दाव गुम्हदु अय्या।]

वासवदत्ता—(आत्मगतम्) न शक्नोम्यन्यच्चिन्तयितुम्। (प्रकाशम्) हला ! किं दृष्टो जामाता ? [ण सक्कणोमि अण्णं चिंतेदुं। हला ! किं दिट्ठो जामादुओ ?]

चेटी—आम्, दृष्टो भर्तृ-दारिकायाः स्नेहेनास्माकं कौतुहलेन च। [आम्, दिठ्ठो भट्टिदारिआए सिणेहेन अम्हाअं कोदूहलेण अ।]

वासवदत्ता—कीदृशो जामाता ? [कीदिसो जामादुओ ?]

चेटी—आर्ये ! भणामि तावद्, नेदृशो दृष्टपूर्वः। [अय्ये ! भणामि दाव ण ईरिसो दिट्ठपुरुवो।]

वासवदत्ता—हला ! भण भण, किं दर्शनीयः ? [हला ! भणाहि भणाहि किं दंसणीओ ?]

चेटी—शक्यं भणितुं शरचापहीनः कामदेव इति। [सक्कं भणिदुं सरचावहीणो कामदेवो त्ति।]

वासवदत्ता—भवत्वेतावत्। [होदु एअत्त।]

चेटी—किंनिमित्तं वारयसि ?[किंणिमित्तं वारेसि ?]

वासवदत्ता—अयुक्तं परपुरुषसंकीर्तनं श्रोतुम्।]अजुत्तं पर पुरुससंकित्तणं सोदुं।]

चेटी—तेन हि गुम्फत्वार्या शीघ्रम्। [तेण हि गुम्हदु अय्या सिग्घं।]

वासवदत्ता—इयं गुम्फामि। आनय तावत्। [इअं गुम्हामि आणेहि दाव।]

चेटी—गृह्णात्वार्या। [गह्णदु अय्या।]

वासवदत्ता—(वर्जयित्वा विलोक्य) इदं तावदौषधं किं नाम ? [इमं दाव ओसहं किं णाम ?]

चेटी—अविधवाकरणं नाम। [अविहवाकरणं णाम।]

वासवदत्ता—(आत्मगतम्) इदं बहुशो गुम्फितव्यं मम च पद्मावत्याश्च। (प्रकाशम्) इदं तावदौषधं किं नाम ? [इदं बहुसो गुम्हिदव्वं मम अ पदुमावदीए अ। इदं दाव ओसहं किं णाम ?]

वासवदत्ता—अच्छा, किसके लिए गूंथनी है।

चेटी—हमारी राजकुमारी के लिए।

वासवदत्ता—(स्वगत) यह भी मुझे करना था अहो ! निश्चय से देवता निर्दय हैं।

चेटी—आर्ये ! अब कुछ और मत सोचो। यह जामाता मणिमयस्थल [स्फटिक आदि से निर्मित स्नान-वेदी] पर नहाते हैं। तो आर्या जल्दी गूंथें।

वासवदत्ता—(स्वगत) कुछ और तो सोच ही नहीं सकती। (प्रकट) सखि ! क्या जामाता देखा ?

चेटी—हाँ, राजकुमारी के स्नेह और अपने कौतुहल के कारण देखा।

वासवदत्ता—कैसा है जामाता ?

चेटी—आर्ये ! बस इतना कहती हूँ, ऐसा पहले कभी नहीं देखा।

वासवदत्ता—सखि ! कहो कहो, क्या सुन्दर है ?

चेटी—'धनुप-बाण-रहित कामदेव है' ऐसा कहा जा सकता है।

वासवदत्ता—अच्छा, बस करो।

चेटी—किस कारण रोकती हो ?

वासवदत्ता—परपुरुप की प्रशंसा सुनना ठीक नहीं।

चेटी—तो फिर आर्या जल्दी [माला] गूंथो।

वासवदत्ता—यह गूंथती हूँ। ला तो।

चेटी—लो आर्या।

वासवदत्ता—([फूलों को] हटा कर [और] देखकर) यह ओपध [जड़ी] क्या है ?

चेटी—वैधव्य का निवारण करने वाली [अविधवाकरण-नामक]।

वासवदत्ता—(स्वगत) मेरे लिए और पद्मावती के लिए यह बहुत सी गूंथनी चाहिए। (प्रकट) और यह ओपध [जड़ी] क्या है ?

चेटी—सपत्नीमर्दनं नाम। [सवत्तिमद्दणं णाम ।]

वासवदत्ता—इदं न गुम्फितव्यम् । [इदं ण गुम्हिदव्वं ।]

चेटी—कस्मात् ? [कीस ?]

वासवदत्ता—उपरता तस्य भार्या, तन्निष्प्रयोजनमिति । [उवरदा तस्स भय्या । तं णिप्पओअणं त्ति ।]

(प्रविश्य अपरा)

चेटी—त्वरतां त्वरतामार्या । एष जामाता अविधवाभिरभ्यन्तरचतुःशालं प्रवेश्यते । [तुवरदु तुवरदु अय्या । एसो जामादुओ अविहवाहि अब्भंतरचउस्सालं पवेसीअदि ।]

वासवदत्ता—अयि ! वदामि गृहाणैतत् । [अइ ! वदामि गण्ह एदं ।]

चेटी—शोभनम् । आर्ये ! गच्छामि तावदहम् । [सोहणं । अय्ये ! गच्छामि दाव अहं ।]

(उभे निष्क्रान्ते ।)

वासवदत्ता—गतैषा । अहो ! अत्याहितम् । आर्यपुत्रोऽपि नाम परकीयः संवृत्तः । अहमपि शय्यायां मम दुःखं विनोदयामि, यदि निद्रां लभे । [गदा एसा । अहो ! अच्चाहिदं । अय्यउत्तो वि णाम परकेरओ संवुत्तो । अहं वि सय्याए मम दुक्खं विणोदेमि, जदि णिद्दं लभामि ।]

(निष्क्रान्ता ।)

इति तृतीयोऽङ्कः ।

क्रियते अनेन इति अविधवाकरणम् (करणे ल्युट्) सपत्नी मर्द्यते अभिभूयते अनेनेति सपत्नीमर्दनम् (पूर्ववदेव करणे ल्युट्) । प्रवेश्यते (प्र + विश् + णिच् + ते, लट्) ।

तृतीयोऽङ्कः परिसमाप्तः ।

चेटी—सौत का अभिभव करने वाली [सपत्नी-मर्दन नाम की]।
वासवदत्ता—इसे नहीं गूंथना चाहिए।
चेटी—क्यों ?
वासवदत्ता—उसकी पत्नी मर चुकी। इसलिए वह [ग्रन्थन] निष्प्रयोजन है।

(दूसरी प्रवेश करके)

चेटी—आर्या जल्दी करो, जल्दी करो। जामाता को सुहागिनें अन्दर चौशाला में ले जा रही हैं।
वासवदत्ता—अरी, कह तो रही हूँ—लो इसे।
चेटी—सुन्दर। आर्ये! तो मैं जाती हूँ।

(दोनों निकल गईं।)

वासवदत्ता—यह चली गई। ओह! बहुत बुरा हुआ। आर्यपुत्र भी अब पराये हो गये। मैं भी शय्या पर अपने दुःख को हल्का करूँ यदि नींद आ जाये तो।

(निकल गई।)

तृतीय अङ्क समाप्त।

अथ चतुर्थोऽङ्कः ।

(ततः प्रविशति विदूषकः ।)

विदूषकः—(सहर्षम्) भोः ! दिष्ट्या तत्रभवतो वत्सराजस्याभिप्रेतविवाहमङ्गलरमणीयः कालो दृष्टः । भोः ! को नामैतज्जानाति तादृशे वयमनर्थसलिलावर्ते प्रक्षिप्ताः पुनरुन्मङ्क्ष्याम इति । इदानीं प्रासादेषूष्यते, अन्तःपुरदीर्घिकासु स्नायते, प्रकृतिमधुरसुकुमाराणि मोदकखाद्यानि खाद्यन्त इत्यनप्सरस्संवास उत्तरकुरुवासो मयानुभूयते । एकः खलु महान् दोषः, ममाहारः सुष्ठु न परिणमति, सुप्रच्छदनायां शय्यायां निद्रां न लभे, यथा वातशोणितमभित इव वर्तत इति पश्यामि । भोः ! सुखं नामयपरिभूतमकल्यवर्तं च । [भो ! दिट्ठिआ तत्तहोदो वच्छराअस्स अभिप्पेदविवाहमङ्गलरमणिज्जो कालो दिट्ठो । भो ! को णाम एदं आणादि तादिसे वयं अणत्थसलिलावत्ते पक्खित्ता उण उम्मज्जिस्सामो त्ति । इदाणिं पासादेसु वसीअदि, अंदेउरदिग्घिआसु ण्हाईअदि, पकिदिमउरसुउमाराणि मोदअखज्जआणि खज्जीअंति त्ति अणच्छरसंवासो उत्तरकुरुवासो मए अणुभवीअदि । एक्को खु महंतो दोसो मम आहारो सुट्ठु ण परिणमदि, सुप्पच्छदणाए सय्याए णिद्दं ण लभामि, जह वाससोणिदं अभिदो विअ वत्तदि त्ति पेक्खामि । भो ! सुहं णामअपरिभूदं अकल्लवत्तं च ।]

(ततः प्रविशति चेटी ।)

चेटी—कुत्र नु खलु गत आर्यवसन्तकः ? (परिक्रम्यावलोक्य) अहो एष आर्यवसन्तकः । (उपगम्य) आर्य वसन्तक ! कः कालस्त्वामन्विष्यामि । [कहिं णु खु गदो अय्यवसंतओ । अम्हो एसो अय्यवसंतओ । अय्य वसंतअ ! को कालो तुमं अण्णेसामि ?]

विदूषकः—(दृष्ट्वा) किंनिमित्तं भद्रे ! मामन्विष्यसि ? [किंणिमित्तं भद्दे ! मं अण्णेससि ?]

चेटी—अस्माकं भट्टिनी भणति 'अपि स्नातो जामाता' इति । [अम्हाणं भट्टिणी भणादि 'अवि ण्हादो जामादुओ' त्ति ?]

विदूषकः—किंनिमित्तं भवती पृच्छति ? [किंणिमित्तं भोदि पुच्छदि ?]

चेटी—किमन्यत् ? सुमनोवर्णकमानयामीति । [किमण्णं ? सुमणावण्णअं आणेमि त्ति ।]

दिष्ट्या सौभाग्येन । तत्रभवतः श्रेष्ठस्य । वत्सराजस्य उदयनस्य । अभिप्रेतेन अस्माभिरभीप्सितेन विवाहमङ्गलेन रमणीयः (रम्+अनीयर्) शोभनः कालः समयः दृष्टः

विदूषक—महाराज ने स्नान कर लिया। आप भोजन छोड़कर सब कुछ ले आओ।

चेटी—किस कारण भोजन मना करते हो ?

विदूषक—मुझ अभागे को कोयलों के 'आँख के फेर' की तरह 'पेट का उलट-फेर' हो गया है।

चेटी—ऐसे ही [बने] रहो।

विदूषक—आप जाओ। मैं भी महाराज के पास चलता हूँ।

(निकल गये।)

प्रवेशक।

(उसके बाद सपरिवार पद्मावती और आवन्तिका-वेश धारण किए हुए वासवदत्ता प्रवेश करती है।)

चेटी—किस कारण से राजकुमारी अन्तःपुर-उद्यान में आई हैं ?

पद्मावती—सखी ! वे शेफालिका के गुच्छे, देखती हूँ फूले हैं अथवा नहीं ?

चेटी—राजकुमारी ! फूलों से व्याप्त—जैसे मूंगों से गुंथी मोतियों की माला हो—वे पुष्पित हो गये हैं।

पद्मावती—सखी ! यदि ऐसा है [तो फिर] अब क्यों देर करती हो ?

चेटी—तो फिर इस शिलापट्ट पर क्षण भर राजकुमारी बैठें। तब तक मैं भी फूल इकट्ठे करती हूँ।

पद्मावती—आर्या ! क्या यहाँ बैठ जायें ?

वासवदत्ता—ऐसा ही सही।

(उभे उपविशतः ।)

चेटी—(तथा कृत्वा) पश्यतु पश्यतु भर्तृदारिका अर्धमनःशिलापट्टकैरिव शेफालिका-कुसुमैः पूरितं मेऽञ्जलिम् । [पेक्खदु पेक्खदु भट्टिदारिआ अद्धमणसिलावट्टएहिं विअ सेहालिआकुसुमेहिं पूरिअं मे अंजलिं ।]

पद्मावती—(दृष्ट्वा) अहो ! विचित्रता कुसुमानाम् । पश्यतु पश्यत्वार्या । [अहो ! विइत्तदा कुसुमाणं । पेक्खदु पेक्खदु अय्या ।]

वासवदत्ता—अहो दर्शनीयता कुसुमानाम् [अहो दंसणीअदा कुसुमाणं ।]

चेटी—भर्तृ-दारिके । किं भूयोऽवचेष्यामि ? [भट्टिदारिए ! किं भूयो अवइणुस्सं?]

पद्मावती—हला ! मा मा भूयोऽवचित्य । [हला ! मा मा भूयो अवइणिअ ।]

वासवदत्ता—हला ! किंनिमित्तं वारयसि ? [हला ! किंणिमित्तं वारेसि ?]

पद्मावती—आर्यपुत्रेण इहागत्येमां कुसुमसमृद्धिं दृष्ट्वा सम्मानिता भवेयम् । [अय्य-उत्तो इह आअच्छिअ इमं कुसुमसमिद्धिं पेक्खिअ सम्माणिदा भवेअं ।]

वासवदत्ता—हला ! प्रियस्ते भर्ता । [हला । पिओ दे भत्ता ?]

पद्मावती—आर्ये न जानामि । आर्यपुत्रेण विरहितोत्कण्ठिता भवामि । [अय्ये ! ण आणामि । अय्यउत्तेण विरहिदा उक्कंठिदा होमि ।]

वासवदत्ता—(आत्मगतम्) दुष्करं खल्वहं करोमि । इयमपि नामैवं मन्त्रयते । [दुक्करं खु अहं करेमि । इअं वि णाम एव्वं मंतेदि ।]

चेटी—अभिजातं खलु भर्तृ-दारिकया मन्त्रितं 'प्रियो मे भर्ते'ति ।[अभिजादं खु भट्टि-दारिआए मंतिदं 'पिओ मे भत्ते'त्ति ।]

पद्मावती—एकः खलु मे सन्देहः । [एक्को खु मे संदेहो ।]

वासवदत्ता—किं किम् ? [किं किं ?]

पद्मावती—यथा ममार्यपुत्रस्तथैवार्याया वासवदत्ताया इति । [जह मम अय्यउत्तो तह एव्व अय्याए वासवदत्ताए त्ति ।]

वासवदत्ता—अतोऽप्यधिकम् । [अदो वि अहिअं ।]

पद्मावती—कथं त्वं जानासि ? [कहं तुवं जाणासि ?]

वासवदत्ता—(आत्मगतम्) हम्, आर्यपुत्रपक्षपातेनातिक्रान्तः समुदाचारः । एवं तावद् भणिष्यामि । (प्रकाशम्) यद्यल्पः स्नेहः सा स्वजनं न परित्यजति । [हं, अय्यउत्त-पक्खवादेण अदिक्कंदो समुदाआरो । एव्वं दाव भणिस्सं । जइ अप्पो सिणेहो सा सजणं ण परित्तजदि ।]

(दोनों बैठती हैं।)

चेटी—(वैसा करके) राजकुमारी ! देखो, आधे [भाग में] गेरू के टुकड़ों की तरह शेफालिका [हार-सिंगार] के फूलों से भरी हुई मेरी अञ्जलि को देखो।

पद्मावती—(देखकर) अहो फूलों की विचित्रता। आर्या ! देखो देखो।

वासवदत्ता—अहो फूलों की छटा [दर्शनीयता]।

चेटी—राजकुमारी ! क्या और इकट्ठे करूँ ?

पद्मावती—सखी ! नहीं अधिक इकट्ठे मत करो।

वासवदत्ता—सखी ! किस कारण रोकती हो ?

पद्मावती—आर्यपुत्र के द्वारा यहाँ आकर [और] इस पुष्प-समृद्धि को देखकर मैं सम्मानित होऊँ।

वासवदत्ता—सखी ! तुम्हें पति प्रिय है ?

पद्मावती—आर्ये ! नहीं जानती। [पर] आर्यपुत्र के बिना व्याकुल होती हूँ।

वासवदत्ता—(स्वगत) निश्चय से मैं कठिन कार्य कर रही हूँ। यह भी तो ऐसा कहती है।

चेटी—निश्चय ही शालीनता से राजकुमारी ने कहा 'मुझे पति प्रिय है' ?

पद्मावती—बस एक ही मुझे सन्देह है।

वासवदत्ता—क्या क्या ?

पद्मावती—जैसे मुझे आर्यपुत्र [प्रिय] हैं, आर्या वासवदत्ता को भी वैसे ही अथवा...?

वासवदत्ता—इससे भी अधिक।

पद्मावती—तुम कैसे जानती हो ?

वासवदत्ता—(स्वगत) हूँ, आर्यपुत्र के पक्षपात से औचित्य का उल्लंघन कर दिया। तो ऐसा कहती हूँ, (प्रकट) यदि कम स्नेह होता [तो] वह अपने लोगों को नहीं छोड़ती।

निर्मितासने इत्यर्थः। अर्धमनः शिलापट्टकैरिव मनःशिला नागजिह्विकाख्यो रक्तवर्णो धातुविशेषः 'मैनसिल' इति भाषायां, तस्याः पट्टकः खण्डः, आकारविशेषो वा। अर्धम् एकदेशो मनश्शिलापट्टो येषां तैरिति विग्रहः। अर्वारुणत्वान्मनश्शिलापट्टघटितैकदेशैरिवेत्युत्प्रेक्ष्यते। ईदृशं मे अञ्जलिं पश्यतु। शेफालिकायाः श्वेतपुष्पाणां नालिकाप्रदेशे अरुणवर्णत्वेन मनःशिलाखण्डमिश्रणं सम्भाव्यते। विचित्रिता श्वेतकुसुमेषु रक्तिमसंमिश्रणेन वैचित्र्यमिदमेव च सौन्दर्यमत एव चाश्चर्योद्गारः। अवचेष्यामि अवचिनुयाम् (विध्यर्थे लृट्)। भवेयम् प्रार्थनायां लिङ्। दुष्करं कठिनम्। अभिजातं कुलजनानुरूपम्, समुदाचारमनतिक्रम्य इत्यर्थः (क्रियाविशेषणमिदम्)। अतिक्रान्त उल्लङ्घितः।

पद्मावती—भवितव्यम् । [होदव्वं ।]

चेटी—भर्तृ-दारिके ! साधु भर्तारं भण अहमपि वीणां शिक्षिष्य इति ।[भट्टिदारिए! साहु भट्टारं भणाहि अहं वि वीणं सिक्खस्सामित्ति ।]

पद्मावती—उक्तो मयार्यपुत्रः । [उत्तो मए अय्यउत्तो ।]

[वास]वदत्ता—ततः किं भणितम् ? [तदो किं भणिदं ?]

[पद्मा]वती—अभणित्वा किंचिद् दीर्घं निःश्वस्य तूष्णीकः संवृत्तः [अभणिअ किंचि दग्घं णिस्ससिअ तुण्हीओ संवुत्तो ।]

वासवदत्ता—ततस्त्वं किमिव तर्कयसि ? [तदो तुवं किं विअ तक्केसि ?]

पद्मावती—तर्कयाम्यार्याया वासवदत्ताया गुणान् स्मृत्वा दक्षिणतया ममाग्रतो न रोदितीति ।[तक्केमि अय्याए वासवदत्ताए गुणाणि सुमरिअ दक्खिणदाए मम अग्गदो ण रोदिदि त्ति ।]

वासवदत्ता—(आत्मगतम्) धन्या खल्वस्मि यद्येवं सत्यं भवेत् । [धण्णा खु म्हि जदि एव्वं सच्चं भवे ।]

(ततः प्रविशति राजा विदूषकश्च ।)

विदूषकः—ही ही । प्रचितपतितवन्धुजीवकुसुमविरलपातरमणीयं प्रमदवनम् । इतस्तावद् भवान् । [ही ही । पचिअपडिअबंधुजीवकुसुमविरलपादरमणिज्जं पमदवणं । इदो दाव भवं ।]

राजा—वयस्य वसन्तक ! अयमहमागच्छामि ।

कामेनोज्जयिनीं गते मयि तदा कामप्यवस्थां गते
दृष्ट्वा स्वैरमवन्तिराजतनयां पञ्चेषवः पातिताः ।
तैरद्यापि सशल्यमेव हृदयं भूयश्च विद्धा वयं
पञ्चेषुर्मदनो यदा कथमयं षष्ठः शरः पातितः ॥१॥

विदूषकः—कुत्र नु खलु गता तत्रभवती पद्मावती ? लतामण्डपं गता भवेद् उताहो,

---

तूष्णीकः मौनी, संवृत्तः सञ्जातः । दक्षिणतया उदारतया शालीनतया । ही ही इति हर्षे । प्रचितानि संहृतानि, पतितानि, उभयमपि कुसुमानीत्यस्य विशेषणम् । संग्रहादवशिष्टान्येव कुसुमानि इदानीं पतितानि वर्तन्ते । यतश्च बाहुल्येन संहृतानि अतस्तेषां विरलेन इतस्ततः पातेन, अघनः यः पातः तेन हेतुना । रमणीयं शोभनीयं प्रमदवनमिति । वन्धुजीवकुसुमानि रक्तककुसुमानि । "रक्तकस्तु बन्धूको

पद्मावती—ठीक है।

चेटी—राजकुमारी ! पति से कहो 'मैं भी वीणा सीखूंगी'।

पद्मावती—मैंने आर्यपुत्र से कहा था।

वासवदत्ता—फिर [उन्होंने] क्या कहा ?

पद्मावती—कुछ न कहकर लम्बी सांस छोड़कर चुप हो गये।

वासवदत्ता—उससे तुम क्या सोचती हो ?

पद्मावती—सोचती हूँ आर्या वासवदत्ता के गुणों को याद करके शालीनता के कारण मेरे सामने [बस] रोते नहीं हैं।

वासवदत्ता—(स्वगत) में धन्य हूँ यदि ऐसा सत्य होवे।

(उसके बाद राजा और विदूषक प्रवेश करके हैं।)

विदूषक—अहा हा। सञ्चित [और] गिरे हुए रक्तक फूलों के छितरे गिराव से प्रमद-वन [कितना] सुन्दर है। आप यहाँ [आयें]।

राजा—मित्र यह आ रहा हूँ।

मेरे उज्जयिनी में रहते हुए [जाने पर] अवन्तिराजपुत्री को जी भरकर देखकर अनिर्वचनीय अवस्था में होने पर [हो जाने पर] कामदेव ने [मुझपर] पांचों वाण गिरा दिये। उन [वाणों] से आज भी हृदय वाण सहित ही है और हम [आज पद्मावती को देखकर] दुबारा से बिंध गये, जब कामदेव 'पञ्चवाण' कहा जाता है तो यह छठा वाण [उसने] कैसे गिराया ? (१)

विदूषक—कहाँ गई भला देवी पद्मावती ? लतागृह में गई हों, अथवा असन [जीवक]

वन्धुजीवकः" इत्यमरः। 'वात' इति पाठे विरलेन मन्देन पवनेन, हेतुना, प्रचितानि पतितानि च यानि कुसुमानि तैः रमणीयं प्रमदवनम्। शोभायामुभयमपि निमित्तम्।

मयि उज्जयिनीं प्रद्योतराजधानीं गते सति तत्र निवसति सति इति भावः, तदा च अवन्तिराजस्य प्रद्योतस्य तनयां पुत्रीं वासवदत्तां स्वैरं यथेच्छं दृष्ट्वा अवलोक्य कामप्यवस्थामनिर्वचनीयामवस्थां गते प्राप्ते सति कामेन मनोभवेन पञ्चेषवः पञ्चवाणाः "अरविन्दमशोकञ्च चूतञ्च नवमल्लिका। नीलोत्पलञ्च पञ्चैते पञ्चवाणस्य सायकाः" पातिताः प्रक्षिप्ताः, तैश्च कामपातितैर्वाणैः अद्यापि हृदयं सशल्यं शल्येन कीलकेन सहितमेव वर्तते। भूयश्च वयं विद्धाः पुनरपि च वयं कामेन स्वकीयैर्वाणैः पद्मावतीमुद्दिश्य ताडिताः। यदा मदनः मनोभवः पञ्च इषवः यस्य तादृश एव कथ्यते तदा अयं पष्ठः शरः कथं पातितः इत्याशङ्का। उपरतायामपि वासवदत्तायां प्रेमातिशयो व्यन्यते। वृत्तं शार्दूलविक्रीडितम्।१।

लतामण्डपं लतापिहितगृहम्, लताप्रचुरो मण्डपस्तम्, उताहो इति वितर्के।

असनकुसुमसञ्चितं व्याघ्रचर्मावगुण्ठितमिव पर्वततिलकं नाम शिलापट्टकं गता भवेद्, अथवा अधिककटुकगन्धसप्तच्छदवनं प्रविष्टा भवेद्, अथवाऽऽलिखितमृगपक्षिसङ्कुलं दारुपर्वतकं गता भवेत्। (ऊर्ध्वमवलोक्य) ही ही! शरत्कालनिर्मलेऽन्तरिक्षे प्रसादितबलदेवबाहुदर्शनीयां सारसपङ्क्तिं यावत् समाहितं गच्छन्तीं प्रेक्षतां तावद् भवान्। [कहिं णु खु गदा तत्तहोदी पदुमावदी ? लदामंडवं गदा भवे, उदाहो असणकुसुमसञ्चिदं वग्घचम्मावगुंठिदं विअ पव्वदतिलअं गदा भवे, आदु अधिअकडुअगंधसत्तच्छदवणं पविट्टा भवे, अहवा आलिहिदमिअपक्खिसंकुलं दारुपव्वदअं गदा भवे ? ही ही सरअकालणिम्मले अंतरिक्खे पसादिअबलदेवबाहुदंसणीअं सारसपंतिं जाव समाहिदं गच्छंतिं पेक्खदु दाव भवं।]

राजा—वयस्य ! पश्याम्येनाम्।

> ऋज्वायतां च विरलां च नतोन्नतां च
> सप्तर्षिवंशकुटिलां च निवर्तनेषु।
> निर्मुच्यमानभुजगोदरनिर्मलस्य
> सीमामिवाम्बरतलस्य विभज्यमानाम् ॥२॥

चेटी—पश्यतु पश्यतु भर्तृ-दारिका एतां कोकनदमालापाण्डुररमणीयां सारसपङ्क्तिं यावत् समाहितं गच्छन्तीम्। अहो भर्ता। [पेक्खदु पेक्खदु भट्टिदारिआ एदं कोकणदमालापंडररमणीअं सारसपंतिं जाव समाहिदं गच्छंतिं। अम्मो भट्टा।]

पद्मावती—हम्। आर्यपुत्रः ? आर्ये ! तव कारणादार्यपुत्रदर्शनं परिहरामि। तदिमं तावन्माधवीलतामण्डपं प्रविशामः ! [हं। अय्यउत्तो ? अय्ये ! तव कारणादो अय्यउत्तदंसणं परिहरामि। ता इमं दाव माहविलदामंडवं पविसामो।]

वासवदत्ता—एवं भवतु। [एव्वं होदु।]

(तथा कुर्वन्ति।)

असनकुसुमैः जीवकपुष्पैः जीवकपुष्पाणि पीतवर्णानि भवन्ति। सञ्चितमाच्छादितमत एव व्याघ्रस्य चर्मणा वेष्टितमिवेत्युत्प्रेक्षा। पर्वततिलकमिति शिलापट्टकस्याभिधानम्। शिलापट्टकः कृष्णवर्णः पुष्पाणि च पीतवर्णानि अत एव व्याघ्रचर्मावगुण्ठितमिवेत्युक्तिः। अतिकटुकः तीक्ष्ण इति यावत् गन्ध आमोदो येषां ते सप्तच्छदवृक्षाः सप्तपर्णवृक्षास्तेषां वनं तत्र प्रविष्टा भवेत् 'सप्तपर्णो विशालत्वक् शारदो विषमच्छदः' इत्यमरः। दारुपर्वतकः दारुणः काष्ठस्य ह्रस्वः पर्वतः इति पर्वतकः 'ह्रस्वे' इत्यनेन कन् तत्र, पर्वतविशेषणञ्च—आलिखिताः आसमन्तात् चित्रिताः ये मृगाः पशवः

के फूलों से व्याप्त [अतएव] बाघ के चमड़े से मढ़े हुए से 'पर्वततिलक' नामक शिलापट्ट पर गई हों, अथवा बहुत तीखी गंधवाले सप्तछद [वृक्षों के] वन में प्रविष्ट हुई हों, अथवा चित्रित पशु-पक्षियों से व्याप्त काष्ठ-पर्वत [लकड़ी से बनायी गई पहाड़ी] पर गई हों, (ऊपर देखकर) अहा हा ! शरत्काल के निर्मल आकाश में, स्वच्छ बलदेव की भुजाओं-जैसी सुन्दर, समरूप में जाती हुई सारस पंक्ति को तो आप देखें।

राजा—मित्र ! इसे देख रहा हूँ।

सीधी और फैली हुई, पतली, झुकी हुई और उठी हुई और मोड़ों[घुमों]में सप्तर्षिवंश जैसी टेढ़ी, छोड़ी हुई सांप की केंचुली जैसे धवल [स्वच्छ] आकाश-प्रदेश की विभाजक सीमा जैसी [इस सारस-पंक्ति को देखता हूँ]। (२)

चेटी—देखो देखो राजकुमारी हल्का पीलापन लिए सफेद कमल की माला [जैसी] पिलही, सुन्दर समरूप से जाती हुई इस सारस पांत को [देखो]—अरे स्वामी।

पद्मावती—हूँ आर्यपुत्र ? आर्ये ! तुम्हारे कारण से आर्यपुत्र के दर्शन को छोड़ती हूँ। तो चलो इस माधवीलताकुञ्ज में चलें ।

वासवदत्ता—ऐसा ही सही।

(वैसा करती हैं।)

पक्षिणश्च तैः सङ्कुलम् व्याप्तम् । ही ही इति प्रमोदोद्गारे । शरत्काले शरत्समये निर्मले मेघाभावात् स्वच्छे अन्तरिक्षे आकाशे प्रसादितौ स्वच्छौ, 'प्रसाधितौ' इति पाठे चन्दनादिना अलङ्कृतौ इत्यर्थः, 'प्रसारितौ' इति पाठे च विस्तारितौ इत्यर्थः, यौ बलदेवस्य कृष्णाग्रजस्य बाहू भुजौ तौ इव दर्शनीयां मनोहरां समाहितं समभावं भङ्गादिरहितं यथा स्यात्तथा गच्छन्तीं सारसानां पक्षिविशेषाणां पंक्ति श्रेणीं पश्यतु भवान्।

ऋजुः सरला आयता दीर्घा च तां ऋज्वायतां सरलदीर्घाम्, विरलाम् क्वचित् क्वचित् सावकाशाम्, नतोन्नताञ्च नता निम्नी भूता च उन्नता उच्चैःभूता च ताम्, निवर्तनेषु (निवृत्+ल्युट्) विवलनेषु घूर्णनेषु इति यावत् सप्तर्षीणां वंशः समूहः तदाख्यस्तारकगणः तमिव कुटिलां वक्राम् "मरीचिरङ्गिरा अत्रिः पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः। वसिष्ठश्चेति सप्तैते ज्ञेयाश्चित्रशिखण्डिनः॥" निर्मुच्यमानः कञ्चुकात् निर्गच्छन् यो भुजगः सर्पः तस्य उदरमिव निर्मलं स्वच्छमतीव धवलमिति यावत् यदम्बरतलमाकाशपृष्ठं तस्य विभज्यमानां द्वौ विभागौ कुर्वतीं सीमामिव मर्यादारेखामिवेत्युत्प्रेक्षा। एनां पश्यामि इत्यनेन सहान्वयः। पूर्वार्द्धे स्वभावोक्तिरुत्तरार्द्धे चोत्प्रेक्षालङ्कारः। वृत्तञ्च वसन्ततिलका ।२।

कोकनदानां रक्तकमलानाम् (कोकान् चक्रवाकान् नदति नादयतीति तत्,

विदूषकः—तत्रभवती पद्मावतीहागत्य निर्गता भवेत् । [तत्तहोदी पदुमावदी इह आअच्छिअ णिग्गदा भवे ।]

राजा—कथं भवान् जानाति ?

विदूषकः—इमानवचितकुसुमान् शेफालिकागुच्छकान् प्रेक्षतां तावद् भवान् ।[इमाणि अवइदकुसुमाणि सेफालिआगुच्छआणि पेक्खदु दाव भवं ।]

राजा—अहो विचित्रता कुसुमस्य वसन्तक !

वासवदत्ता—(आत्मगतम्) वसन्तकसंकीर्तनेनाहं पुनर्जानामि उज्जयिन्यां वर्त इति [वसंतअसंकित्तणेण अहं पुण जाणामि उज्जइणीए वत्तामि त्ति ।]

राजा—वसन्तक ! अस्मिन्नेवासीनौ शिलातले पद्मावतीं प्रतीक्षिष्यावहे ।

विदूषकः—भोस्तथा (उपविश्योत्थाय) ही ही शरत्कालतीक्ष्णो दुःसह आतपः । तदिमं तावन्माधवीमण्डपं प्रविशावः । [भो तह ! ही ही सरअकालतिक्खो दुस्सहो आदवो । ता इमं दाव माहवीमंडवं पविसामो ।]

राजा—बाढम्, गच्छाग्रतः ।

विदूषकः—एवं भवतु । [एव्वं होदु ।]

(उभौ परिक्रामतः ।

पद्मावती—सर्वमाकुलं कर्तुकाम आर्यवसन्तकः । किमिदानीं कुर्मः ? [सव्वं आउलं कत्तुकामो अय्यवसंतओ । किं दाणि करेम्ह ?]

चेटी—भर्तृ-दारिके ! एतां मधुकरपरिनिलीनामवलम्बलतामवधूय भर्तारं वारयिष्यामि । [भट्टिदारिए ! एदं महुअरपरिणिलीणं ओलंबलदं ओधूय भट्टारं वारइस्सं ।]

पद्मावती—एवं कुरु । [एव्वं करेहि ।]

(चेटी तथा करोति ।)

विदूषकः—अविधा अविधा तिष्ठतु तिष्ठतु तावत् भवान् [अविहा अविहा चिट्ठदु चिट्ठदु दाव भवं ।]

राजा—किमर्थम् ?

विदूषकः—दास्याःपुत्रैर्मधुकरैः पीडितोऽस्मि । [दासीएपुत्तेहिं महुअरेहिं पीडिदो म्हि ।]

राजा—मा मा भावानेवम् मधुकरसंत्रासः परिहार्यः । पश्य—

मधुमदकला मधुकरा मदनार्ताभिः प्रियाभिरुपगूढाः ।
पादन्यासविषण्णा वयमिव कान्तावियुक्ताः स्युः ॥३॥

नद्+अच्) या माला स्रक् सा इव पाण्डुरा चासौ रमणीया च "पाण्डुरस्तु पीतभागार्धः केतकीधूलिसन्निभः" इति शब्दार्णवः । किञ्चित् पीतवर्णमिश्रा धवला

विदूषक—देवी पद्मावती यहाँ आकर निकल गई हों।
राजा—आप कैसे जानते हैं ?
विदूषक—इन फूल-चुने शेफालिका-गुच्छकों को आप देखें।
राजा—अहो फूलों का रंगविरंगापन, वसन्तक !
वासवदत्ता—(स्वगत)'वसन्तक' उच्चारण से फिर से मुझे लगता है जैसे उज्ज़यिनी में हूँ।
राजा—वसन्तक ! इसी शिलातल पर बैठे हुए पद्मावती की प्रतीक्षा करते हैं।
विदूषक—ठीक है। (बैठकर, उठकर) ओह शरद् ऋतु का तीखा घाम असह्य है। तो चलो इस माधवी-कुञ्ज में चलें।
राजा—ठीक है। चलो आगे।
विदूषक—ऐसा ही सही।

(दोनों घूमते हैं।)

पद्मावती—सब चौपट करना चाहता है आर्य वसन्तक। अब क्या करें ?
चेटी—राजकुमारी ! इस भौरों से व्याप्त मुख्य लता को हिलाकर स्वामी को रोकती हूँ।
पद्मावती—ऐसा करो।

(चेटी वैसा करती है।)

विदूषक—बचाओ बचाओ। रुको रुको आप।
राजा—किस लिए ?
विदूषक—दासीपुत्र भौरों से परेशान हूँ।
राजा—नहीं नहीं आप ऐसा [मत करो]। मधुकरों को डराना नहीं चाहिए। देखो—

मधु के मद से अस्पष्ट गुञ्जार करते हुए, कामपीड़ित प्रियाओं से आलिङ्गित भौंरे पद-चाप [पैरों की आहट] से डरे हुए, हमारी तरह कान्तावियुक्त हो जायेंगे। (३)

चासौ शोभनीया च तां समाहितं यथा स्यात्तथा गच्छन्तीं सारसपङ्क्ति पश्यतु। कोकनदशब्दो यद्यप्यत्र रक्तकमलपरः तथाप्यत्र 'पाण्डुर' शब्दबलात्, अन्यच्च सारसाणामुपमानभूतत्वात् कमलसामान्यपरः इत्यवगन्तव्यम्। शरत्काले तीक्ष्णस्तीव्रः अत एव दुःसहः आतपो घर्मः। सर्वम् आकुलीकर्तुकामः विघातयितुमुद्यतः। अवलम्बभूतां लतान्तराश्रयभूतां प्रधानलतामित्यर्थः। अविधा अविधा रक्षणार्थकमव्ययम्। संत्रासो भयम्। परिहार्यः दूरीकरणीयः।

तस्मादिहैवासिष्यावहे ।

विदूषकः—एवं भवतु । [एव्वं होदु ।]

(उभावुपविशतः ।)

राजा—(अवलोक्य)—

पादाक्रान्तानि पुष्पाणि सोष्म चेदं शिलातलम् ।
नूनं काचिदिहासीना मां दृष्ट्वा सहसा गता ॥

चेटी—भर्तृ-दारिके ! रुद्धाः खलु स्मो वयम् । [भट्टिदारिए रुद्धा खु म्ह वयं ।]
पद्मावती—दिष्ट्योपविष्ट आर्यपुत्रः । [दिट्ठिआ उवविट्ठो अय्यउत्तो ।]
वासवदत्ता—(आत्मगतम्) दिष्ट्या प्रकृतिस्थशरीर आर्यपुत्रः । [दिट्ठिआ पकिदित्थसरीरो अय्यउत्तो ।]
चेटी—भर्तृ-दारिके ! साश्रुपाता खल्वार्याया दृष्टिः [भट्टिदारिए ! सस्सुपादा खु अय्याए दिट्ठी ।]
वासवदत्ता—एषा खलु मधुकराणामविनयात् काशकुसुमरेणुना पतितेन सोदका मे दृष्टिः । [एसा खु महुअराणं अविणआदो कासकुसुमरेणुणा पडिदेण सोदआ मे दिट्ठी ।]
पद्मावती—युज्यते । [जुज्जइ ।]
विदूषकः—भोः ! शून्यं खल्विदं प्रमदवनम् । प्रष्टव्यं किञ्चिदस्ति । पृच्छामि भवन्तम् । [भो सुण्णं खु इदं पमदवणं । पुच्छिदव्वं किंचि अत्थि । पुच्छामि भवंतं ।]
राजा—छन्दतः ।
विदूषकः—का भवतः प्रिया, तदानीं तत्रभवती वासवदत्ता इदानीं पद्मावती वा ? [का भवदो पिआ, तदाणि तत्तहोदी वासवदत्ता इदाणि पदुमावदी वा ?]
राजा—किमिदानीं भवान् महति बहुमानसङ्कटे मां न्यस्यति ?
पद्मावती—हला ! यादृशे सङ्कटे निक्षिप्त आर्यपुत्रः । [हळा ! जादिसे संकडे निक्खित्तो अय्यउत्तो ।]
वासवदत्ता—(आत्मगतम्) अहं च मन्दभागा । [अहं अ मंदभाआ ।]

मदनार्ताभिः मदनेन मन्मथेन आर्ताभिः पीडिताभिः प्रियाभिः उपगूढाः आलिङ्गिताः । मधुमदकलाः मधुनः पुष्परसस्य यो मदस्तेन कलः मधुरास्पष्टध्वनिर्येषां तथाभूताः मधुरमस्पष्टं गुञ्जन्तः इत्यर्थः "ध्वनौ तु मधुरास्फुटे कलः" इत्यमरः । मधुकराः द्विरेफाः, अस्माकं पादन्यासेन पादक्षेपेण विषण्णाः खिन्नाः (वि+सद्+क्त) सन्तः इति शेषः, वयमिव यथा अहं तथैव कान्ताः प्रियास्ताभिर्वियुक्ता विरहिताः स्युः भवेयुः । आर्या वृत्तम् ।३।

विदूषकः—स्वैरं स्वैरं भणतु भवान्। एकोपरता, अपराऽसन्निहिता। [सेरं सेरं भणादु भवं। एक्का उवरदा, अवरा असण्णिहिदा।]
राजा—वयस्य ! न खलु न खलु श्रूयाम्। भवांस्तु मुखरः।
पद्मावती—एतावता भणितमार्यपुत्रेण। [एत्तएण भणिदं अय्यउत्तेण।]
विदूषकः—भोः ! सत्येन शपामि कस्मा अपि नाख्यास्ये। एषा संदष्टा मे जिह्वा। [भो ! सच्चेण सवामि कस्स वि ण आचक्खिस्सं। एसा संदट्ठा मे जीहा।]
राजा—नोत्सहे सखे ! वक्तुम्।
पद्मावती—अहो ! अस्य पुरोभागिता। एतावता हृदयं न जानाति। [अहो ! इमस्स पुरोभाइदा। एत्तिएण हिअअं ण जाणादि।]
विदूषकः—किं न भणति मम ? अनाख्यायास्माच्छिलापट्टकान्न शक्यमेकपदमपि गन्तुम्। एष रुद्धोऽत्रभवान्। [किं ण भणादि मम ? अणाचक्खिअ इमादो सिळावट्टआदो ण सक्कं एक्कपदं वि गमिदुं। एसो रुद्धो अत्तभवं।]

राजा—किं बलात्कारेण ?

विदूषकः—आम्, बलात्कारेण। [आम, बळक्कारेण।]

राजा—तेन हि पश्यामस्तावत्।

विदूषकः—प्रसीदतु प्रसीदतु भवान्। वयस्यभावेन शापितोऽसि यदि सत्यं न भणसि। [पसीददु पसीददु भवं। वअस्सभावेण साविदो सि जइ सच्चं ण भणासि]

राजा—का गतिः। श्रूयताम्—

> **पद्मावती बहुमता मम यद्यपि रूपशीलमाधुर्यैः।**
> **वासवदत्ताबद्धं न तु तावन्मे मनो हरति ॥४॥**

वासवदत्ता—(आत्मगतम्) भवतु भवतु। दत्तं वेतनमस्य परिखेदस्य। अहो अज्ञातवासोऽप्यत्र बहुगुणः सम्पद्यते। [भोदु भोदु। दिण्णं वेदणं इमस्स परिखेदस्स। अहो अञ्ञादवासं पि एत्थ बहुगुणं संपज्जइ।]
चेटी—भर्तृ-दारिके ! अदाक्षिण्यः खलु भर्ता। [भट्टिदारिए अदक्खिञ्ञो खु भट्टा।]
पद्मावती—हला मा मैवम्। सदाक्षिण्य एवार्यपुत्रः य इदानीमप्यार्याया वासव-

---

असन्निहिता असमीपस्था। उपरता मृता। मुखरः वाचालः, अनियन्त्रितजिह्वः। सत्येन शपामि सत्यं प्रमाणीकृत्य शपथं करोमि। संदष्टा दन्तपीडनेन नियन्त्रिता इत्यर्थः। पुरोभागिता (पुरोभागिन् + तल्) निर्बन्ध आग्रह इत्यर्थः। बलात्कारेण प्रसभेन "प्रसभं तु बलात्कारो हठः" इत्यमरः।

विदूषक—निःसंकोच कहिए आप। एक मर गई, दूसरी पास नहीं है।

राजा—मित्र ! नहीं नहीं मैं नहीं कहूँगा। तुम तो वाचाल हो।

पद्मावती—इससे आर्यपुत्र ने कह दिया।

विदूषक—महाराज ! सत्य की सौगन्ध, किसी से भी नहीं कहूँगा। यह मेरी जिह्वा संदष्ट हुई [दाँतों से जीभ काटी]।

राजा—मित्र ! कहने को उत्साहित नहीं हो रहा हूँ।

पद्मावती—अहो इसका हठ। इतना [कह देने] से हृदय को नहीं जानता है।

विदूषक—क्या मुझसे नहीं कहते हो ? बिना कहे इस शिलापट्ट से एक कदम भी नहीं जा सकते। यह आप अवरुद्ध हुए।

राजा—क्या जबरदस्ती ?

विदूषक—हां, जबरदस्ती।

राजा—तो फिर देखते हैं [कौन जीतता है]।

विदूषक—प्रसन्न होवें, आप प्रसन्न होवें। मैत्री की सौगन्ध यदि सत्य नहीं कहते हो।

राजा—क्या चारा [है]। सुनो।

यद्यपि रूप, शील [और] माधुर्य [के कारण] से पद्मावती मुझे बहुत मान्य है, किन्तु वासवदत्ता में बँधे हुए मेरे मन को तो नहीं खींच पाती है। (४)

वासवदत्ता—(स्वगत) बस बस, इस कष्ट का मूल्य दे दिया। अहो यहाँ अज्ञातवास भी बहुत गुणों [अच्छाई] वाला हो रहा है।

चेटी—राजकुमारी ! निश्चय ही स्वामी अशिष्ट हैं।

पद्मावती—सखी ! नहीं नहीं ऐसा नहीं। आर्यपुत्र शिष्ट ही हैं, जो अब भी आर्या

यद्यपि रूपं सौन्दर्यं, शीलं स्वभावः, माधुर्यं वचसः रम्यत्वञ्च तैः पद्मावती मम बहुमता अत्यर्थं प्रिया तथापि वासवदत्तायां बद्धमासक्तं मे मनस्तावद् न हरति न अपकर्षति। अद्यापि वासवदत्तायामेवासक्तं मे मनः इत्यर्थः। "क्तस्य च वर्तमाने" २-३-६७ इत्यनेन वर्तमानार्थक क्त योगे [मम] षष्ठी विभक्तिः। आर्या वृत्तम्।४।

अस्य परिखेदस्य विरहेऽनुभूयमानस्य दुःखस्य वेतनं मूल्यं दत्तम्, आर्यपुत्रेण आसक्तिं प्रकटयता इत्यर्थः। अत्र अस्यामवस्थायामज्ञातवासोऽपि गुप्तवासोऽपि बहुगुणः अनेकफलसंयुक्तः सम्पद्यते। अदाक्षिण्यः दाक्षिण्यगुणरहितः। दाक्षिण्यञ्चोक्तं साहित्य-दर्पणे—"एषु (नायकेषु) त्वनेकमहिलासमरागो दक्षिणः कथितः।" ३-३५। द्वित्रासु त्रिचतुरासु वा नायिकासु तुल्याऽनुरागो दक्षिणनायक इत्यर्थः। अथवा परच्छन्दानु-वर्तित्वं दाक्षिण्यम्। तथा न भवति यः सोऽदाक्षिण्यः।

दत्ताया गुणान् स्मरति । [हळा ! मा मा एव्वं । सदक्खिञ्ञो एव्व अय्यउत्तो जो इदाणिं वि अय्याए वासवदत्ताए गुणाणि सुमरदि ।]

वासवदत्ता—भद्रे ! अभिजनस्य सदृशं मन्त्रितम् । [भद्दे ! अभिजणस्स सदिसं मतिदं ।]

राजा—उक्तं मया । भवानिदानीं कथयतु । का भवतः प्रिया, तदा वासवदत्ता इदानीं पद्मावती वा ?

पद्मावती—आर्यपुत्रोऽपि वसन्तकः संवृत्तः । [अय्यउत्तो पि वसंतओ संवुत्तो ।]

विदूषकः—किं मे विप्रलपितेन ? उभे अपि तत्रभवत्यौ मे बहुमते । [किं मे विप्पळविदेण ? उभओ वि तत्तहोदीओ मे बहुमदाओ ।]

राजा—वैधेय ! मामेवं बलाच्छ्रुत्वा किमिदानीं नाभिभाषसे ?

विदूषकः—किं मामपि बलात्कारेण ? [किं मं पि बळक्कारेण ?]

राजा—अथ किम् ? बलात्कारेण ।

विदूषकः—तेन हि न शक्यं श्रोतुम् । [तेन हि ण सक्कं सोदुम् ।]

राजा—प्रसीदतु प्रसीदतु महाब्राह्मणः । स्वैरं स्वैरमभिधीयताम् ।

विदूषकः—इदानीं शृणोतु भवान् । तत्रभवती वासवदत्ता मे बहुमता । तत्रभवती पद्मावती तरुणी दर्शनीया अकोपना अनहंकारा मधुरवाक् सदाक्षिण्या । अयं चापरो महान् गुणः, स्निग्धेन भोजनेन मां प्रत्युद्गच्छति 'कुत्र नु खलु गत आर्यवसन्तक' इति । [इदाणिं सुणादु भवं । तत्तहोदी वासवदत्ता मे बहुमदा । तत्तहोदी पदुमावदी तरुणी दंसणीआ अकोवणा अणहक्कारा महुरवाआ सदक्खिञ्ञा । अअं च अवरो महंतो गुणो, सिणिद्धेण भोअणेण मं पच्चुग्गच्छइ 'कहिं णु खु गदो अय्यवसंतओ' त्ति ।]

वासवदत्ता—भवतु भवतु वसन्तक ! स्मरेदानीमेतत् । [भोदु भोदु वसंतअ ! सुमरेहि दाणिं एदं ।]

राजा—भवतु भवतु वसन्तक ! सर्वमेतत् कथयिष्ये देव्यै वासवदत्तायै ।

विदूषकः—अविधा वासवदत्ता । कुत्र वासवदत्ता ? चिरात् खलूपरता वासवदत्ता । [अविहा वासवदत्ता । कहिं वासवदत्ता ? चिरा खु उवरदा वासवदत्ता ।]

राजा—(सविषादम्) एवम्, उपरता वासवदत्ता । वयस्य !

अनेन परिहासेन व्याक्षिप्तं मे मनस्त्वया ।
ततो वाणी तथैवेयं पूर्वाभ्यासेन निस्सृता ॥५॥

पद्मावती—रमणीयः खलु कथायोगो नृशंसेन विसंवादितः । [रमणीओ खु कहा-

वासवदत्ता के गुणों को याद करते हैं।

वासवदत्ता—भद्रे ! कुलीनता के अनुकूल ही [तुमने] कहा।

राजा—मैंने कह दिया। अब आप भी कहो। कौन तुम्हें प्रिय है, तब वासवदत्ता अथवा अब पद्मावती ?

पद्मावती—आर्यपुत्र भी वसन्तक हो गये।

विदूषक—मेरे कहने [प्रलाप] से क्या ? मुझे तो दोनों ही देवियाँ बहुत मान्य हैं।

राजा—वैधेय ! मुझसे ऐसे बलपूर्वक सुनकर अब [तुम] क्यों नहीं कहते हो ?

विदूषक—क्या मुझसे भी जबरदस्ती से [पूछोगे] ?

राजा—और क्या, जबरदस्ती से [पूछेंगे]।

विदूषक—तो फिर सुन नहीं सकते।

राजा—प्रसन्न होवो महाब्राह्मण ! प्रसन्न होवो। स्वेच्छापूर्वक कहो।

विदूषक—अब आप सुनो। देवी वासवदत्ता मुझे बहुत मान्य हैं। देवी पद्मावती युवती, सुन्दर, अक्रोधी, अहङ्कार-रहित, मधुरभाषी, [और] उदार है। और यह दूसरा महान् गुण है "आर्य वसन्तक कहाँ गया" इस प्रकार [कहती हुई] स्निग्ध भोजन से मुझे सन्मुख आकर सम्मानित करती है।

वासवदत्ता—अच्छा-अच्छा वसन्तक ! अब याद करो यह सब।

राजा—अच्छा-अच्छा वसन्तक ! यह सब देवी वासवदत्ता से कहूँगा।

विदूषक—हाय वासवदत्ता, कहाँ है वासवदत्ता ? समय बीता वासवदत्ता मर गई।

राजा—[कष्ट सहित) ऐसा, मर गई वासवदत्ता। मित्र !

तुमने इस परिहास से मेरे मन को व्याकुल कर दिया। इस लिए पहले के अभ्यास के कारण यह बात वैसे ही निकल गई। (५)

पद्मावती—रमणीय कथाप्रसंग क्रूर [विदूषक] ने अन्यथा कर दिया [बिगाड़ दिया]।

अकोपना कोपरहिता। सदाक्षिण्या उदारा, सुसंस्कृता, शिष्टाचारयुता इत्यर्थः, (दक्षिणस्य भावः, 'ष्यञ्' प्रत्यये रूपम्)। स्निग्धेन भोजनेन स्वादिष्टेन भोजनेन ('हेतौ' इत्यनेन तृतीया) प्रत्युद्गच्छति सम्मुखमागत्य सम्भावयति (भूतार्थे वर्तमानता)।

अनेन परिहासेन प्रीतिविषयकेण नर्मप्रसङ्गेन "द्रवकेलिपरीहासाः क्रीडा खेला च नर्म च" इत्यमरः। मे मनस्त्वया व्याक्षिप्तमन्यथावृत्ति कृतम्। ततस्तस्माद् हेतोः पूर्वाभ्यासेन वासवदत्ताकाले योऽभ्यासस्तेन तथैवेयं वाणी निस्सृता मुखाद् वहिर्निर्गता। यथा पूर्वं वासवदत्ताविरुद्धं किमपि श्रुत्वा 'तस्यै कथयिष्ये' तथैव "सर्वमेतत् कथयिष्ये देव्यै वासवदत्तायै" इतीयं वाणी मुखाद् निर्गता। अनुष्टुप् वृत्तम्।५।

नृशंसेन क्रूरेण विसंवादितः अन्यथाकृतः। अनतिक्रमणीयः अनुल्लंघनीयः।

जोग्रो णिसंसेण विसंवादिग्रो ।]

वासवदत्ता—(ग्रात्मगतम्) भवतु भवतु विश्वस्तास्मि । ग्रहो ! प्रियं नाम ईदृशं वचनमप्रत्यक्षं श्रूयते । [भोदु भोदु विस्सत्थम्हि । ग्रहो ! पिग्रं णाम ईदिसं वग्रणं ग्रप्पच्चक्खं सुणीग्रदि ।]

विदूषकः—धारयतु धारयतु भवान् । ग्रनतिक्रमणीयो हि विधिः । ईदृशमिदानीमेतत् । [धारेदु धारेदु भवं । ग्रणदिक्कमणीग्रो हि विही । ईदिसं दाणि एदं ।]

राजा—वयस्य ! न जानाति भवानवस्थाम् । कुतः—

> दुःखं त्यक्तुं बद्धमूलोऽनुरागः
> स्मृत्वा स्मृत्वा याति दुःखं नवत्वम् ।
> यात्रा त्वेषा यद् विमुच्येह बाष्पं
> प्राप्तानृण्या याति बुद्धिः प्रसादम् ॥६॥

विदूषकः—ग्रश्रुपातविलन्नं खलु तत्रभवतो मुखम् । यावन्मुखोदकमानयामि । [ग्रस्सुपादकिळिण्णं खु तत्तहोदो मुहं । जाव मुहोदग्रं ग्राणेमि ।]

(निष्क्रान्तः ।)

पद्मावती—ग्रार्ये ! वाष्पाकुलपटान्तरितमार्यपुत्रस्य मुखम् । यावन्निष्क्रामामः । [ग्रय्ये ! वप्फाउलपडंतरिदं ग्रय्यउत्तस्स मुहं । जाव णिक्कमम्ह ।]

वासवदत्ता—एवं भवतु । ग्रथवा तिष्ठ त्वम् । उत्कण्ठितं भर्तारमुज्झित्वायुक्तं निर्गमनम् । ग्रहमेव गमिष्यामि । [एव्वं होदु । ग्रहव चिट्ठ तुवं । उक्कंठिदं भत्तारं उज्झिग्र ग्रजुत्तं णिग्गमणं । ग्रहं एव्वं गमिस्सं ।]

चेटी—सुष्ठ्वार्या भणति । उपसर्पतु तावत् भर्तृ-दारिका । [सुट्ठु ग्रय्या भणादि । उपसप्पदु दाव भट्टिदारिग्रा ।]

पद्मावती—किं नु खलु प्रविशामि ? [किं णु खु पविसामि ?]

वासवदत्ता—हला ! प्रविश । [हला ! पविस ।] (इत्युक्त्वा निष्क्रान्ता ।)

(प्रविश्य)

विदूषकः—(नलिनीपत्रेण जलं गृहीत्वा) एषा तत्रभवती पद्मावती । (एसा तत्तहोदी पदुमावदी ।]

पद्मावती—ग्रार्य वसन्तक ! किमेतत् ? [ग्रय्य वसंतग्र ! किं एदं ?]

विदूषकः—एतदिदम् । इदमेतत् । [एदं इदं । इदं एदं ।]

पद्मावती—भणतु भणत्वार्यो भणतु । [भणादु भणादु ग्रय्यो भणादु ।]

विदूषकः—भवति ! वातनीतेन कासकुसुमरेणुनाक्षिनिपतितेन साश्रुपातं खलु तत्र-भवतो मुखम् । तद् गृह्णातु भवतीदं मुखोदकम् । [भोदि ! वादणीदेण कासकुसुम-

---

बद्धमूलः बद्धं मूलं यस्य स दृढमवस्थितः, ग्रनुरागः प्रेम दुःखं दुःखपूर्वकं

वासवदत्ता—(स्वगत) बस-बस विश्वस्त हो गई। अहो कितना प्रिय है [जो] ऐसी बात परोक्ष में सुन रही हूँ।

विदूषक—आप आश्वस्त हों, आश्वस्त हों। निश्चय ही भाग्य अलंघ्य है। अब यह ऐसा [ही] है।

राजा—मित्र ! आप [मेरी] अवस्था को नहीं जानते हो। क्योंकि—

बद्धमूल प्रेम को छोड़ना कठिन है। स्मरण कर-करके दुःख नवीनता को प्राप्त होता है। यह तो व्यवहार [लोक-चलन] है कि यहाँ आँसू बहाकर [छोड़ कर] उऋण हुआ मन प्रसन्न हो लेता है। (६)

विदूषक—महाराज का मुख आँसू गिरने से गीला हो गया है। तो मैं मुंह [धोने] के लिए जल लाता हूँ।

(निकल गया।)

पद्मावती—आर्ये ! आर्यपुत्र का मुख आँसुओं से पूरित, [अत एव मानो] वस्त्राच्छादित है। तो चलो निकलें।

वासवदत्ता—ऐसा ठीक है। अथवा तुम ठहरो। व्याकुल पति को छोड़ कर चले जाना उचित नहीं। मैं ही जाऊँगी।

चेटी—आर्या ठीक कहती है। राजकुमारी आगे बढ़िए।

पद्मावती—क्या मैं [आर्यपुत्र के पास] जाऊँ ? [प्रवेश करूँ]।

वासवदत्ता—सखी ! जाओ [प्रवेश करो]।

(ऐसा कह कर निकल गई।)

(प्रवेश करके)

विदूषक—(कमलिनी के पत्ते से [में] जल लेकर) यह देवी पद्मावती ?

पद्मावती—आर्य वसन्तक ! यह क्या है ?

विदूषक—वह यह, यह वह—

पद्मावती—कहो कहो आर्य, कहो।

विदूषक—देवी ! हवा से उड़ाए गये, आँख में गिरे हुए काश-पुष्प की धूलि से महा-

---

कठिनं यथा स्यात्तथा त्यक्तुं परित्यक्तुं शक्य इति शेषः। यद्वा त्यक्तुं न शक्यते। दुःखं प्रियजनवियोगविषयकं, प्रियं स्मृत्वा स्मृत्वा पौनःपुन्येन स्मृत्वा (दुःखं) नवत्वं नूतनत्वं याति प्राप्नोति। एषा तु यात्रा लोकव्यवहारो यत् इह जगति संसारे बाष्पमश्रूणि विमुच्य विसृज्य, प्राप्तं लब्धमानृण्यम् ऋणाभावो यया सा बुद्धिः प्रसादं याति शान्तिमुद्वेगराहित्यमित्यर्थः, प्राप्नोति। शालिनी वृत्तम्।६।

अश्रुपातेन क्लिन्नमार्द्रम्। मुखार्थमुदकमिति मुखोदकम् (शाकपार्थिवादिवत् समासः) अथवा मुखाय उदकमिति मुखोदकम् (चतुर्थीतत्पुरुषः) मुखप्रक्षालनार्थं जलमित्यर्थः। उत्कण्ठितम् दुःखपर्याकुलम्।

रेणुणा अक्खिणिपडिदेण सस्सुपादं खु तत्तहोदो मुहं । ता गण्हदु होदी इदं मुहोदअं ।]

पद्मावती—(आत्मगतम्) अहो सदाक्षिण्यस्य जनस्य परिजनोऽपि सदाक्षिण्य एव भवति । (उपेत्य) जयत्वार्यपुत्रः । इदं मुखोदकम् । [अहो सदक्खिञ्ञस्य जणस्स परिजणो वि सदक्खिञ्ञो एव्व होदि । जेदु अय्यउत्तो । इदं मुहोदअं ।]

राजा—अये पद्मावती । (अपवार्य) वसन्तक ! किमिदम् ?

विदूषकः—(कर्णे) एवमिव । [एव्वं विअ ।]

राजा—साधु वसन्तक ! साधु । (आचम्य) पद्मावति ! आस्यताम् ।

पद्मावती—यदार्यपुत्र आज्ञापयति । (उपविशति) [जं अय्यउत्त आणवेदि ।]

राजा—पद्मावति !

> शरच्छशाङ्कगौरेण वाताविद्धेन भामिनि ।
> काशपुष्पलवेनेदं साश्रुपातं मुखं मम ॥७॥

(आत्मगतम्)

> इयं बाला नवोद्वाहा सत्यं श्रुत्वा व्यथां व्रजेत् ।
> कामं धीरस्वभावेयं स्त्रीस्वभावस्तु कातरः ॥८॥

विदूषकः—उचितं तत्रभवतो मगधराजस्यापराह्णकाले भवन्तमग्रतः कृत्वा सुहृज्जन-दर्शनम् । सत्कारो हि नाम सत्कारेण प्रतीष्टः प्रीतिमुत्पादयति । तदुत्तिष्ठतु तावद् भवान् । [उइदं तत्तहोदो मअधराअस्स अवरण्हकाळे भवंतं अग्गदो करिअ सुहिज्जण-दंसणं । सक्कारो हि णाम सक्कारेण पडिच्छिदो पीदिं उप्पादेदि । ता उट्ठेदु दाव भवं ।]

राजा—बाढम् । प्रथमः कल्पः । (उत्थाय)

> गुणानां वा विशालानां सत्काराणां च नित्यशः ।
> कर्तारः सुलभा लोके विज्ञातारस्तु दुर्लभाः ॥९॥

(निष्क्रान्ताः सर्वे ।)

इति चतुर्थोऽङ्कः ।

सदाक्षिण्यस्य दक्षिणनायकस्य, दाक्षिण्यगुणयुक्तस्य वा, सुसंस्कृतस्य शिष्टा-चारयुक्तस्येत्यर्थः ।

भामिनि सुन्दरि ! शरच्छशाङ्कगौरेण शरत्कालीनो यः शशाङ्कः सुधाकरः स इव गौरः शुभ्रस्तेन, वातेन वायुना आविद्धेन आक्षिप्तेन काशपुष्पस्य लवेन अल्पांशेन । परागपरोऽपि लवशब्दः दृश्यते परं काशपुष्पे परागस्याप्रसङ्गाद् पुष्पस्य लघु-कणेन इत्यर्थः । इदं मम मुखं साश्रुपातमश्रुपातेन सहितं वर्तते इति शेषः । अनुष्टुप् छन्दः ।७।

इयं बाला अप्रौढा पद्मावती नवोद्वाहा नूतनपरिणीता, सत्यं श्रुत्वा व्यथां ां व्रजेत् दुःखिता भवेत् । इयं कामम् अत्यन्तं धीरस्वभावा वर्तते तथापि स्त्री-

राज का मुख अश्रुपात से युक्त है। तो आप इस मुँह- [धोने के लिए] जल ल
लीजिए।

पद्मावती—(स्वगत) अहो सुसंस्कृत व्यक्ति का सेवक भी सुसंस्कृत ही होता है
(पास जाकर) आर्यपुत्र की जय हो। यह मुख- [धोने के लिए] जल है।

राजा—अरे पद्मावती। (पद्मावती की ओर से मुँह फेर कर) वसन्तक! यह क्या है

विदूषक—(कान में) इस प्रकार से।

राजा—ठीक है वसन्तक ! ठीक है। (आचमन करके) पद्मावती बैठो।

विदूषक—जैसी आर्यपुत्र आज्ञा करते हैं।

(बैठती है।)

राजा—पद्मावती !

सुन्दरी ! हवा से उड़ाये गये, शरद्-ऋतु के चन्द्रमा-जैसे धवल काश-पु
के कण से यह मेरा मुख अश्रुपात से युक्त है।

(स्वगत) (

यह बाला नवविवाहित है, सत्य को सुनकर दुःखित होगी [पीड़ा को प्रा
होगी]। भले ही यह धैर्यशालिनी है [पर] स्त्री-स्वभाव तो भीरु होता है। (

विदूषक—श्रीमान् मगधराज का अपराह्ण समय में आपके साथ [आप को अ
करके] मित्रजनों से मिलना उचित है। निश्चय से सत्कार, सत्कार के द्वारा आ
होकर ही, प्रेम को उत्पन्न करता है। तो अब आप उठें।

राजा—हाँ, बहुत ठीक विचार है। (उठ कर)—

महान् गुणों के अथवा सत्कारों के करने वाले लोक में सदा सुलभ हैं। प
जानने वाले दुर्लभ हैं। (

(सब निकल गये।)

चतुर्थ अङ्क समाप्त।

अथ पञ्चमोऽङ्कः

(ततः प्रविशति पद्मिनिका ।)

पद्मिनिका—मधुकरिके ! मधुकरिके ! आगच्छ तावच्छीघ्रम् । [महुअरिए ! महुअरिए ! आअच्छ दाव सिग्घं ।]

(प्रविश्य)

मधुकरिका—हला ! इयमस्मि । किं क्रियताम् ? [हळा ! इअम्हि । किं करिअदु ?]

पद्मिनिका—हला ! किं न जानासि त्वं भर्तृ-दारिका पद्मावती शीर्षवेदनया दुःखितेति ? [हळा ! किं न जाणासि त्वं भट्टिदारिआ पदुमावदी सीसवेदणाए दुक्खाविदेत्ति ?]

मधुकरिका—हा धिक् । [हद्धि ।]

पद्मिनिका—हला ! गच्छ शीघ्रमार्यामावन्तिकां शब्दापय । केवलं भर्तृ-दारिकायाः शीर्षवेदनामेव निवेदय । ततः स्वयमेवागमिष्यति । [हळा ! गच्छ सिग्घं अय्यं आवंतिअं सद्दावेहि । केवळं भट्टिदारिआए सीसवेदणं एव्व णिवेदेहि । तदो सअं एव्व आगमिस्सदि ।]

मधुकरिका—हला ! किं सा करिष्यति ? [हळा किं सा करिस्सदि ?]

पद्मिनिका—सा खल्विदानीं मधुराभिः कथाभिर्भर्तृ-दारिकायाः शीर्षवेदनां विनोदयति । [सा खु दाणिं महुराहि कहाहि भट्टिदारिआए सीसवेदणं विणोदेदि ।]

मधुकरिका—युज्यते । कुत्र शयनीयं रचितं भर्तृ-दारिकायाः ? [जुज्जइ । कहिं सअणीअं रइदं भट्टिदारिआए ।]

पद्मिनिका—समुद्रगृहके किल शय्यास्तीर्णा । गच्छेदानीं त्वम् । अहमपि भर्त्रे निवेदनार्थमार्यवसन्तकमन्विष्यामि । [समुद्दगिहके किळ सेज्जात्थिण्णा । गच्छ दाणिं तुवं । अहं वि भट्टिणो णिवेदणत्थं अय्यवसंतअं अण्णेसामि ।]

मधुकरिका—एवं भवतु । [एव्वं होदु ।]

(निष्क्रान्ता)

पद्मिनिका—कुत्रेदानीमार्यवसन्तकं पश्यामि ? [कहिं दाणिं अय्यवसंतअं पेक्खामि ?]

पंचम अङ्क।

(उसके वाद पद्मिनिका प्रवेश करती है।)

पद्मिनिका—मधुकरिका ! मधुकरिका ! आ तो जल्दी।

(प्रवेश करके)

मधुकरिका—सखी ! यह हूँ। क्या किया जाय ?

पद्मिनिका—सखी ! क्या तुम नहीं जानती कि राजकुमारी पद्मावती सिर-दर्द से दुःखित है ?

मधुकरिका—हाय ! शोक !

पद्मिनिका—सखी ! जल्दी जा, आर्या आवन्तिका को बुला ला। केवल राजकुमारी के सिर-दर्द को ही बताना। फिर स्वयं ही आ जायेगी।

मधुकरिका—सखी ! वह क्या करेगी ?

पद्मिनिका—वह निश्चय से मीठी [मीठी] बातों से राजकुमारी के सिर-दर्द को हल्का करेगी।

मधुकरिका—ठीक है। राजकुमारी का बिस्तर कहाँ बनाया है ?

पद्मिनिका—समुद्रगृह में बिस्तर बिछाया है। अब तू जा। मैं भी स्वामी को कहने के लिए आर्य वसन्तक को खोजती हूँ।

मधुकरिका—ठीक है।

(निकल गई।)

पद्मिनिका—अब आर्य वसन्तक को कहाँ देखूं।

शीर्षवेदना शीर्षे शिरसि या वेदना पीडा तया। शब्दापय आकारय। शीर्षवेदनां मस्तकदुःखं विनोदयति अपाकरोति। समुद्रगृहके तन्नामके गृहे। समुद्रेण वेष्टितं गृहं समुद्रगृहम्। समुद्रश्चात्र जलवाहुल्यवाचकः। मध्ये गृहं सर्वतश्च जलं वर्तते इति भावः। अथवा गृहं सर्वतः जलयन्त्राणि 'फव्वारा' इति भाषायां वर्तन्ते तैश्च परिच्छिन्नत्वात् तत् समुद्रगृहम्। यथा चोक्तं त्रिकाण्डशेषे "जलयन्त्रगृहं वीरैः समुद्रगृहमुच्यते।" अन्यच्च "समुद्रगृहमित्युक्तं जलयन्त्रनिकेतनम्।" हारावली।

(ततः प्रविशति विदूषकः ।)

विदूषकः—अद्य खलु देवीवियोगविधुरहृदयस्य तत्रभवतो वत्सराजस्य पद्मावतीपाणिग्रहणसमीरितस्यात्यन्तसुखावहे मङ्गलोत्सवे मदनाग्निदाहोऽधिकतरं वर्धते । (पद्मिनिकां विलोक्य) अयि पद्मिनिका । पद्मिनिके ! किमिह वर्तते ? [अज्ज खु देवीविओअविहुरहिअअस्स तत्तहोदो वच्छराअस्स पदुमावदीपाणिग्गहणसमीरिअस्स अच्चंतसुहावहे मंगळोसवे मदणग्गिदाहो अहिअदरं वड्ढइ । अयि पदुमिणिआ । पदुमिणिए ! किं इह वत्तदि ?]

पद्मिनिका—आर्य वसन्तक ! किं न जानासि त्वं भर्तृ-दारिका पद्मावती शीर्षवेदनया दुःखितेति ? [अय्य वसन्तअ ! किं ण जाणासि तुवं भट्टिदारिआ पदुमावदी सीसवेदणाए दुक्खाविदेत्ति ?]

विदूषकः—भवति ! सत्यं न जानामि । [भोदि ! सच्चं ण जाणामि ।]

पद्मिनिका—तेन हि भर्त्रे निवेदयैनाम् । यावदहमपि शीर्षानुलेपनं त्वरयामि । [तेण हि भट्टिणो णिवेदेहि णं । जाव अहं वि सीसाणुळेवणं तुवारेमि ।]

विदूषकः—कुत्र शयनीयं रचितं पद्मावत्याः ? [कहिं सअणीअं रइदं पदुमावदीए ?]

पद्मिनिका—समुद्रगृहके किल शय्यास्तीर्णा । [समुद्दगिहके किळ सेज्जात्थिण्णा ।]

विदूषकः—गच्छतु भवती । यावदहमपि तत्रभवते निवेदयिष्यामि । [गच्छदु भोदी । जाव अहं वि तत्तहोदो णिवेदइस्सं ।]

(निष्क्रान्तौ ।)

प्रवेशकः ।

(ततः प्रविशति राजा ।)

राजा—

> **श्लाघ्यामवन्तिनृपतेः सदृशीं तनूजां**
> **कालक्रमेण पुनरागतदारभारः ।**
> **लावाणके हुतवहेन हृताङ्गयष्टिं**
> **तां पद्मिनीं हिमहतामिव चिन्तयामि ॥१॥**

(प्रविश्य)

विदूषकः—त्वरतां त्वरतां तावद् भवान् । [तुवरदु तुवरदु दाव भवं ।]

राजा—किमर्थम् ?

विदूषकः—तत्रभवती पद्मावती शीर्षवेदनया दुःखिता । (तत्तहोदी पदुमावदी सीसवेदणाए दुक्खाविदा ।]

राजा—कैवमाह ?

(उसके बाद विदूषक प्रवेश करता है।)

विदूषक—निश्चय ही आज देवी के विछोह से विकल-हृदय, पद्मावती के विवाह से हवा किए गये, महाराज वत्सराज का कामाग्नि-ज्वलन अत्यन्त सुखमय [इस विवाह के] मांगलिक उत्सव में अधिक बढ़ रहा है। (पद्मिनिका को देख कर) अरे पद्मिनिका। पद्मिनिका! यहाँ क्या [हो रहा] है?

पद्मिनिका—आर्य वसन्तक! क्या तुम नहीं जानते हो कि राजकुमारी पद्मावती सिर-दर्द से दुःखित है?

विदूषक—देवी! सचमुच नहीं जानता।

पद्मिनिका—तो फिर इसे [सिर-दर्द-पीड़ित पद्मावती को] स्वामी से कहो। तब तक मैं भी सिर [पर लगाने के लिए] अनुलेप [वाम] का तकाजा करती हूँ।

विदूषक—पद्मावती का बिस्तर कहाँ बनाया है?

पद्मिनिका—समुद्रगृह में बिस्तर बिछाया है।

विदूषक—आप जाओ। तब तक मैं भी महाराज से निवेदन करता हूँ।

(निकल गये।)

प्रवेशक।

(उसके बाद राजा प्रवेश करता है।)

राजा—समय के फेर से फिर आ पड़ा है पत्नी-भार जिस पर ऐसा मैं, लावाणक [गाँव] में आग से हर ली गई है इकहरी देह [यष्टि जैसी पतली देह] जिसकी ऐसी, उस प्रशंसनीय [एवं] अवन्त्यधिपति की [गुणों के] अनुरूप पुत्री [वासवदत्ता] को, पाले से मारी गई कमलिनी जैसी सोचता हूँ। (१)

(प्रवेश करके)

विदूषक—आप जल्दी करें जल्दी करें।

राजा—किस लिए?

विदूषक—देवी पद्मावती सिर-दर्द से दुःखित है।

राजा—कौन ऐसा कहती है?

पद्मावत्याः पाणिग्रहणेनोद्वाहेन समीरितस्य सन्धुक्षितस्य वत्सराजस्य मदनाग्निदाहः कामाग्निज्वालोऽधिकतरमत्यधिकं वर्धते। शीर्षानुलेपनं शिरोवेदनापगमार्थमनुलेपनम् (अनु+लिप्+ल्युट्) किञ्चिद्द्रवावस्थायां वर्तमानमौषधम्।

कालक्रमेण समयचक्रेण पुनः आगतः प्राप्तः दाराणां सहधर्मिण्याः भारो यं तथाभूतोऽहम्, लावाणके तदाख्ये ग्रामे हुतवहेन हुतं वहति देवेभ्य इति हुतवहः वह्निः तेन हृताङ्गयष्टिः हृता नाशिता अङ्गयष्टिः तनुलता यस्याः सा ताम्, श्लाघ्यां स्तुत्यामवन्तिनृपतेः अवन्तीनां नृपतिः राजा तस्य सदृशीं गुणैरनुगामिनीं तनूजां पुत्रीं वासवदत्ताम्, हिमहतां हिमेन तुषारेण हतां नाशितां पद्मिनीमिव कमलिनीमिव चिन्तयामि ध्यायामि स्मरामि इत्यर्थः। वसन्ततिलका वृत्तम्।१।

विदूषकः—पद्मिनिकया कथितम् । [पदुमिणिआए कहिदं ।]
राजा—भोः ! कष्टम्,

रूपश्रिया समुदितां गुणतश्च युक्तां
लब्ध्वा प्रियां मम तु मन्द इवाद्य शोकः ।
पूर्वाभिघातसरुजोऽप्यनुभूतदुःखः
पद्मावतीमपि तथैव समर्थयामि ॥२॥

अथ कस्मिन् प्रदेशे वर्तते पद्मावती ?
विदूषकः—समुद्रगृहके किल शय्यास्तीर्णा । [समुद्दगिहके किळ सेज्जात्थिण्णा ।]
राजा—तेन हि तस्य मार्गमादेशय ।
विदूषकः—एत्वेतु भवान् । [एदु एदु भवं ।]

(उभौ परिक्रामतः ।)

विदूषकः—इदं समुद्रगृहकम् । प्रविशतु भवान् । [इदं समुद्दगिहकं । पविसदु भवं ।]
राजा—पूर्वं प्रविश ।
विदूषकः—भोः ! तथा । (प्रविश्य) अविधा तिष्ठतु तिष्ठतु तावद्भवान् । [भो ! तह । अविहा चिट्ठदु चिट्ठदु दाव भवं ।]
राजा—किमर्थम् ?
विदूषकः—एष खलु दीपप्रभासूचितरूपो वसुधातले परिवर्तमानः, अयं काकोदरः ! [एसो खु दीवप्पभासूइदरूवो वसुधातळे परिवत्तमाणो, अअं काओदरो !]
राजा—(प्रविश्यावलोक्य सस्मितम्) अहो ! सर्पव्यक्तिर्वैधेयस्य ।

ऋज्वायतां हि मुखतोरणलोलमालां
भ्रष्टां क्षितौ त्वमवगच्छसि मूर्ख ! सर्पम् ।
मन्दानिलेन निशि या परिवर्तमाना
किञ्चित् करोति भुजगस्य विचेष्टितानि ॥३॥

रूपश्रिया रूपस्य सौन्दर्यस्य श्रीः शोभा तया समुदितां युक्ताम्, गुणतश्च माधुर्यादिगुणैश्च युक्तां सम्पन्नां प्रियां कान्तां पद्मावतीं लब्ध्वा प्राप्य पूर्वो योऽभिघातः वासवदत्तामृत्युरूपस्तेन सरुजः रुजा सहित इति सरुक् तस्य तथाभूतस्य अपि मम अद्य तु शोकः दुःखं मन्द इव अभूत् इति शेषः । परमिदानीं शिरोव्यथाग्रस्तां पद्मावतीं श्रुत्वा अनुभूतदुःखः अनुभूतं वासवदत्तामृत्युना दुःखं कष्टं येन स तादृशोऽहं पद्मावतीमपि तथैव समर्थयामि तर्कयामि । यथा वासवदत्तां हिमहतां पद्मिनीमिव तर्कयामि तथैव हिमहतां पद्मिनीमिव पद्मावतीमपि आकलयामि । वसन्ततिलका वृत्तम् ।२।

दीपप्रभया प्रकाशेन सूचितं प्रकटीकृतं रूपं स्वरूपं यस्य सः । परिवर्तमानः

विदूषक—पद्मिनिका ने कहा है।

राजा—हाय कष्ट—

सौन्दर्य-सम्पदा से युक्त और गुणों से सम्पन्न प्रिया को पाकर, पहली चोट [वासवदत्ता की मृत्यु] से टूटे हुए [सभङ्ग] भी मेरा तो शोक आज कम सा हो गया था, [किन्तु] दुःखभोगी [मैं] पद्मावती को भी वैसी ही [वासवदत्ता जैसी पाले से मारी गई कमलिनी] समझता हूँ। (२)

अच्छा, पद्मावती किस जगह है ?

विदूषक—समुद्रगृह में बिस्तर बिछाया है।

राजा—तो फिर रास्ता दिखाओ।

विदूषक—आइये, आप आइये।

(दोनों घूमते हैं।)

विदूषक—यह रहा समुद्रगृह। आप प्रवेश करें।

राजा—पहले [तुम] प्रवेश करो।

विदूषक—जी ! अच्छा। (प्रवेश करके) बचाओ ! ठहरिये आप ठहरिये।

राजा—किसलिए ?

विदूषक—यह दीपक के प्रकाश से ज्ञात-स्वरूप, भूतल पर लोट-पोट होता हुआ —यह सांप !

राजा—(प्रवेश करके, देखकर हंसी सहित) अहो मूर्ख का सर्पज्ञान।

मूर्ख ! तुम सीधी लम्बी, मुख्य द्वारभाग [इन्द्रधनुषाकार बनाये गये द्वार के ऊपरी भाग] में लटकती हुई, भूमि पर गिरी हुई माला को, निश्चय ही सांप समझ रहे हो, जो रात में पवन से उलट-पलट होती हुई कुछ सांप की चेष्टाओं को कर रही है। (३)

चेष्टमानः। काकोदरः सर्पः "काकोदरः फणी" इत्यमरः। काकस्येव उदरं यस्य सः काकोदरः कुटिलगतिस्वभावोदरवानित्यर्थः।

मूर्ख ! त्वं हि निश्चयेन क्षितौ पृथिव्यां भ्रष्टां पतिताम् ऋजुः सरला चासौ आयता दीर्घा च ताम् ऋज्वायतां मुखतोरणं मुख्यभूतं बहिर्द्वारं तत्र "तोरणोऽस्त्री बहिर्द्वारम्" इत्यमरः। लोलां लम्बमानां मालां सर्पं काकोदरमवगच्छसि जानासि। या मुखतोरणमाला मन्दपवनेन परिवर्तमाना विवर्तमाना निशि रात्रौ किञ्चित् भुजगस्य सर्पस्य विचेष्टितानि (वि+चेष्ट्+क्त) गतिभङ्गान् भुजगसदृशानि विलुण्ठनादीनि करोति, वायुवशाद् विलुण्ठिता रात्रौ भुजग इव भासते इत्याशयः। भ्रान्तापह्नुतिरलङ्कारः। वसन्ततिलका वृत्तम् ।३।

विदूषकः—(निरूप्य) सुष्ठु भवान् भणति । न खल्वयं काकोदरः ।(प्रविश्यावलोक्य) तत्रभवती पद्मावतीहागत्य निर्गता भवेत् । [सुट्ठु भवं भणादि । ण हु अअं काओदरो । तत्तहोदी पदुमावदी इह आअच्छिअ णिग्गदा भवे ।]

राजा—वयस्य ! अनागतया भवितव्यम् ।

विदूषकः—कथं भवान् जानाति ? [कहं भवं जाणादि ?]

राजा—किमत्र ज्ञेयम् । पश्य—

> शय्या नावनता तथास्तृतसमा न व्याकुलप्रच्छदा
> न क्लिष्टं हि शिरोपधानममलं शीर्षाभिघातौषधैः ।
> रोगे दृष्टिविलोभनं जनयितुं शोभा न काचित् कृता
> प्राणी प्राप्य रुजा पुनर्न शयनं शीघ्रं स्वयं मुञ्चति ॥४॥

विदूषकः—तेन ह्यस्यां शय्यायां मुहूर्तकमुपविश्य तत्रभवतीं प्रतिपालयतु भवान् । [तेण हि इमस्सि सय्याए मुहुत्तअं उवविसिअ तत्तहोदिं पडिवाळेदु भवं ।]

राजा—बाढम् । (उपविश्य) वयस्य ! निद्रा मां बाधते । कथ्यतां काचित् कथा ।

विदूषकः—अहं कथयिष्यामि । हों इति करोत्वत्रभवान् [अहं कहइस्सं । हों त्ति करेदु अत्तभवं ।]

राजा—बाढम् ।

विदूषकः—अस्ति नगर्युज्जयिनी नाम । तत्राधिकरमणीयान्युदकस्नानानि वर्तन्ते किल । [अत्थि णअरी उज्जइणी णाम । तहिं अहिअरमणीआणि उदअण्हाणाणि वत्तंति किळ ।]

राजा—कथमुज्जयिनी नाम ?

विदूषकः—यद्यनभिप्रेतैषा कथा, अन्यां कथयिष्यामि ? [जइ अणभिप्पेदा एसा कहा अण्णा कहइस्सं ?]

राजा—वयस्य ! न खलु नाभिप्रेतैषा कथा । किन्तु,

शय्या पद्मावत्याः कृते परिकल्पितं शयनीयम्, न अवनता तस्याः शरीरभारेण न निम्नीभूता । तथा यथापूर्वमास्तृतमास्तरणं यस्याः सा, समा च समरूपा च वर्तते । यदि काचित्सुप्ता स्यात् तस्या गात्रविलुण्ठनेन विषमत्वमवश्यं सम्पद्येत इति भावः । न व्याकुलोऽङ्गादिमर्दनेन विक्षुब्धो वलीभङ्गं प्राप्त इति यावत् प्रच्छदः प्रच्छादनपटः उपरिवस्त्रं यस्याः सा, "निचोलः प्रच्छदपटः" इत्यमरः । अस्पृष्टा इयं शय्या वर्तते इत्यर्थः । हि निश्चयेन अमलं स्वच्छं शिरोपधानं शिरस्य मस्तकस्य (अत्र 'शिर' शब्दोऽदन्तो मस्तकवाची वर्तते) "शिरोवाची शिरोऽदन्तो रजो-

विदूषक—(देखकर) आप ठीक कहते हैं। यह सांप नहीं है। (प्रवेश करके, देखकर) देवी पद्मावती यहाँ आकर शायद चली गई हो।

राजा—मित्र ! आई ही नहीं है।

विदूषक—आप कैसे जानते हैं ?

राजा—इसमें जानना क्या है। देखो—

शय्या [पद्मावती के लेटने से] झुकी नहीं है, वैसी ही बिछी हुई और समतल है, [और इसकी] चादर [करवट आदि लेने के कारण] सिमटी हुई नहीं है, साफ तकिया सिर-दर्द की दवाओं से दूषित नहीं है, बीमारी में दृष्टि को आकर्षित करने के लिए [ध्यान बंटाने के लिए] कोई सजावट [भी] नहीं की है, [और] प्राणी रोग से बिस्तर को पाकर फिर स्वयं जल्दी नहीं छोड़ता है। (४)

विदूषक—तो फिर इस शय्या पर क्षण भर बैठ कर आप देवी की प्रतीक्षा करें।

राजा—ठीक है। (बैठकर) मित्र ! मुझे नींद सता रही है। कोई कहानी कहिए।

विदूषक—मैं कहता हूँ। महाराज 'हूँ' ऐसा करें।

राजा—ठीक है।

विदूषक—उज्जयिनी नाम की एक नगरी है। कहते हैं, वहाँ बहुत सुन्दर जलस्नानागार हैं।

राजा—क्या उज्जयिनी नाम की ?

विदूषक—यदि यह कथा पसन्द नहीं, [तो] दूसरी कहता हूँ।

राजा—मित्र ! यह कथा नापसन्द हो सो बात नहीं। परन्तु,

वाची रजस्तथा" इत्यमरकोशटीकायाम्। उपधानमुपवर्हम् शीर्षाभिघातौषधैः शीर्षस्य अभिघातः पीडा तद्दूरीकरणाय प्रयुक्तैः लेपविशेषैः क्लिष्टं मलिनं न वर्तते। रोगे पीडायां दृष्टिविलोभनं दृष्टेः अक्ष्णोः विलोभनमाकर्षणम्, दृष्टेरन्यत्राकर्षणेन च पीडायाः किञ्चित् सह्यत्वम्, जनयितुम् (जन्+णिच्+तुमुन्) उत्पादयितुं काचित् शोभा कक्षसज्जा न कृता न विहिता। पुनः अन्यच्च प्राणी शरीरी रुजा रोगेण पीडया वा शयनं शय्यां प्राप्य स्वयमेव शीघ्रं न मुञ्चति न परित्यजति। चिरं शय्यामधिशयान एव तिष्ठतीत्यर्थः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम्।४।

मुहूर्तकम् द्वादशक्षणात्मककालो मुहूर्तः "कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे" २-३-५ इत्यनेन द्वितीया। प्रतिपालयतु प्रतीक्षां करोतु। अधिकमतिशयेन रमणीयानि मनोहराणि उदकस्नानानि जलाशयाः स्नानागाराणि वर्तन्ते।

स्मराम्यवन्त्याधिपतेः सुतायाः
प्रस्थानकाले स्वजनं स्मरन्त्याः ।
बाष्पं प्रवृत्तं नयनान्तलग्नं
स्नेहान्ममैवोरसि पातयन्त्याः ॥५॥

अपि च—

बहुशोऽप्युपदेशेषु यया मामीक्षमाणया ।
हस्तेन स्रस्तकोणेन कृतमाकाशवादितम् ॥६॥

विदूषकः—भवतु, अन्यां कथयिष्यामि । अस्ति नगरं ब्रह्मदत्तं नाम । तत्र किल राजा काम्पिल्यो नाम । [भोदु, अण्णं कहइस्सं । अत्थि णअरं बम्हदत्तं णाम । तहिं किळ राआ कंपिळ्ळो णाम ।]

राजा—किमिति किमिति ?

विदूषकः—(पुनस्तदेव पठति ।)

राजा—मूर्ख ! राजा ब्रह्मदत्तः नगरं काम्पिल्यमित्यभिधीयताम् ।

विदूषकः—किं राजा ब्रह्मदत्तः, नगरं काम्पिल्यम् ?
[किं राआ बम्हदत्तो, णअरं कंपिळ्ळं ?]

राजा—एवमेतत् ।

विदूषकः—तेन हि मुहूर्तकं प्रतिपालयतु भवान्, यावदोष्ठगतं करिष्यामि । राजा ब्रह्मदत्तः, नगरं काम्पिल्यम् । (इति बहुशस्तदेव पठित्वा) इदानीं शृणोतु भवान् । अयि ! सुप्तोऽत्रभवान् । अतिशीतलेयं वेला । आत्मनः प्रावारकं गृहीत्वागमिष्यामि । [तेण हि मुहुत्तअं पडिवाळेदु भवं, जाव ओट्ठगअं करिस्सं । राआ बम्हदत्तो णअरं कंपिळ्ळं । इदाणिं सुणादु भवं । अयि ! सुत्तो अत्तभवं । अदिसीदळा इअं वेळा । अत्तणो पावारअं गण्हिअ आअमिस्सं ।]

(निष्क्रान्तः ।)

(ततः प्रविशति वासवदत्ता आवन्तिकावेषेण चेटी च ।)

चेटी—एत्वेत्वार्या । दृढं खलु भर्तृ-दारिका शीर्षवेदनया दुःखिता । [एदु एदु अय्या । दिढं खु भट्टिदारिआ सीसवेदणाए दुक्खाविदा ।]

प्रस्थानकाले प्रयाणसमये, उज्जयिनीं विहाय मया सह कौशाम्बीं प्रति गमनवेलायां स्वजनं स्वकीयान् बान्धवान् पितरौ च स्मरन्त्याः, प्रवृत्तमुद्भूतं नयनयोः नेत्रयोः अन्तेऽपाङ्गे लग्नमवसक्तं बाष्पमश्रु (जातौ एकवचनम्), स्नेहात् प्रेम्णः ममैव उरसि वक्षःस्थले पातयन्त्याः मुञ्चन्त्याः अवन्त्याधिपतेः सुतायाः वासवदत्तायाः स्मरामि

[उज्जयिनी को छोड़कर मेरे साथ] चलते समय कुटुम्बी-जन को याद करती हुई, [माता पिता एवं बन्धुओं के स्नेह के कारण] आरम्भ हुए, आँखों के कोर पर लटके हुए, आँसू को प्रेम से मेरे ही वक्षस्थल पर गिराती हुई, अवन्तिराज की पुत्री [वासवदत्ता] का स्मरण करता हूँ। (५)

और भी—

[वीणा वादन के] शिक्षण [प्रसङ्गों] में मुझे [एकटक] देखती हुई जिसने, खिसक गया है वीणा बजाने का साधन [धनुष के आकर का वीणा को बजाने का एक उपकरण] जिससे ऐसे हाथ से बहुत बार आकाश-वादन किया [कोण को आकाश में ही हिलाया], [उस वासवदत्ता को स्मरण करता हूँ।] (६)

विदूषक—अच्छा, दूसरी [कथा] कहता हूँ। ब्रह्मदत्त नाम का नगर है। सुनते हैं वहाँ काम्पिल्य नामक राजा है।

राजा—यह क्या, यह क्या ?

विदूषक—(फिर से वही कहता है।)

राजा—मूर्ख ! राजा ब्रह्मदत्त, नगर काम्पिल्य ऐसा कहो।

विदूषक—क्या राजा ब्रह्मदत्त, नगर काम्पिल्य ?

राजा—हाँ ऐसा।

विदूषक—तो आप क्षणभर प्रतीक्षा करें, जब तक [इसे] ओंठ पर चढ़ाता हूँ [ऐसा बोलने का अभ्यास करता हूँ]। राजा ब्रह्मदत्त, नगर काम्पिल्य [इस प्रकार बहुत बार वही पढ़ कर] अब आप सुनें। अरे ! महाराज सो गये। यह समय बड़ा ठंडा है। अपना ओढ़ने का वस्त्र लेकर आता हूँ।

(निकल गया।)

(उसके बाद आवन्तिका-वेष से वासवदत्ता और चेटी आती हैं।)

चेटी—आइए आर्या ! आइए। राजकुमारी सिरदर्द से बहुत पीड़ित है।

स्मरणं करोमि (कर्मणः शेषत्वविवक्षायां षष्ठी)। अवन्त्याधिपतेः अवन्त्या हेतुना अधिपतिः तस्य (हेतौ तृतीया) यथा गवा हेतुना स्वामी, भुवा स्वामी। उपजाति-वृत्तम् ।५।

बहुशोऽपि अनेकवारमपि उपदेशेषु शिक्षणेषु मामीक्षमाणया मदवलोकनैकपरया यया वासवदत्तया स्रस्तकोणेन स्रस्तः स्खलितः कोणो वीणावादनसाधनविशेषः "कोणो वीणावादनम्" इत्यमरः. यस्मात् तेन हस्तेन आकाशवादितमाकाशे रिक्त-स्थाने वादितं वादनं कृतम्। तस्याः वासवदत्तायाः स्मरामि इत्यनेन अन्वयः। अनुष्टुप् वृत्तम् ।६।

वासवदत्ता—हा धिक् ! कुत्र शयनीयं रचितं पद्मावत्याः ? [हद्धि ! कहिं सग्रणीग्रं रइदं पदुमावदीए ?]

चेटी—समुद्रगृहके किल शय्याऽऽस्तीर्णा । [समुद्दगिहके किळ सेज्जात्थिण्णा ।]

वासवदत्ता—तेन ह्यग्रतो याहि । [तेण हि ग्रग्गदो याहि ।]

(उभे परिक्रामतः ।)

चेटी—इदं समुद्रगृहकम् । प्रविशत्वार्या । यावदहमपि शीर्षानुलेपनं त्वरयामि । [इदं समुद्दगिहकं । पविसदु ग्रय्या । जाव ग्रहं वि सीसाणुळेवणं तुवारेमि]

(निष्क्रान्ता ।)

वासवदत्ता—ग्रहो ग्रकरुणाः खल्वीश्वरा मे । विरहपर्युत्सुकस्यार्यपुत्रस्य विश्रमस्थानभूतेयमपि नाम पद्मावत्यस्वस्था जाता । यावत् प्रविशामि । (प्रविश्यावलोक्य) ग्रहो ! परिजनस्य प्रमादः । ग्रस्वस्थां पद्मावतीं केवलं दीपसहायां कृत्वा परित्यजति । इयं पद्मावत्यवसुप्ता । यावदुपविशामि । ग्रथवान्यासनपरिग्रहेणाल्प इव स्नेहः प्रतिभाति । तदस्यां शय्यायामुपविशामि ।(उपविश्य) किं नु खल्वेतया सहोपविशन्त्या ग्रद्य प्रह्लादितमिव मे हृदयम् । दिष्ट्याविच्छिन्नसुखनिःश्वासा । निवृत्तरोगया भवितव्यम् । ग्रथवैकदेशसंविभागतया शयनीयस्य सूचयति मामालिङ्गेति । यावच्छयिष्ये । (शयनं नाटयति ।)[ग्रहो ! ग्रकरुणा खु इस्सरा मे । विरहपय्युस्सुग्रस्स ग्रय्यउत्तस्स विस्समत्थाणभूदा इग्रं वि णाम पदुमावदी ग्रस्सत्था जादा । जाव पविसामि । ग्रहो ! परिजणस्स पमादो । ग्रस्सत्थं पदुमावदिं केवळं दीवसहाग्रं करिग्र परित्तजदि । इग्रं पदुमावदी ग्रोसुत्ता । जाव उवविसामि । ग्रहव ग्रण्णासणपरिग्गहेण ग्रप्पो विग्र सिणेहो पडिभादि । ता इमस्सिं सय्याए उवविसामि । किं णु हु एदाए सह उवविसंतीए ग्रज्ज पह्ळादिदं विग्र मे हिग्रग्रं । दिट्ठिग्रा ग्रविच्छिण्णसुहणिस्सासा । णिव्वुत्तरोग्राए होदव्वं । ग्रहव एग्रदेससंविभाग्रदाए सग्रणीग्रस्स सूएदि मं ग्राळिंगेहि त्ति । जाव सइस्सं ।]

राजा—(स्वप्नायते) हा वासवदत्ते !

वासवदत्ता—(सहसोत्थाय)हम् ! ग्रार्यपुत्रः, न खलु पद्मावती । किं नु खलु दृष्टास्मि? महान् खल्वार्ययौगन्धरायणस्य प्रतिज्ञाभारो मम दर्शनेन निष्फलः संवृत्तः ।[हं ! ग्रय्यउत्तो, ण हु पदुमावदी । किं णु खु दिट्ठम्हि ? महंतो खु ग्रय्यजोग्रंधराग्रणस्स पडिण्णाहारो मम दंसणेण णिप्फळो संवुत्तो ।]

राजा—हा ग्रवन्तिराजपुत्रि !

वासवदत्ता—हाय कष्ट ! पद्मावती का बिस्तर कहाँ बनाया है ?
चेटी—समुद्रगृह में बिस्तर बिछाया है ।
वासवदत्ता—तो आगे चलो ।

(दोनों घूमती हैं ।)

चेटी—यह समुद्रगृह है । आर्या प्रवेश करें । तब तक मैं भी सिर [पर लगाने] के अनुलेप का तकाजा करती हूँ ।

(निकल गई ।)

वासवदत्ता—हाय ! निश्चय ही देवता मेरे लिए निर्दय हैं । विरह से अनमने आर्यपुत्र को शान्ति देने वाली यह पद्मावती भी अस्वस्थ हो गई । चलो चलती हूँ । (प्रवेश करके, देखकर) अहो ! सेवकजन का प्रमाद । अस्वस्थ पद्मावती को केवल दीपक के सहारे करके छोड़ दिया है । यह पद्मावती सोई है । चलो बैठती हूँ । अथवा दूसरा आसन लेने से [अलग बैठने पर] कम सा स्नेह प्रकट होता है । तो इस बिस्तर पर बैठती हूँ । (बैठ कर) आज इसके साथ बैठी हुई मेरा हृदय भला आह्लादित सा क्यों है । सौभाग्य से भङ्ग-रहित [निरन्तर-नियमित और] सुखपूर्वक सांस-उसांस वाली है । स्वस्थ [हट गया है रोग जिसका ऐसी] होनी चाहिए अथवा बिछौने के एक स्थान के विभाजन से [बिस्तर के आधे भाग को खाली छोड़ने से] 'मेरा आलिङ्गन करो' ऐसा सुझाती है । तो सोती हूँ ।

(सोना अभिनीत करती है ।)

राजा—(स्वप्न लेता है) हाय वासवदत्ता !
वासवदत्ता—(तुरन्त उठकर) हैं । आर्यपुत्र, यह तो पद्मावती नहीं है, क्या देख ली गई हूँ ? आर्य यौगन्धरायण का महान् प्रतिज्ञा-बोझ मेरे देखे जाने से व्यर्थ हो गया ।
राजा— हाय अवन्तिराजपुत्री !

ओष्ठगतमभ्यासेन सुपठमित्यर्थः । दीपसहायां दीप एव सहायः द्वितीयो यस्यास्ताम् । अथवा अन्यस्य पद्मावतीशय्यायाः भिन्नस्य आसनस्य परिग्रहेण स्वीकारेण अल्प इव स्वल्प इव स्नेहः प्रीतिः प्रतिभाति प्रतीयते । प्रेमाविक्येन एकस्मिन्नेवासने उपवेशो लोके दृश्यते स्थानान्तरोपवेशेन पुनः सभ्याचारेण स्नेहस्याल्पत्वमाचारस्यैवाविक्यं प्रकटीभवति । प्रह्लादितमिव सानन्दमिव । दिष्ट्या सौभाग्येन । अविच्छिन्नः निरन्तरः विच्छेदरहितः इति भावः, सुखं सुखपूर्वकं यथा स्यात्तथा चलितः निःश्वासो यस्याः सा शयनीयस्य शय्यायाः एकदेशस्य एकशब्दोऽत्र अर्धवाचकः, संविभागो

वासवदत्ता—दिष्ट्या स्वप्नायते खल्वार्यपुत्रः । नात्र कश्चिज्जनः । यावन्मुहूर्तकं स्थित्वा दृष्टिं हृदयं च तोषयामि । [दिट्ठिआ सिविणाअदि खु अय्यउत्तो । ण एत्थ कोच्चि जणो । जाव मुहुत्तअं चिट्ठिअ दिट्ठिं हिअअं च तोसेमि ।]

राजा—हा प्रिये ! हा प्रियशिष्ये ! देहि मे प्रतिवचनम् ।

वासवदत्ता—आलपामि भर्तः ! आलपामि । [आळवामि भट्टा ! आळवामि ।]

राजा—किं कुपितासि ?

वासवदत्ता—नहि नहि, दुःखितास्मि । [णहि णहि, दुक्खिदम्हि ।]

राजा—यद्यकुपिता किमर्थं नालंकृतासि ?

वासवदत्ता—इतः परं किम् ? [इदो वरं किं ?]

राजा—किं विरचिकां स्मरसि ?

वासवदत्ता—(सरोषम्) आ अपेहि । इहापि विरचिका । [आ अवेहि । इहावि विरचिआ ।]

राजा—तेन हि विरचिकार्थं भवतीं प्रसादयामि । (हस्तौ प्रसारयति ।)

वासवदत्ता—चिरं स्थितास्मि । कोऽपि मां पश्येत् । तद् गमिष्यामि । अथवा शय्याप्रलम्बितमार्यपुत्रस्य हस्तं शयनीय आरोप्य गमिष्यामि । [चिरं ठिदम्हि । कोवि मं पेक्खे । ता गमिस्सं । अहव सय्यापळंबिअं अय्यउत्तस्स हत्थं सअणीए आरोविअ गमिस्सं ।] (तथा कृत्वा निष्क्रान्ता ।)

राजा—(सहसोत्थाय) वासवदत्ते ! तिष्ठ तिष्ठ । हा धिक् !

> निष्क्रामन् संभ्रमेणाहं द्वारपक्षेण ताडितः ।
> ततो व्यक्तं न जानामि भूतार्थोऽयं मनोरथः ॥७॥

(प्रविश्य)

विदूषकः—अयि ! प्रतिबुद्धोऽत्रभवान् । [अइ ! पडिबुद्धो अत्तभवं ।]

राजा—वयस्य ! प्रियमावेदये, धरते खलु वासवदत्ता ।

विभजनं यस्य तत् तस्य भावः तत्ता तया, शय्याया अर्धमाश्रित्य सा सुप्ता अपरञ्चार्धं मम कृते एव परित्यक्तम् । अनेन च परित्यक्तेनार्धभागेन प्रकटयति मामालिङ्ग इति । स्वप्नायते 'स्वप्न' शब्दः स्वप्नवत्-परकः स्वप्नवान् भवति इति स्वप्नायते 'सुखादयो वृत्तिविषये तद्वति वर्तन्ते' । (स्वप्न + क्यङ् + ते) भृशादिभ्यो भुव्यच्वेर्लोपश्च हलः ३-१-१२ इत्यनेन क्यङ् । प्रतिवचनं प्रत्युत्तरम् । विरचिकाम् उदयनस्य राज्ञः अन्तःपुरे नियुक्ता परिचारिका ताम् । कदाचिदुदयनस्तां प्रत्यासक्तोऽभूत् इति कथासरित्सागरे वर्णितेन कथावस्तुना ज्ञायते । प्रसादयामि तोषयामीत्यर्थः । शय्याप्रलम्बितम् शय्यायाः शयनात् प्रलम्बितं [illegible]

वासवदत्ता—सौभाग्य से, निश्चय ही आर्यपुत्र स्वप्न ले रहे हैं। यहां कोई आदमी नहीं है। अतः क्षणभर ठहरकर दृष्टि और हृदय को सन्तुष्ट करती हूं।

राजा—हाय प्रिये! हाय प्रियशिष्ये! मुझे उत्तर दो।

वासवदत्ता—बोल रही हूँ स्वामी! बोल रही हूं।

राजा—क्या कुपित हो?

वासवदत्ता—नहीं नहीं, दुःखित हूं।

राजा—यदि कुपित नहीं हो [तो फिर] सजी हुई किसलिए नहीं हो?

वासवदत्ता—इससे अधिक और क्या? [पति-वियोग से बढ़कर और कौन सा कारण होगा, जिसके उपस्थित होने पर आभूषणों का परित्याग करूंगी। मैं कुपित नहीं हूँ, फिर भी दुःखी हूँ, इसी कारण सज्जा नहीं की है]।

राजा—क्या विरचिका को याद करती हो?

वासवदत्ता—(क्रोध-सहित) ओफ दूर हो जाओ। यहां भी विरचिका।

राजा—तो फिर विरचिका [से उत्पन्न क्रोध] के लिए देवी को प्रसन्न करता हूं। (हाथ फैलाता है)।

वासवदत्ता—देर तक ठहरी हूं। कोई भी मुझे देख सकता है। तो जाती हूं। अथवा शय्या से लटके हुए आर्यपुत्र के हाथ को शय्या पर रखकर जाती हूं।

(वैसा करके निकल गई।)

राजा—(एकदम उठकर) वासवदत्ता! ठहरो ठहरो, हाय कष्ट!

हड़बड़ाहट से निकलता हुआ मैं दरवाजे के [एक] पल्लू से टकरा गया हूं इसलिए यह [वासवदत्ता का स्पर्श अथवा उसकी उपस्थिति] वास्तविक है [अथवा] मनोभिलाषा है स्पष्ट नहीं जानता हूं। [अथवा—यह मनोरथ वास्तविक है [यह] स्पष्ट नहीं जानता हूं]। (७)

(प्रवेश करके)

विदूषक—अरे! महाराज जाग गये हैं।

राजा—मित्र! प्रिय [बात] कहता हूं। वासवदत्ता जीवित है।

संभ्रमेण त्वरया निष्क्रामन् निर्गच्छन् समुद्रगृहकक्षादित्यर्थः अहं द्वारपक्षेण द्वारस्य एकतरेण कपाटेन ताडितः प्रतिहतोऽस्मि। ततस्तस्मात्कारणात् अयं वासवदत्तायाः संस्पर्शः उपस्थितिरूपोऽर्थो वा भूतार्थः वास्तविकः, अथवा मनोरथः काल्पनिकः इति व्यक्तं स्पष्टं न जानामि। वृत्तमनुष्टुप् ।७।

विदूषकः—अविधा वासवदत्ता । कुत्र वासवदत्ता ? चिरात् खलूपरता वासवदत्ता। [अविहा वासवदत्ता । कहिं वासवदत्ता ? चिरा खु उवरदा वासवदत्ता ।]

राजा—वयस्य ! मा मैवम् ।

> **शय्यायामवसुप्तं मां बोधयित्वा सखे ! गता ।**
> **दग्धेति ब्रुवता पूर्वं वञ्चितोऽस्मि रुमण्वता ॥८॥**

विदूषकः—अविधा ! असम्भावनीयमेतत् । आः ! उदकस्नानसंकीर्तनेन तत्रभवतीं चिन्तयता सा स्वप्ने दृष्टा भवेत् [अविहा ! असंभावणीअं एदं । आ ! उदअण्हाण-संकित्तणेण तत्तहोदिं चिंतअंतेण सा सिविणे दिट्ठा भवे ।]

राजा—एवं, मया स्वप्नो दृष्टः ।

> **यदि तावदयं स्वप्नो धन्यमप्रतिबोधनम् ।**
> **अथायं विभ्रमो वा स्याद्विभ्रमो ह्यस्तु मे चिरम् ॥९॥**

विदूषकः—भो वयस्य ! एतस्मिन् नगरेऽवन्तिसुन्दरी नाम यक्षिणी प्रतिवसति। सा त्वया दृष्टा भवेत् । [भो वअस्स ! एदस्सिं णअरे अवंतिसुन्दरी णाम जक्खिणी पडिवसदि । सा तुए दिट्ठा भवे ।]

राजा—न न;

> **स्वप्नस्यान्ते विबुद्धेन नेत्रविप्रोषिताञ्जनम् ।**
> **चारित्रमपि रक्षन्त्या दृष्टं दीर्घालकं मुखम् ॥१०॥**

अपि च वयस्य ! पश्य, पश्य;

> **योऽयं संत्रस्तया देव्या तया बाहुर्निपीडितः ।**
> **स्वप्नेऽप्युत्पन्नसंस्पर्शो रोमहर्षं न मुञ्चति ॥११॥**

अविधा इति विषादार्थकमव्ययम् । सखे मित्र ! शय्यायां शयनीये अवसुप्तं निद्रितं मां बोधयित्वा जागरयित्वा गता कक्षात् बहिर्गता । दग्धा, सा ज्वलनेन ज्वलिता इति ब्रुवता सूचयता रुमण्वता सचिवेन पूर्वं पुरा, यदा लावाणके तदग्नि-काण्डमभूत् तदा वञ्चितः विप्रलब्धः अस्मि (भूतार्थे लट्) अभूवम् इत्यर्थः । अनुष्टुप् वृत्तम् ।८।

असम्भावनीयं सम्भावनाऽयोग्यम् । असम्भवमित्यर्थः ।

यदि तावदयं वासवदत्तासङ्गमः स्वप्नः स्वप्नावस्थः एवासीत् न वास्तविक इति भावः, तर्हि अप्रतिबोधनं निद्रायाः अनुत्थानम् अजागरः एव धन्यम् वरम्, अथेति पक्षान्तरे—अयं वासवदत्तासङ्गमो विभ्रमो वा स्यात् मनसो भ्रान्तिर्वा स्यात् तर्हि हि निश्चयेन मे मम चिरं चिरकालपर्यन्त सर्वदैव विभ्रमोऽस्तु उन्माद एव भवतु । तथा सति चिरकालं वासवदत्तासङ्गमः स्थास्यति इत्याशयः । अनुकूलमलङ्कारः । अनुष्टुप् वृत्तम् ।९।

विदूषक—हाय वासवदत्ता। कहाँ वासवदत्ता ? समय बीता, वासवदत्ता मर गई।

राजा—मित्र ! नहीं, ऐसा नहीं।

मित्र ! शय्या पर सोये हुए मुझको जगा कर गई है। 'जल गई है' ऐसा कहते हुए पहले [लावाणक में] रुमण्वान् से ठगा गया था। (८)

विदूषक—हाय ! यह अकल्पनीय है। ओफ ! जलस्नानागार की बात करने से [प्रथम कहानी कहते हुए] देवी को सोचते हुए [आपने] उसे स्वप्न में देखा होगा।

राजा—अच्छा, मैंने स्वप्न देखा।

यदि यह स्वप्न था, तो न जागना भला था। यदि यह भ्रान्ति थी [तो] निश्चय से मुझे चिरकाल तक भ्रान्ति ही रहे। (९)

विदूषक—हे मित्र ! इस नगर में अवन्तिसुन्दरी नामक यक्षिणी रहती है। तुमने [स्वप्न में] उसे देखा होगा।

राजा—नहीं नहीं ;

नींद के बाद जागे हुए [मैंने] चरित्र की भी रक्षा करते हुए [वासवदत्ता का] आँखों से निर्वासित अञ्जन वाला [एवं] लम्बे बालों वाला मुख देखा है। (१०)

और भी मित्र ! देखो देखो—

भयभीता उस देवी ने जो यह हाथ [अपने हाथ में लेकर] दबाया है, नींद में भी उत्पन्न [वासवदत्ता के] स्पर्श वाला [यह हाथ अब भी] रोमाञ्च को नहीं छोड़ता है। (११)

विदूषकः—मेदानीं भवाननर्थं चिन्तयित्वा। एत्वेतु भवान्। चतुःशालं प्रविशावः। [मा दाणि भवं अणत्थं चिंतिअ। एदु एदु भवं। चउस्साळं पविसामो।]

(प्रविश्य)

काञ्चुकीयः—जयत्वार्यपुत्रः। अस्माकं महाराजो दर्शको भवन्तमाह—"एष खलु भवतोऽमात्यो रुमण्वान् महता बलसमुदायेनोपयातः खल्वारुणिमभिघातयितुम्। तथा हस्त्यश्वरथपदातीनि मामकानि विजयाङ्गानि संनद्धानि। तदुत्तिष्ठतु भवान्! अपि च,

भिन्नास्ते रिपवो भवद्गुणरताः पौराः समाश्वासिताः
पार्ष्णी यापि भवत्प्रयाणसमये तस्या विधानं कृतम्।
यद्यत् साध्यमरिप्रमाथजननं तत्तन्मयानुष्ठितं
तीर्णा चापि बलैर्नदी त्रिपथगा वत्साश्च हस्ते तव" ॥१२॥

राजा—(उत्थाय) बाढम्। अयमिदानीम्,

उपेत्य नागेन्द्रतुरंगतीर्णे तमारुणिं दारुणकर्मदक्षम्।
विकीर्णबाणोग्रतरङ्गभङ्गे महार्णवाभे युधि नाशयामि ॥१३॥

(निष्क्रान्ताः सर्वे।)

इति पञ्चमोऽङ्कः।

बलानां सैन्यस्य समुदायेन संहत्या। उपयातः उपस्थितः। अभिघातयितुम् (अभि+हन्+णिच्+तुमुन्) नाशयितुम्। हस्तिनः अश्वाः रथाश्च इति हस्त्यश्वरथं तेन युक्ताः पदातयः येषु तानि मामकानि मत्सम्बन्धीनि विजयाङ्गानि विजयसाधनानि सन्नद्धानि (सम्+नह्+क्त) सज्जानि सन्तीति शेषः।

ते रिपवः शत्रवो भिन्ना गूढोपायैः भेदं प्रापिताः। परस्परं भिन्नाः असंहताः शत्रवः सौकर्येण नाशयितुं शक्याः इति भावः। भवद्गुणेषु रताः अनुरक्ताः पौराः नागरिकाः समाश्वासिताः 'अचिरादेव वत्सराजो लब्धप्रतिष्ठः भवतः पालयिष्यति' इत्यात्मकेनाऽऽश्वासेन आश्वासिताः। भवतः प्रयाणसमये समरजयाय प्रस्थानावसरे या पार्ष्णी सैन्यपृष्ठं(सैन्यस्य पृष्ठभागः), तस्याः विधानं कृतं तद्रचना सम्यक् कृता इति भावः। अन्यच्च यत् यत् अरीणां शत्रूणां प्रमाथो नाशस्तं जनयति उत्पादयति इति अरिप्रमाथजननं साध्यं साधनीयं करणीयं कार्यमिति यावत्, तत् तत् मया (दर्शकेन) अनुष्ठितं सम्पादितम्। बलैः सैन्यैः त्रिपथगा (त्रयाणामाकाशभूतलपातालानां पथां मार्गाणां समाहारस्त्रिपथमिति द्विगुः समासः, तेन त्रिपथेन गच्छतीति सा त्रिपथगा,

विदूषक—अब आप इस निरर्थक [प्रसंग] को अधिक मत सोचिए। आइए आइए आप। चौशाला में चलते हैं [प्रवेश करते हैं]।

(प्रवेश करके)

काञ्चुकीय—आर्यपुत्र की जय हो। हमारे महाराज दर्शक आप से कहते हैं—"यह आपका अमात्य रुमण्वान् आरुणि को नष्ट करने के लिए वहुत सैन्य-समूह के [साथ] आया है। और मेरे हाथी-घोड़े-रथ-पदाति विजय के अङ्ग [सेना के अङ्ग] तैयार हैं। तो उठिए आप। और भी—

आपके शत्रु फोड़ दिए गये हैं [उनमें फूट पैदा कर दी गयी है], आप के गुणों में अनुरक्त नागरिक आश्वस्त कर दिये गये हैं, आप के [युद्ध के लिए] प्रस्थान के समय जो सेना का पिछला भाग [पार्ष्णि होता है] उसका भी निर्माण [वन्दोवस्त] कर दिया गया है। शत्रु के नाश करने वाला जो जो कार्य है वह वह मैंने कर दिया है और सेनाओं ने गङ्गा नदी भी पार कर ली है, [अब तो] वत्सदेश आपके हाथ में [ही] हैं।" (१२)

राजा—(उठ कर) ठीक है। अब यह [मैं]—

श्रेष्ठ हाथियों और अश्वों का संचार है जिसमें ऐसे, व्याप्त वाण हैं भयङ्कर तरङ्ग-भङ्ग जिसमें ऐसे, महान् सागर-तुल्य युद्ध में जाकर, निर्दय काम [करने] में चतुर उस आरुणि को नष्ट करता हूँ। (१३)

(सब निकल गये।)

पंचम अङ्क समाप्त।

(उपपदसमासः) नदी गङ्गा नाम सरित् अपि तीर्णा। वत्साश्च वत्सदेशाः तव हस्ते एव इति ज्ञायतामिति शेषः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ।१२।

नागेन्द्राः गजश्रेष्ठाः तुरङ्गाः अश्वाश्च तैः तीर्णे कृतसञ्चारे, विकीर्णाः इतस्ततो व्याप्ताः वाणाः एव उग्राः भीषणाः तरङ्गभङ्गाः तरङ्गाणामूर्मीणां भङ्गाः खण्डाः यस्मिन् तादृशे महार्णवाभे महार्णवस्य महासागरस्य आभा शोभा इव आभा यस्य तादृशे युधि संग्रामे दारुणेषु क्रूरेषु कर्मसु कार्येषु दक्षं निपुणं दारुणकर्मस्वभावमिति भावः। तं सुविज्ञातम् आरुणिं तन्नामकं शत्रुं उपेत्य प्राप्य नाशयामि उन्मूलयामि। उपमालङ्कारः। वृत्तमुपेन्द्रवज्रा ।१३।

पञ्चमोऽङ्कः परिसमाप्तः

अथ षष्ठोऽङ्कः ।

(ततः प्रविशति काञ्चुकीयः ।)

काञ्चुकीयः—क इह भोः ! काञ्चनतोरणद्वारमशून्यं कुरुते ?

(प्रविश्य)

प्रतीहारी—आर्य ! अहं विजया । किं क्रियताम् ? [अय्य ! अहं विजआ । किं करीअदु ?]

काञ्चुकीयः—भवति ! निवेद्यतां वत्सराज्यलाभप्रवृद्धोदयायोदयनाय—एष खलु महासेनस्य सकाशाद् रैभ्यसगोत्र काञ्चुकीयः प्राप्तः, तत्रभवत्या चाङ्गारवत्या प्रेषिताऽर्या वसुन्धरा नाम वासवदत्ताधात्री च प्रतीहारमुपस्थिताविति ।

प्रतीहारी—आर्य ! अदेशकालः प्रतीहारस्य ।] [अय्य ! अदेशकाळो पडिहारस्स ।]

काञ्चुकीयः—कथमदेशकालो नाम ?

प्रतिहारी—शृणोत्वार्यः । अद्य भर्तुः सूर्यामुखप्रासादगतेन केनापि वीणा वादिता । तां च श्रुत्वा भर्त्रा भणितं "घोषवत्याः शब्द इव श्रूयत" इति । [सुणादु अय्यो । अज्ज भट्टिणो सुय्यामुहप्पासादगदेण केण वि वीणा वादिदा । तं च सुणिअ भट्टिणा भणिअं "घोसवदीए सद्दो विअ सुणीअदि" त्ति ।]

काञ्चुकीयः—ततस्ततः ?

प्रतिहारी—ततस्तत्र गत्वा पृष्टः "कुतोऽस्या वीणाया आगम" इति । तेन भणितम् "अस्माभिर्नर्मदातीरे कूर्चगुल्मलग्ना दृष्टा । यदि प्रयोजमनया उपनीयतां भर्त्रा" इति । तां चोपनीतामङ्के कृत्वा मोहं गतो भर्ता । ततो मोहप्रत्यागतेन बाष्पपर्याकुलेन मुखेन भर्त्रा भणितं 'दृष्टासि घोषवति ! सा खलु न दृश्यते' इति । आर्य ! ईदृशोऽनवसरः । कथं निवेदयामि ?[तदो तहिं गच्छिअ पुच्छिदो 'कुदो इमाए वीणाए आगमो' त्ति । तेण भणिअं "अम्हेहिं णम्मदातीरे कुच्चगुम्मळग्गा दिट्ठा । जइ प्पओअणं इमाए उवणीअदु भट्टिणो" त्ति । तं च उवणीदं अंके करिअ मोहं गदो भट्टा । तदो मोहप्पच्चागदेण वप्फपय्याउळेण मुहेण भट्टिणा भणिअं "दिट्ठासि घोसवदि ! सा हु ण दिस्सदि' त्ति । अय्य ! ईदिसो अणवसरो । कहं णिवेदेमि ?]

काञ्चनस्य स्वर्णस्य तोरणद्वारं मुख्यद्वारमित्यर्थः । अशून्यं स्वावस्थानेन अरिक्तं कुरुते, कस्तत्रावतिष्ठते इत्यर्थः । वत्सानां राज्यस्य लाभेन प्राप्त्या प्रवृद्धः वृद्धिं गतः उदयोऽभ्युदयो यस्य स तस्मै उदयनाय । रैभ्यसगोत्रः, रेभस्यापत्यं पुमान् इति रैभ्यः (रेभ+य) समानं गोत्रं यस्य स सगोत्रः रैभ्यस्य तन्नाम्नः कस्यचित् प्रसिद्धस्य पूर्वपुरुषस्य यद् गोत्रमासीद् तदेव गोत्रं यस्य स रैभ्यसगोत्रः । अथवा 'गोत्र' शब्दोऽत्र

षष्ठ अङ्क

(उसके बाद काञ्चुकीय प्रवेश करता है।)

काञ्चुकीय—अरे ! यहाँ कौन स्वर्ण [शोभित] तोरणद्वार पर स्थित है [तोरण द्वार को अपनी उपस्थिति से अशून्य कर रहा है] ?

प्रतीहारी—आर्य ! मैं विजया हूँ, क्या किया जाय ?

काञ्चुकीय—देवी ! वत्सराज्य की प्राप्ति से अधिक समृद्ध हुए [बढ़ गया है अभ्युदय जिसका ऐसे] उदयन से कहिए—कि यह महासेन के पास से आया हुआ रैभ्य का समान-गोत्रीय काञ्चुकीय और महादेवी अङ्गारवती द्वारा भेजी गई आर्या 'वसुन्धरा' नामक वासवदत्ता की धाय द्वारस्थल पर उपस्थित हैं।

प्रतीहारी—आर्य ! द्वार पर स्थित व्यक्ति का [राजा से] मिलने के लिए स्थान एवं समय उपयुक्त नहीं है। अथवा—सूचना के लिए उपयुक्त समय नहीं है।

काञ्चुकीय—भला क्यों उचित अवसर नहीं है ?

प्रतीहारी—आर्य सुनिए—आज स्वामी के 'सूर्यमुख' महल में आकर किसी ने [गए हुए किसी ने] वीणा बजाई और उसे सुनकर स्वामी ने कहा "घोषवती का शब्द सा सुनाई दे रहा है।"

काञ्चुकीय—फिर, फिर क्या हुआ ?

प्रतीहारी—फिर वहाँ जाकर पूछा 'इस वीणा की प्राप्ति कहाँ से हुई ?' उसने कहा—"हमने नर्मदा के किनारे दर्भ [घास] के झुण्ड में अटकी हुई देखी थी। यदि इस की चाहना है, तो स्वामी ले लें।" ली हुई उस [वीणा] को गोद में रख कर स्वामी मूर्छित हो गये। उसके बाद चेते हुए, आंसुओं से व्याप्त मुख वाले, स्वामी ने कहा—"घोषवती, दिख रही हो; पर वह [वासवदत्ता] नहीं दिखाई देती।" आर्य ! ऐसा अनवसर है। कैसे [जाकर] निवेदन करूँ।

अभिधानपरः "गोत्रं च नाम्नि च" इत्यमरः, "वने नाम्नि च गोत्रोऽद्रौ" इति हैमः, एवञ्च रैभ्यसनामा रैभ्यनामक इत्यर्थः। अङ्गारवतीति वासवदत्ताया मातुर्नामधेयम्। धात्री उपमाता (धा + तृच् + ङीप्)। प्रतीहारम् द्वारदेशम्। अदेशकालः अप्राशस्त्ये नञ्। अप्रशस्तं स्थानम् अनुपयुक्तश्च समयः। अथवा अयोग्यकालः, अनवसरः इत्यर्थः। प्रतीहारस्य द्वाराधिकृतस्य जनस्य। सूर्यामुखस्येति प्रासादस्य नामधेयम्। घोषवतीति वीणायाः संज्ञा।

काञ्चुकीयः—भवति ! निवेद्यताम् । इदमपि तदाश्रयमेव ।
प्रतीहारी—आर्य ! इयं निवेदयामि । एष भर्ता सूर्यामुखप्रासादादवतरति । तदिहैव निवेदयिष्यामि । [अय्य ! इअं णिवेदेमि । एसो भट्टा सुय्यामुहप्पासादादो ओदरइ । ता इह एव्व णिवेदइस्सं ।
काञ्चुकीयः—भवति ! तथा ।

(उभौ निष्क्रान्तौ ।)

मिश्रविष्कम्भकः ।

(ततः प्रविशति राजा विदूषकश्च ।)

राजा—

श्रुतिसुखनिनदे ! कथं नु देव्याः स्तनयुगले जघनस्थले च सुप्ता ।
विहगगणरजोविकीर्णदण्डा प्रतिभयमध्युषितास्यरण्यवासम् ॥१॥

अपि च अस्निग्धासि घोषवति ! या तपस्विन्या न स्मरसि

श्रोणीसमुद्वहनपार्श्वनिपीडितानि
खेदस्तनान्तरसुखान्युपगूहितानि ।
उद्दिश्य मां च विरहे परिदेवितानि
वाद्यान्तरेषु कथितानि च सस्मितानि ॥२॥

विदूषकः—अलमिदानीं भवानतिमात्रं सन्तप्य । [अळं दाणिं भवं अदिमत्तं संतप्पिअ]
राजा—वयस्य ! मा मैवम् ।

चिरप्रसुप्तः कामो मे वीणया प्रतिबोधितः ।
तां तु देवीं न पश्यामि यस्या घोषवती प्रिया ॥३॥

वसन्तक ! शिल्पिजनसकाशान्नवयोगां घोषवतीं कृत्वा शीघ्रमानय ।
विदूषकः—यद् भवानाज्ञापयति । [जं भवं आणवेदि ।] (वीणां गृहीत्वा निष्क्रान्तः ।)

श्रुत्योः कर्णयोः सुखः प्रीतिकरः निनदः नादो यस्याः सा तत्सम्बुद्धौ श्रुतिसुखनिनदे । देव्याः वासवदत्तायाः स्तनयुगले पयोधरयुग्मे जघनस्थले श्रोणीभागे च "जघनं स्यात् स्त्रियाः श्रोणीपुरोभागे कटावपि" इति मेदिनी, सुप्ता । इदानीं पुनः विहगगणः पक्षिसमूहः तस्य रजसा मलेन विकीर्णो व्याप्तो दण्डो यस्याः सा तादृशी सती त्वं प्रतिभयम् भयङ्करम् "भयङ्करं प्रतिभयम्" इत्यमरः । अरण्यवासम् उष्यते यत्रेति वासः निवासस्थानम् (हलश्चेति 'घञ्' प्रत्ययः) तच्चारण्यम् कथम् नु केन प्रकारेण अध्युषितासि आश्रितवत्यसि (अधि+वस् क्त, कर्तरि) "उपान्वध्याङ्वसः" इत्यनेन अधिपूर्वात् वसतेः आधारस्य कर्मत्वम्) । वृत्तं पुष्पिताग्रा ।१।

अस्निग्धा स्नेहशून्या । तपस्विन्याः वासवदत्तायाः न स्मरसि (कर्मत्वाविवक्षायां

काञ्चुकीय—देवी ! निवेदन करो । यह भी उसी से सम्बन्धित है ।
प्रतीहारी—आर्य ! यह कहती हूँ । यह स्वामी 'सूर्यामुख' महल से उतर रहे हैं । तो यहीं कहती हूँ ।
काञ्चुकीय—देवी ! अच्छा ।

(दोनों निकल गए ।)

मिश्र-विष्कम्भक

(उसके बाद राजा और विदूषक प्रवेश करते हैं ।)

राजा—कर्ण-सुख-निनाद वाली [वीणा] ! देवी के स्तनयुगल पर और जंघा-प्रदेश पर सोई हुई [तुम] पक्षीसमूह के मल [बींट] से व्याप्त दण्ड वाली [होकर] भयङ्कर वनवास [की अवस्था] में भला कैसे रहीं ? (१)
और भी—प्रेमशून्य हो घोषवती ! जो विचारी [वासवदत्ता] की—

[वीणा बजाते समय] गोद में उठाने से [वीणा के] पार्श्वों के [वासवदत्ता द्वारा] दबाए जाने को, थकावट [आने] पर स्तनों के मध्य सुखकारी आलिङ्गनों को और विरह में मुझे लक्ष्य करके [किए गये] विलापों को और [वीणा] वादन के अन्तरालों में [बीच बीच में अवसर आने पर] मुस्कराहट सहित बातों को—स्मरण नहीं करती हो । (२)

विदूषक—अब आप बहुत अधिक संताप मत कीजिए ।

राजा—मित्र ! नहीं ऐसा नहीं ।

देर से सोया पड़ा मेरा प्रेम वीणा ने जगा दिया है । पर घोषवती जिस की प्रिय है, उस देवी को नहीं देख रहा हूँ । (३)

वसन्तक ! मिस्त्री के पास से घोषवती को नये योग वाली करके [नये तार आदि डलवा कर] जल्दी ले आओ ।

विदूषक—जैसी आप की आज्ञा । (वीणा को लेकर निकल गया ।)

"षष्ठी शेषे" इत्यनेन षष्ठी)अथवा अग्रिमे पद्ये स्थितस्य 'निपीडितानि' इत्यादिभिः सह अन्वयः ।

श्रोणीसमुद्वहन...तपस्विन्याः देव्या वासवदत्तायाः इत्यनेन अन्वयः । वीणा-वादनकाले श्रोण्याम् अङ्के समुद्वहनं धारणं तेन पार्श्वयोरुभयपृष्ठभागयोः [वीणाया उभयपक्षयोः, वासवदत्ताकृतानि]निपीडितानि गाढानि संस्पर्शनानि आलिङ्गनानि इति भावः, खेदे श्रमे सञ्जाते सति इति शेषः, स्तनान्तरे कुचयोर्मध्ये सुखानि विश्रान्तिकराणि उपगूहितानि आलिङ्गनानि, च किञ्च विरहे मद्वियोगे मामुद्दिश्य मामभिलक्ष्य

(प्रविश्य)

प्रतिहारी—जयतु भर्ता। एष खलु महासेनस्य सकाशाद् रैभ्यसगोत्रः काञ्चुकीयो देव्याङ्गारवत्या प्रेषितार्या वसुन्धरा नाम वासवदत्ताधात्री च प्रतीहारमुपस्थितौ। [जेदु भट्टा। एसो खु महासेणस्स सआसादो रब्भसगोत्तो कंचुईओ देवीए अंगारवदीए पेसिदा अय्या वसुंधरा णाम वासवदत्ताधत्ती अ पडिहारं उवट्ठिदा।]

राजा—तेन हि पद्मावती तावदाहूयताम्।

प्रतिहारी—यद् भर्ताज्ञापयति। [जं भट्टा आणवेदि।] (निष्क्रान्ता।)

राजा—किं नु खलु शीघ्रमिदानीमयं वृत्तान्तो महासेनेन विदितः?

(ततः प्रविशति पद्मावती प्रतीहारी च।)

प्रतिहारी—एत्वेतु भर्तृ-दारिका। [एदु एदु भट्टिदारिआ।]

पद्मावती—जयत्वार्यपुत्रः। [जेदु अय्यउत्तो।]

राजा—पद्मावति! किं श्रुतं महासेनस्य सकाशाद् रैभ्यसगोत्रः काञ्चुकीयः प्राप्तस्तत्रभवत्या चाङ्गारवत्या प्रेषितार्या वसुन्धरा नाम वासवदत्ताधात्री च प्रतीहारमुपस्थिताविति?

पद्मावती—आर्यपुत्र! प्रियं मे ज्ञातिकुलस्य कुशलवृत्तान्तं श्रोतुम्। [अय्यउत्त! पिअं मे आदिकुळस्स कुसळवुत्तंतं सोदुं।]

राजा—अनुरूपमेतद् भवत्याभिहितं 'वासवदत्तास्वजनो मे स्वजन' इति। पद्मावति! आस्यताम्। किमिदानीं नास्यते?

पद्मावती—आर्यपुत्र! किं मया सहोपविष्ट एतं जनं प्रेक्षिष्यते? [अय्यउत्त! किं मए सह उवविट्ठो एदं जणं पेक्खिस्सदि?]

राजा—कोऽत्र दोषः?

पद्मावती—आर्यपुत्रस्यापरः परिग्रह इत्युदासीनमिव भवति। [अय्यउत्तस्स अवरो परिग्गहो त्ति उदासीणं विअ होदि।]

राजा—कलत्रदर्शनार्हं जनं कलत्रदर्शनात् परिहरतीति बहु दोषमुत्पादयति। तस्मादास्यताम्।

परिदेवितानि विलापवचनानि "विलापः परिदेवनम्" इत्यमरः, च अपरञ्च वाद्यान्तरेषु वीणावादनावकाशेषु वीणाभ्यासवेलायां विश्रमार्थं मध्ये लब्धेष्ववसरेषु सस्मितानि मन्दहाससहितानि कथितानि भाषणानि, न स्मरसि (वासवदत्तायाः)। अतः घोषवति असिन्ग्धासि इत्यनेनान्वयः। वृत्तं वसन्ततिलका।२।

(प्रवेश करके)

प्रतीहारी—स्वामी की जय हो। यह महासेन के पास से आया रैभ्यसगोत्रीय काञ्चुकीय और देवी अङ्गारवती से भेजी गई आर्या 'वसुन्धरा' नामक वासवदत्ता की धाय द्वार-स्थान पर उपस्थित हैं।

राजा—तो फिर पद्मावती को बुलाओ।

प्रतीहारी—जो स्वामी की आज्ञा (निकल गई।)

राजा—क्या भला इतनी जल्दी यह वृत्तान्त [पद्मावती से विवाह] महासेन ने जान लिया?

(उसके बाद पद्मावती और प्रतीहारी प्रवेश करते हैं।)

प्रतीहारी—आइए आइए, राजकुमारी!

पद्मावती—आर्यपुत्र की जय हो।

राजा—पद्मावती! क्या सुना [कि] महासेन के पास से आया रैभ्यसगोत्रीय काञ्चुकीय और महारानी अङ्गारवती से भेजी हुई आर्या 'वसुन्धरा' नामक वासवदत्ता की धाय द्वार-स्थल पर उपस्थित हैं?

पद्मावती—आर्यपुत्र! सम्बन्धि-कुल के कुशल-समाचार को सुनना मुझे प्रिय है।

राजा—'वासवदत्ता के स्वकीय-जन मेरे स्वजन हैं,' देवी ने यह [अपने] अनुरूप कहा। पद्मावती! बैठो, अब क्यों बैठ नहीं रही हो?

पद्मावती—आर्यपुत्र क्या मेरे साथ बैठे हुए इन लोगों से मिलेंगे?

राजा—इसमें क्या दोष है?

पद्मावती—आर्यपुत्र की दूसरी पत्नी हूँ इसलिए उदासीन-सा होता है।

राजा—'पत्नी-दर्शन के योग्य व्यक्ति को पत्नी-दर्शन से वर्जित करता है' इस प्रकार अधिक दोष होता है। इसलिए बैठो।

चिरप्रसुप्तः चिरकालं शयितः अप्रबुद्धः मे कामः वासवदत्ताविषयको मेऽभिलाषः वीणया अनया घोषवत्या प्रतिबोधितः उद्बोधितः। यस्याः घोषवती इयं वीणा प्रिया प्रीतिप्रदा तां तु न पश्यामि नावलोकयामि। अनुष्टुप् वृत्तम्।३।

शिल्पिजनसकाशात् कारुजनसकाशात् "कारुः शिल्पी" इत्यमरः। नवयोगाम् नवो नूतनो योगस्तन्त्र्यादिसंयोगो यस्यास्ताम्। ज्ञातिकुलस्य स्वजनस्य। अपरः द्वितीयः। परिग्रहः भार्या। अहमार्यपुत्रस्य द्वितीया पत्नी, अतः मम उपस्थितिः ताटस्थ्येनैवात्र तेषां कृते भविष्यतीति भावः। कलत्रं भार्या तस्याः दर्शनमर्हतीति तं कलत्रदर्शनार्हं जनं काञ्चुकीयं धात्रीञ्चेति यावत्, कलत्रदर्शनात् भार्यादर्शनात् (तव दर्शनात्) परिहरति वर्जयति इत्येवं बहुदोषमधिकं दोषमुत्पादयति। तस्मात् आस्यताम् उपविश्यताम् इदमेवात्रोचितम्।

पद्मावती—यदार्यपुत्र आज्ञापयति । (उपविश्य) आर्यपुत्र ! तातो वाम्बा वा किं नु खलु भणिष्यतीत्याविग्नेव संवृत्ता । [जं अय्यउत्तो आणवेदि । अय्यउत्त ! तादो वा अम्बा वा किं णु खु भणिस्सदि त्ति आविग्गा विअ संवुत्ता ।]

राजा—पद्मावति ! एवमेतत्,

> किं वक्ष्यतीति हृदयं परिशङ्कितं मे
> कन्या मयाप्यपहृता न च रक्षिता सा ।
> भाग्यैश्चलैर्महदवाप्तगुणोपघातः
> पुत्रः पितुर्जनितरोष इवास्मि भीतः ॥४॥

पद्मावती—ननु किं शक्यं रक्षितुं प्राप्तकाले ? [णं किं सक्कं रक्खिदुं पत्तकाळे ?]

प्रतीहारी—एष काञ्चुकीयो धात्री च प्रतीहारमुपस्थितौ । [एसो कंचुईओ धत्ती अ पडिहारं उवट्ठिदा ।]

राजा—शीघ्रं प्रवेश्यताम् ।

प्रतीहारी—यद् भर्ताज्ञापयति । [जं भट्टा आणवेदि ।] (निष्क्रान्ता ।)

(ततः प्रविशति काञ्चुकीयो धात्री प्रतीहारी च ।)

काञ्चुकीयः—भोः !

> सम्बन्धिराज्यमिदमेत्य महान् प्रहर्षः
> स्मृत्वा पुनर्नृपसुतानिधनं विषादः ।
> किं नाम दैव ! भवता न कृतं यदि स्याद्
> राज्यं परैरपहृतं कुशलं च देव्याः ॥५॥

प्रतीहारी—एष भर्ता, उपसर्पत्वार्यः । [एसो भट्टा, उपसप्पदु अय्यो ।]

काञ्चुकीयः—(उपेत्य) जयत्वार्यपुत्रः ।

धात्री—जयतु भर्ता । [जेदु भट्टा ।]

राजा—(सबहुमानम्) आर्य !

किं वक्ष्यति किं कथयिष्यति ? वासवदत्तायाः तातः अम्बा वा कञ्चुकिमुखेन इत्यनेनान्वयः इत्यस्मात् कारणात् मे हृदयं मनः परिशङ्कितं शङ्कायुक्तं भयग्रस्तमिति यावत् वर्तते इति शेषः । मया उदयनेन कन्या अवन्तिराजतनया अपि अपहृता अपनीता, अकृतपरिणया एव सा अपहृता । अपहरणस्यायुक्तत्वम् अपिना द्योत्यते । सा च न रक्षिता न सम्यक् परिपालिता । चलैरस्थिरैः भाग्यैः प्रारब्धैः महद् यथा स्यात्तथा (क्रियाविशेषणमिदम्) अवाप्तः प्राप्तः गुणानाम् अनुक्रोशदाक्षिण्यादीनामुपघातो भङ्गो येन सः, अहं पितुः जनकस्य जनितः उत्पादितः रोषः क्रोधः येन सः, पुत्रः इव भीतः शङ्कितः अस्मि । वसन्ततिलका वृत्तम् ।४।

पद्मावती—जैसी आर्यपुत्र की आज्ञा। (बैठकर) आर्यपुत्र! पिता अथवा माता भला क्या कहेंगे [यह सोच कर] उद्विग्न सी हो गई हूँ।

राजा—पद्मावती! यह ऐसा है [तुम्हारी शंका ठीक है],

[महासेन] क्या कहेगा [इससे] मेरा हृदय सशङ्क [भयग्रस्त] है। मैंने कन्या का भी अपहरण किया और उसकी रक्षा नहीं की। चलायमान भाग्यों से अत्यधिक प्राप्त किया है गुणों पर आघात जिसने ऐसा मैं, पिता को क्रोध दिलाया है जिसने ऐसे पुत्र की भाँति डरा हुआ हूँ। (४)

पद्मावती—भला काल आ जाने पर किसे बचाया जा सकता है?

प्रतीहारी—यह काञ्चुकीय और धाय द्वार पर आ गये हैं।

राजा—तुरन्त ले आओ।

प्रतीहारी—जो स्वामी की आज्ञा।

(निकल गई।)

(उसके बाद काञ्चुकीय, धाय और प्रतीहारी प्रवेश करते हैं।)

काञ्चुकीय—ओह!

इस सम्बन्धि-राज्य में आकर बड़ी प्रसन्नता हुई। फिर राजपुत्री के निधन को स्मरण कर दुःख हुआ। हे दैव! आपने क्या न कर दिया होता यदि शत्रुओं से छीना हुआ राज्य [प्राप्त हुआ] होता और देवी [वासवदत्ता] का कुशल [होता]। (५)

प्रतीहारी—यह स्वामी हैं। आप पास जायें।

काञ्चुकीय—(पास जाकर) आर्यपुत्र की जय हो।

धात्री—स्वामी की जय हो।

राजा—(बड़े आदर के साथ) आर्य!

इदं सम्बन्धिनः उदयनस्य राज्यमेत्य प्राप्य महान् भूयान् प्रहर्षः प्रमोदः। पुनः पुनश्च नृपसुतायाः राजपुत्र्याः वासवदत्तायाः निधनं मरणं स्मृत्वा विषादः खेदो भवतीति शेषः। दैव! विधे! भवता त्वया किं नाम न कृतं स्यात्? अर्थात् सर्वमपि कृतं स्यात्, इति काक्वा ज्ञायते, यदि परैः शत्रुभिरपहृतं बलात् हृतं राज्यं स्यात् अधिगतं भवेत्, परैरपहृतं राज्यं पुनः प्राप्तं स्यात् इत्यर्थः, स्यात् इत्यस्य राज्यमित्यनेन पुनः अन्वयः। देव्याः वासवदत्तायाश्च कुशलं स्यात् भवेत्। अत्रापि 'स्यात्' इत्यस्य चकारबलेन योजना कार्या। यदि राज्यमधिगतं स्यात् वासवदत्तापि च जीविता स्यात् तर्हि दैव! भवता सर्वमपि कृतं स्यादिति भावः। वसन्ततिलका वृत्तम्।५।

पृथिव्यां राजवंश्यानामुदयास्तमयप्रभुः ।
अपि राजा स कुशली मया काङ्क्षितबान्धवः ?॥६॥

काञ्चुकीयः—अथ किम् ! कुशली महासेनः इहापि सर्वगतं कुशलं पृच्छति ।

राजा—(आसनादुत्थाय) किमाज्ञापयति महासेनः ?

काञ्चुकीयः—सदृशमेतद् वैदेहीपुत्रस्य । नन्वासनस्थेनैव भवता श्रोतव्यो महासेनस्य सन्देशः ।

राजा—यदाज्ञापयति महासेनः । (उपविशति ।)

काञ्चुकीयः—"दिष्ट्या परैरपहृतं राज्यं पुनः प्रत्यानीतमिति । कुतः—

कातरा येऽप्यशक्ता वा नोत्साहस्तेषु जायते ।
प्रायेण हि नरेन्द्रश्रीः सोत्साहैरेव भुज्यते" ॥७॥

राजा—आर्य ! सर्वमेतन्महासेनस्य प्रभावः । कुतः—

अहमवजितः पूर्वं तावत् सुतैः सह लालितो
दृढमपहृता कन्या भूयो मया न च रक्षिता ।
निधनमपि च श्रुत्वा तस्यास्तथैव मयि स्वता
ननु यदुचितान् वत्सान् प्राप्तुं नृपोऽत्र हि कारणम् ॥८॥

काञ्चुकीयः—एष महासेनस्य सन्देशः । देव्याः सन्देशमिहात्रभवती कथयिष्यति ।

राजा—हा अम्ब !

षोडशान्तःपुरज्येष्ठा पुण्या नगरदेवता ।
मम प्रवासदुःखार्ता माता कुशलिनी ननु ? ॥९॥

पृथिव्यां भूमौ राजवंश्यानां राज्ञः वंशे भवाः राजवंश्याः राजकुलोत्पन्नाः जनास्तेषाम् उदयः उत्कर्षः, अस्तमयो विनाशश्च तत्र प्रभुः समर्थः, मण्डलेश्वरः सम्राट् इत्यर्थः । मया उदयनेन काङ्क्षितः अभिलषितः चासौ बान्धवः (बन्धु+अण्, स्वार्थे) बन्धुश्च, असौ राजा प्रद्योतः, अथवा मया सह काङ्क्षितं बान्धवं बन्धुत्वं येन सः प्रद्योतः अपि कुशली ? इति जिज्ञासा । वृत्तमनुष्टुप् ।६।

ये कातराः भीरवः अपि वा अथवा अशक्ताः शक्तिरहिताः असमर्थाः तेषु उत्साहः उद्यमः न जायते नोत्पद्यते । हि निश्चयेन नरेन्द्रश्रीः राज्यलक्ष्मीः प्रायेण बहुशः सोत्साहैरेव उत्साहयुक्तैरेव "उत्साहोऽध्यवसायः स्यात्" इत्यमरः, भुज्यते सेव्यते । वृत्तमनुष्टुप् ।७।

पृथ्वी पर राजवंशीयों [राजकुल में उत्पन्न प्रधान-पुरुषों] के अभ्युदय एवं विनाश का अधिष्ठाता [समर्थ], मुझसे चाहा गया रिश्तेदार, अथवा मेरे साथ चाहा है सम्बन्ध जिसने ऐसा वह राजा [प्रद्योत] कुशल पूर्वक है ? (६)

काञ्चुकीय—हाँ। सकुशल हैं महासेन। यहाँ भी सबकी कुशलता को पूछते हैं।

राजा—(आसन से उठकर) महासेन की क्या आज्ञा है ?

काञ्चुकीय—यह वैदेही-पुत्र के अनुरूप है। आसन पर बैठे हुए ही आप महासेन का सन्देश सुनें।

राजा—जो महासेन की आज्ञा। (बैठता है।)

काञ्चुकीय—"भाग्य से, शत्रु से छीना गया राज्य फिर से वापस ले लिया गया है। क्योंकि—

कायर अथवा जो असमर्थ हैं उनमें उत्साह पैदा नहीं होता। निश्चय ही राज्यलक्ष्मी प्रायः उत्साह वालों से ही भोगी जाती है।" (७)

राजा—आर्य ! यह सब महासेन का प्रभाव है। क्योंकि—

पहले तो मुझे जीत लिया [फिर] अपने पुत्रों के साथ [मेरा] पालन किया। मैंने [उनकी] कन्या का कठोरता पूर्वक अपहरण किया और फिर रक्षा नहीं की। उसकी मृत्यु को सुनकर भी वैसा ही मुझपर अपनत्व है। निःसन्देह जो उचित [वास्तव में मेरा अपना राज्य] वत्स [राज्य] को पाने में [समर्थ हुआ हूँ]—इसमें निश्चय से राजा [महासेन] कारण है। (८)

काञ्चुकीय—यह महासेन का सन्देश है। देवी के सन्देश को यहाँ श्रीमती [वसुन्धरा] कहेगी।

राजा—हाय माता !

[प्रद्योत की] सोलह रानियों में ज्येष्ठ, पुनीत, नगर की देवता, मेरे प्रवास के दुःख से पीड़ित माता कुशल पूर्वक तो हैं ? (९)

पूर्वं तावत् प्रथमं तावदहमवजितः निगृहीतः (पुनः) सुतैः स्वकीयैः पुत्रैः सह निर्विशेपेण इति भावः लालितः पालितः। मया कन्या तस्य सुता वासवदत्ता दृढं कठोरं यथा स्यात्तथा अपहृता पलाय्य आनीता न च भूयः पुनः सा रक्षिता सम्यक् परिपालिता। तस्या वासवदत्तायाः निधनं मरणमपि च श्रुत्वा मयि मम विषये तथैव पूर्ववदेव स्वता आत्मीयता। ननु उचितान् मदीयराज्यभूतान् वत्सान् वत्सराज्यं प्राप्तुमधिगन्तुं यदहमशक्नुवम् इति शेषः, अत्र अस्मिन् राज्यलाभे हि निश्चयेन नृपः असौ प्रद्योत एव कारणं निमित्तम्। तस्यैव महिम्ना मया स्वकीयं राज्यं पुनरपि अधिगतमित्यर्थः। हरिणी वृत्तम्।८।

पोडशान्तःपुराणां प्रद्योतस्य स्त्रीणाम् 'अन्तःपुर' शब्दो राजदारपरः। तथाहि—"अन्तःपुरं स्यादवरोधनम्" अन्यच्च "अवरोधस्तिरोधाने राजदारेपु तद्गृहे।" ज्येष्ठा

धात्री—अरोगा भट्टिनी भर्तारं सर्वगतं कुशलं पृच्छति । [अरोआ भट्टिणी भट्टारं सव्वगदं कुसळं पुच्छदि ।]

राजा—सर्वगतं कुशलमिति । अम्ब ! ईदृशं कुशलम् ।

धात्री—मेदानीं भर्तातिमात्रं संतप्तुम् । [मा दाणिं भट्टा अदिमत्तं संतप्पिदुं ।]

काञ्चुकीय:—धारयत्वार्यपुत्रः । उपरताप्यनुपरता महासेनपुत्री एवमनुकम्प्यमाना आर्यपुत्रेण । अथवा—

क: कं शक्तो रक्षितुं मृत्युकाले रज्जुच्छेदे के घटं धारयन्ति ।
एवं लोकस्तुल्यधर्मो वनानां काले काले छिद्यते रुह्यते च ।।१०।।

राजा—आर्य ! मा मैवम्,

महासेनस्य दुहिता शिष्या देवी च मे प्रिया ।
कथं सा न मया शक्या स्मर्तुं देहान्तरेष्वपि ।।११।।

धात्री—आह भट्टिनी—"उपरता वासवदत्ता । मम वा महासेनस्य वा यादृशौ गोपालकपालकौ तादृश एव त्वं प्रथममेवाभिप्रेतो जामातेति । एतन्निमित्तमुज्जयिनीमानीतः । अनग्निसाक्षिकं वीणाव्यपदेशेन दत्ता । आत्मनश्चपलतयानिर्वृत्तविवाहमङ्गल एव गतः । अथ चावाभ्यां तव च वासवदत्तायाश्च प्रतिकृतिं चित्रफलकायामालिख्य विवाहो निर्वृत्तः । एषा चित्रफलका तव सकाशं प्रेषिता । एतां दृष्ट्वा निर्वृतो भव ।" [आह भट्टिणी—"उवरदा वासवदत्ता । मम वा महासेणस्स वा जादिसा गोवालअपालआ तादिसो एव्व तुमं पुढमं एव्व अभिप्पेदो जामादुअत्ति । एदण्णिमित्तं उज्जइणिं आणीदो । अणग्गिसक्खिअं वीणाववदेसेण दिण्णा । अत्तणो चवळदाए अणिव्वुत्तविवाहमंगळो एव्व गदो । अह अ अम्हेहि तव अ वासवदत्ताए अ पडिकिदिं चित्तफळआए आळिहिअ विवाहो णिव्वुत्तो । एसा चित्तफळआ तव सआसं पेसिदा । एदं पेक्खिअ णिव्वुदो होहि ।"]

राजा—अहो ! अतिस्निग्धमनुरूपं चाभिहितं तत्रभवत्या ।

प्रधानभूता महिषीत्यर्थः, पुण्या पुण्यचरिता, नगरदेवता पूजनीयत्वात् नगरस्य देवतेव प्रतिष्ठिता, मम प्रवासः कौशाम्बीं प्रति देशान्तरगमनं तद्-दुःखेन आर्ता दुःखिता माता अङ्गारवती कुशलिनी ननु सकुशला वर्तते किम् ? अनुष्टुप् वृत्तम् ।९।

मृत्युकाले विनाशसमये प्राप्ते इति शेषः, कः कं रक्षितुं त्रातुं समर्थः प्रभुः ? न कोऽपि इत्यर्थः । रज्जोः गुणस्य छेदे भङ्गे सति घटं के धारयन्ति घटस्य धारणे

धाय—नीरोग महारानी स्वामी से सबका कुशल पूछती हैं।

राजा—सबका कुशल ? माता ! ऐसा कुशल है।

धाय—अब स्वामी अधिक दुःखी मत होइए।

काञ्चुकीय—आर्यपुत्र धीरज धरें। आर्यपुत्र से इस प्रकार कृपा की जाती हुई [प्रेम की जाती हुई] महासेन की बेटी मरी हुई भी नहीं मरी है। अथवा—

मृत्यु-काल के आने पर कौन किसकी रक्षा करने में समर्थ होता है ? रस्सी के टूट जाने पर कौन घड़े को थामते हैं [थाम सकते हैं]? इस प्रकार वृक्षों के समान हैं गुण जिसके ऐसा संसार समय समय पर कटता है और उगता है (१०)

राजा—आर्य ! नहीं, ऐसा नहीं ;

महासेन की बेटी, मेरी शिष्या, पत्नी और प्रिया वह [वासवदत्ता] दूसरे जन्मों में भी मुझ से कैसे स्मरण नहीं की जाय ? (११)

धाय—महारानी कहती हैं—"वासवदत्ता मर गई। मेरे लिए अथवा महासेन के लिए जैसे गोपालक और पालक वैसे ही तुम पहले ही जामाता मान लिए गये। इसी कारण उज्जयिनी में लाये गये। अग्नि की साक्षी के बिना वीणा के बहाने से [वासवदत्ता] दे दी। अपनी चञ्चलता से बिना-विवाह मङ्गल के ही चले गये। उसके बाद हमने तुम्हारी और वासवदत्ता की छाया [चित्र] को चित्रफलक पर अङ्कित कर के विवाह सम्पन्न किया। यह चित्रपट्टिका तुम्हारे पास भेजी है। इसे देखकर शान्त होओ।"

राजा—अहो महारानी ने अत्यन्त प्रिय और [अपने] अनुरूप कहा।

समर्थाः भवन्ति ? अवश्यमेव स कूपे पतति न कोऽपि तं धारयितुं शक्नोतीत्यर्थः। एवं वनानां तुल्यधर्मः वृक्षाणां तुल्यः समानो धर्मः स्वभावो यस्य तादृशो लोकः जनः काले काले समये समये छिद्यते छिन्नो भवति (पुनश्च) रुह्यते उत्पद्यते। यथा समये प्राप्ते वृक्षाः छिद्यन्ते पुनरपि च कालान्तर उत्पद्यन्ते तथैव मनुष्या अपि काले प्राप्ते म्रियन्ते पुनरपि च जायन्ते। शालिनी वृत्तम् ।१०।

महासेनस्य प्रद्योतस्य दुहिता पुत्री मे मम प्रिया शिष्या देवी च महिषी च, सा वासवदत्ता मया देहान्तरेष्वपि जन्मान्तरेष्वपि कथं न स्मर्तुं चिन्तयितुं शक्या ? सर्वदैव मया सा स्मरणीया इति भावः। वृत्तमनुष्टुप् ।११।

वीणाव्यपदेशेन वीणाव्याजेन। अनग्निसाक्षिकम् न विद्यते अग्निः साक्षी यस्मिन् कर्मणि तद्यथा स्यात् तथा तदनग्निसाक्षिकम्, प्रतिकृतिं प्रतिच्छायाम्। निर्वृतो भव शान्तः भव।

वाक्यमेतत् प्रियतरं राज्यलाभशतादपि ।
अपराद्धेष्वपि स्नेहो यदस्मासु न विस्मृतः ॥१२॥

पद्मावती—आर्यपुत्र ! चित्रगतं गुरुजनं दृष्ट्वाभिवादयितुमिच्छामि । [अय्यउत्त ! चित्तगदं गुरुअणं पेक्खिअ अभिवादेदुं इच्छामि ।]

धात्री—पश्यतु, पश्यतु भर्तृ-दारिका ! (चित्रफलकां दर्शयति ।] [पेक्खदु, पेक्खदु भट्टिदारिआ !]

पद्मावती—(दृष्ट्वा आत्मगतम्) हम् ! अतिसदृशी खल्वियमार्याया आवन्तिकायाः । (प्रकाशम्) आर्यपुत्र ! सदृशी खल्वियमार्यायाः ? [हं ! अदिसदिसी खु इअं अय्याए आवंतिआए । अय्यउत्त ! सदिसी खु इयं अय्याए ?]

राजा—न सदृशी सैवेति मन्ये । भोः ! कष्टम्,

अस्य स्निग्धस्य वर्णस्य विपत्तिर्दारुणा कथम् ।
इदं च मुखमाधुर्यं कथं दूषितमग्निना ? ॥१३॥

पद्मावती—आर्यपुत्रस्य प्रतिकृतिं दृष्ट्वा जानामीयमार्यायाः सदृशी न वेति । [अय्यउत्तस्स पडिकिदिं पेक्खिअ जाणामि इअं अय्याए सदिसी ण वेत्ति ।]

धात्री—पश्यतु, पश्यतु भर्तृ-दारिका ! [पेक्खदु, पेक्खदु भट्टिदारिआ !]

पद्मावती—(दृष्ट्वा) आर्यपुत्रस्य प्रतिकृत्याः सदृशतया जानामीयमार्यायाः सदृशीति । [अय्यउत्तस्स पडिकिदीए सदिसदाए जाणामि इअं अय्याए सदिसी त्ति।]

राजा—देवि ! चित्रदर्शनात् प्रभृति प्रहृष्टोद्विग्नामिव त्वां पश्यामि । किमिदम् ?

पद्मावती—आर्यपुत्र ! अस्याः प्रतिकृत्याः सदृशीहैव प्रतिवसति । [अय्यउत्त ! इमाए पडिकिदीए सदिसी इह एव्व पडिवसदि ।]

राजा—किं वासवदत्तायाः ?

पद्मावती—आम् । [आम]

राजा—तेन हि शीघ्रमानीयताम् ।

एतद् वाक्यम् इदं वचः राज्यलाभशतादपि बहुराज्यप्राप्तेरपि प्रियतरं सविशेषं प्रियम् । यत् यतः अपराद्धेष्वपि कृतापराधेष्वपि अस्मासु स्नेहो वात्सल्यं न विस्मृतः विस्मृतिं न नीतः । वृत्तमनुष्टुप् ।१२।

यह वाक्य सौ राज्यों की प्राप्ति से भी अधिक प्रिय है जो हम अपराधियों पर भी स्नेह न भुलाया। (१२)

पद्मावती—आर्यपुत्र ! चित्र में उल्लिखित [प्राप्त] गुरुजन [वासवदत्ता] को देखकर अभिवादन करना चाहती हूँ।

धाय—देखो, देखो राजकुमारी ! (चित्रफलक को दिखलाती है।)

पद्मावती—(देखकर स्वयं ही) हूँ ! निश्चय से यह [स्त्री-चित्र] आर्या आवन्तिका के अत्यन्त सदृश है। (प्रकट) आर्यपुत्र ! क्या यह आर्या जैसी है ? [यह चित्र क्या बिल्कुल आर्या वासवदत्ता के समान है ?

राजा—समान नहीं, वही है ऐसा समझता हूँ। हाय ! दुःख,

इस प्रिय स्वरूप की कठोर [भयङ्कर मृत्युरूप] विपत्ति कैसे हुई ? और यह मुख का सौन्दर्य आग ने कैसे नष्ट कर दिया [दूषित कर दिया] ? (१३)

पद्मावती—आर्यपुत्र के चित्र को देखकर जानती हूँ [कि] आर्या जैसी [प्रतिकृति] है अथवा नहीं। [यदि आपका चित्र आप जैसा ही होगा तो यह भी वासवदत्ता का हूबहू अङ्कन होगा।]

धाय—देखो, देखो राजकुमारी !

पद्मावती—(देखकर) आर्यपुत्र की छाया की समानता से जानती हूँ [कि] यह [वासवदत्ता का चित्र] आर्या-जैसा ही है।

राजा—देवी ! चित्र देखने से लेकर प्रसन्न और उद्विग्न सा तुमको देख रहा हूँ। यह क्या है ?

पद्मावती—आर्यपुत्र ! इस चित्र जैसी यहाँ ही रहती है।

राजा—क्या वासवदत्ता जैसी ?

पद्मावती—हाँ।

राजा—तो फिर जल्दी लाओ।

अस्य पुरो दृश्यमानस्य स्निग्धस्य प्रियस्य वर्णस्य स्वरूपस्य दारुणा कठोरा भीषणा विपत्तिर्विनाशः कथं सम्पद्यत इति शेषः। इदञ्च मुखमाधुर्यं वदनसौन्दर्यम् अग्निना वह्निना कथं केन प्रकारेण दूषितं विध्वंसितम् ? अनुष्टुप् वृत्तम्।१३।

प्रहृष्टोद्विग्नाम् प्रहृष्टा सञ्जातहर्षा उद्विग्ना खिन्ना चासौ ताम्। प्रतिकृत्याः प्रतिच्छायायाः। प्रोषितो दूरदेशं गतो भर्ता स्वामी यस्याः सा। परिहरति वर्जयति।

पद्मावती—आर्यपुत्र ! मेरे विवाह से पहले [जब मैं कुंआरी थी] किसी एक ब्राह्मण ने 'मेरी बहन' इस प्रकार [कह कर] धरोहर [रूप] में रखी थी। प्रोषित-भर्तृका वह [जिसके पति विदेश गये हैं ऐसी] पर-पुरुष के दर्शन का वर्जन करती है। अतः आर्या [धाय] देखें [कि] समान है, अथवा नहीं।

राजा—यदि ब्राह्मण की बहन है [तो] स्पष्ट ही और होगी। संसार में एक दूसरे में रूप-सादृश्य देखा जाता है। (१४)

(प्रवेश करके।)

प्रतीहारी—स्वामी की जय हो। यह उज्जयिनी का ब्राह्मण 'देवी के हाथ में [मैंने] अपनी बहन' धरोहर रखी थी, उसे लेने के लिए द्वार-स्थल पर आया है।

राजा—पद्मावती ! क्या वही ब्राह्मण है ?

पद्मावती—उसे ही होना चाहिए।

राजा—अन्दर [राजभवन] के उचित शिष्टाचार के साथ उस ब्राह्मण को शीघ्र अन्दर लाओ।

प्रतीहारी—जो स्वामी की आज्ञा। (निकल गई।)

राजा—पद्मावती ! तुम भी उसे ले आओ।

पद्मावती—जो आर्यपुत्र की आज्ञा।

(निकल गई।)

(उसके बाद यौगन्धरायण और प्रतिहारी प्रवेश करते हैं।)

यौगन्धरायण—(स्वयमेव) अहो !

राजरानी [वासवदत्ता] को राजा के हित के लिए छिपाकर, हित को समझ कर [देख कर] इच्छानुसार मैंने यह [कार्य] किया। मेरे कार्य के सिद्ध होने पर भी वह राजा क्या कहेगा इस प्रकार मेरा हृदय शङ्कित हो रहा है। (१५)

प्रतीहारी—यह स्वामी हैं। आर्य समीप जायें।

यौगन्धरायण—(पास जाकर) जय हो, आप की जय हो।

राजा—पहले सुना हुआ-सा स्वर है। हे ब्राह्मण ! क्या आपकी बहन पद्मावती के हाथ में 'धरोहर' रूप में रखी थी ?

यौगन्धरायण—हाँ, हाँ।

राजा—तो फिर जल्दी करो, इसकी बहन जल्दी लाओ।

यदि विप्रस्य ब्राह्मणस्य भगिनी स्वसा [सा वर्तते तदा] व्यक्तं स्पष्टमन्या अपरा भविष्यति, न सा वासवदत्ता भविष्यतीत्यर्थः। लोके संसारे परस्परगला

प्रतीहारी—यद् भर्ताज्ञापयति । [जं भट्टा आणवेदि ।] (निष्क्रान्ता ।)

(ततः प्रविशति पद्मावती आवन्तिका प्रतीहारी च ।)

पद्मावती—एत्वेत्वार्या । प्रियं ते निवेदयामि । [एदु एदु अय्या । पिअं दे णिवेदेमि ।]

आवन्तिका—किं किम् ? [किं किं ?]

पद्मावती—भ्राता ते आगतः । [भादा दे आअदो ।]

आवन्तिका—दिष्टचेदानीमपि स्मरति । [दिट्ठिआ दाणिं पि सुमरदि ।]

पद्मावती—(उपसृत्य) जयत्वार्यपुत्रः । एष न्यासः ।[जेदु अय्यउत्तो । एसो णासो ।]

राजा—निर्यातय पद्मावति ! अथवा साक्षिमन्न्यासो निर्यातयितव्यः । इहात्रभवान् रैभ्यः अत्रभवती चाधिकरणं भविष्यतः ।

पद्मावती—आर्य ! नीयतामिदानीमार्या । [अय्य ! णीअदां दाणिं अय्या ।]

धात्री—(आवन्तिकां निर्वर्ण्य) अम्मो ! भर्तृ-दारिका वासवदत्ता ! [अम्मो ! भट्टि-दारिआ वासवदत्ता !]

राजा—कथं महासेनपुत्री ? देवि ! प्रविश त्वमभ्यन्तरं पद्मावत्या सह ।

यौगन्धरायणः—न खलु न खलु प्रवेष्टव्यम् । मम भगिनी खल्वेषा ।

राजा—किं भवानाह, महासेनपुत्री खल्वेषा ।

यौगन्धरायणः—भो राजन् !

भारतानां कुले जातो विनीतो ज्ञानवाञ्छुचिः ।
तन्नार्हसि बलाद्धर्तुं राजधर्मस्य देशिकः ॥१६॥

राजा—भवतु, पश्यामस्तावद्रूपसादृश्यम् । संक्षिप्यतां यवनिका ।
यौगन्धरायणः—जयतु स्वामी ।

अन्योन्यं सम्प्राप्ता रूपतुल्यता रूपसादृश्यं दृश्यते अवलोक्यते । अनुष्टुप् वृत्तम् ।१४।

नृपतेः राज्ञः हितार्थं लाभाय राजमहिषीं कृताभिषेकां पत्नीं वासवदत्तामिति यावत् प्रच्छाद्य आवन्तिकारूपेण संगोप्य, हितं लाभ इति अवेक्ष्य अवधार्य मया यौगन्धरायणेन इदं वासवदत्तायाः गोपनं पद्मावतीपरिणयश्चेति कार्यद्वयम्, कामं स्वैरं यथा स्यात्तथा कृतं सम्पादितम् । मम कर्मणि सिद्धेऽपि नाम प्राप्तफलेऽपि मम कर्मणि असौ पार्थिवः उदयनः किं वक्ष्यति किमभिधास्यति इति मे हृदयं मनः परिशङ्कितं शङ्काकुलं वर्तते । वसन्ततिलका वृत्तम् ।१५।

प्रतीहारी—जो स्वामी की आज्ञा। (निकल गई।)
(उसके बाद पद्मावती आवन्तिका और प्रतीहारी प्रवेश करते हैं।)

पद्मावती—आओ, आओ आर्या। तुम्हें प्रिय [समाचार] बताती हूँ।

आवन्तिका—क्या क्या ?

पद्मावती—तुम्हारा भाई आ गया है।

आवन्तिका—अहो भाग्य, जो अब भी याद कर लिया।

पद्मावती—(पास जाकर) आर्यपुत्र की जय हो। यह धरोहर है।

राजा—पद्मावती ! लौटा दो। अथवा धरोहर साक्षी पूर्वक लौटाई जानी चाहिए। यहाँ श्रीमान् रैभ्य और श्रीमती [वसुन्धरा] न्यायाधीश होंगे।

पद्मावती—आर्य ! [यौगन्धरायण] लीजिए अब आर्या [आवन्तिका] को।

धाय—(आवन्तिका को देखकर) अरे ! राजपुत्री वासवदत्ता।

राजा—क्या महासेन की बेटी ? देवी ! तुम पद्मावती के साथ अन्दर चलो।

यौगन्धरायण—नहीं, भीतर नहीं जाना चाहिए। यह मेरी बहन है।

राजा—आप क्या कहते हैं। यह तो महासेन की बेटी है।

यौगन्धरायण—हे राजन् !

भरतों के कुल में उत्पन्न विनीत, ज्ञानी [एवं] सच्चरित्र (पवित्र), राजधर्म के प्रवर्तक [आप हैं], इसलिए बलपूर्वक [इस मेरी बहिन का] अपहरण [आपके] योग्य नहीं है।

राजा—अच्छा तो हम रूप-सादृश्य को देखते हैं। घूंघट कम करो।
यौगन्धरायण—स्वामी की जय हो।

साक्षिमन्न्यासः साक्षियुक्तो न्यासो निक्षेपः निर्यातयितव्यः प्रत्यर्पयितव्यः। अधिकरणं व्यवहारस्य द्रष्टारौ साक्षिणौ इत्यर्थः।

भारतानां भरतवंशजानां कुले वंशे जातः उत्पन्नः, विनीतः विनयोपेतः शिक्षित इत्यर्थः, ज्ञानवान् ज्ञानं सदसद्विवेकोऽस्यास्तीत्यसौ विवेकवान् शुचिः पवित्राचारः त्वं वर्तसे इति शेषः। तत् तस्मात् राजधर्मस्य राजोचितकर्तव्यस्य देशिकः प्रवर्तयिता शिक्षयिता वा त्वं बलात् बलपूर्वकं यथा स्यात्तथा हर्तुं ग्रहीतुं मद्भगिनीमित्यर्थः, नार्हसि। प्रसभं मद्भगिन्याः हरणं नोचितमिति भावः। अनुष्टुप् वृत्तम्।१६।

पश्यामः परीक्षामहे। संक्षिप्यताम् ईषदपनीयताम्। यवनिका अवगुण्ठनम्।

वासवदत्ता—जयत्वार्यपुत्रः। [जेदु अय्यउत्तो।]

राजा—अये! असौ यौगन्धरायणः। इयं महासेनपुत्री।

किं नु सत्यमिदं स्वप्नः सा भूयो दृश्यते मया।
अनयाप्येवमेवाहं दृष्टया वञ्चितस्तदा॥१७॥

यौगन्धरायणः—स्वामिन्! देव्यपनयेन कृतापराधः खल्वहम्। तत् क्षन्तुमर्हति स्वामी। (इति पादयोः पतति।)

राजा—(उत्थाप्य) यौगन्धरायणो भवान् ननु।

मिथ्योन्मादैश्च युद्धैश्च शास्त्रदृष्टैश्च मन्त्रितैः।
भवद्यत्नैः खलु वयं मज्जमानाः समुद्धृताः॥१८॥

यौगन्धरायणः—स्वामिभाग्यानामनुगन्तारो वयम्।

पद्मावती—अहो! आर्या खल्वियम्। आर्ये! सखीजनसमुदाचारेणाजानत्यातिक्रान्तः समुदाचारः। तच्छीर्षेण प्रसादयामि। [अम्महे! अय्या खु इअं। अय्ये! सहीजणसमुदाआरेण अजाणंतीए अदिक्कंदो समुदाआरो। ता सीसेण पसादेमि।]

वासवदत्ता—(पद्मावतीमुत्थाप्य) उत्तिष्ठोत्तिष्ठाविधवे! उत्तिष्ठ। अर्थिस्त्वं नाम शरीरमपराध्यति। [उट्ठेहि उट्ठेहि अविहवे! उट्ठेहि। अत्थिसअं णाम सरीरं अवरद्धइ।]

पद्मावती—अनुगृहीतास्मि। [अणुग्गहिदम्हि।]

राजा—वयस्य यौगन्धरायण! देव्यपनये का कृता ते बुद्धिः?

यौगन्धरायणः—कौशाम्बीमात्रं परिपालयामीति।

राजा—अथ पद्मावत्या हस्ते किं न्यासकारणम्?

इदं पुरो वर्तमानं दृश्यं यौगन्धरायणवासवदत्तादर्शनं सत्यं यथार्थम् किं नु इति वितर्के अथवा स्वप्नः अयथार्थम्? सा वासवदत्ता मया भूयः पुनः (पूर्वं समुद्रगृहे दृष्टा इदानीञ्चात्र दृश्यते अतः 'भूयस्' शब्दप्रयोगः) दृश्यते अवलोक्यते। एवमेव दृष्टया, यथा इदानीं प्रत्यक्षं दृश्यते तथैव तदापि प्रत्यक्षविषया एव एषा आसीत्, अनया वासवदत्तया तदापि समुद्रगृहप्रसङ्गेऽपि अहं विप्रलब्धोऽभूवमिति शेषः। अनुष्टुप् वृत्तम्।१७।

देव्यपनयेन देव्याः वासवदत्तायाः अपनयः स्वरूपप्रच्छादनपूर्वकमन्यत्र नयनं तेन कृतापराधोऽहम्।

वासवदत्ता—आर्यपुत्र की जय हो।

राजा—अरे ! वह यौगन्धरायण। यह महासेनपुत्री।

यह यथार्थ है अथवा स्वप्न ? उसे [समुद्रगृह में देखी गई वासवदत्ता को] फिर से मैं देख रहा हूँ। इसी प्रकार देखी जाती हुई इस [वासवदत्ता] से मैं तब भी ठगा गया था। (१७)

यौगन्धरायण—स्वामी ! देवी को (आपसे छिपाकर) दूर करने के कारण मैं अपराधी हूँ। स्वामी क्षमा करें। (इस प्रकार [कह कर] पैरों में गिरता है।)

राजा—(उठा कर) आप सचमुच यौगन्धरायण हैं।

मिथ्या उन्मत्त व्यवहारों और युद्धों, शास्त्रोक्त मन्त्रणाओं एवं आपके द्वारा किये गए प्रयत्नों से, डूबते हुए हम निश्चय ही उभार लिए गये हैं। (१८)

यौगन्धरायण—हम [तो] स्वामी के भाग्यों के अनुगामी हैं।

पद्मावती—अहो ! यही आर्या हैं। आर्ये ! सखी-व्यवहार से अनजाने औचित्य का अतिक्रमण किया है। अतः पैरों पर सिर रख कर क्षमा मांगती हूँ।

वासवदत्ता—(पद्मावती को उठाकर) उठो उठो सुहागिन ! उठो, निश्चय ही याचक [यौगन्धरायण] का धन [रूप मेरा] शरीर अपराधी है। [तुम्हारा अपराध नहीं है, अपराधी मेरा वह स्वरूप है, जिसे याचक ने तुम्हारे पास धरोहर रूप में रखा था।]

पद्मावती—अनुगृहीत हुई।

राजा—मित्र यौगन्धरायण ! देवी को दूर करने में [मुझसे अलग करने में] तुम्हारी क्या सूझ रही ? [तुमने क्या सोचकर देवी को मुझसे अलग किया ?]

यौगन्धरायण—केवल कौशाम्बी की रक्षा करता था, इसलिए। [हमारे हाथ में कौशाम्बी मात्र रह गई थी, शेष सारा वत्स-राज्य छिन गया था, हम सारे राज्य का पालन-शासन कर सकें इस कारण यह सब किया।]

राजा—अच्छा, पद्मावती के हाथ में धरोहर [रखने का] क्या कारण था ?

मिथ्योन्मादैः अवास्तविकैः चित्तविभ्रमचेष्टितैः "उन्मादश्चित्तविभ्रमः" इति कोषः युद्धैश्च संग्रामैश्च, शास्त्रदृष्टैः शास्त्रसम्मतैः मन्त्रितैश्च गूढमन्त्रणैश्च, ईदृशैः भवद्-यत्नैः भवदुद्योगैः खलु निश्चयेन, मज्जमानाः [आपत्-सागरे] निमग्नाः मज्जनशीलाः (ताच्छील्येऽर्थे मज्जधातोः चानश् प्रत्ययः, परस्मैपदत्वेन न शानच् प्रसङ्गः) वयं समुद्धृताः उद्धृताः विपत्सागरात् बहिर्निष्कासिताः इति भावः। अनुष्टुप् वृत्तम्।१८।

सखीजनसमुदाचारेण सखीजनोचिताचरणेन व्यवहारेण इति यावद् अजानत्या मया अतिक्रान्त. उल्लङ्घितः समुदाचारः शिष्टव्यवहारः। अर्थिनः यौगन्धरायणस्य स्वं धनं तद्रूपं मे शरीरं देहः अपराध्यति नाम सापराधं भवति खलु। प्रतिनिवर्तताम् उज्जयिनीं प्रति गच्छतु।

यौगन्धरायणः—पुष्पकभद्रादिभिरादेशिकैरादिष्टा 'स्वामिनो देवी भविष्यती'ति ।
राजा—इदमपि रुमण्वता ज्ञातम् ।
यौगन्धरायणः—स्वामिन् ! सर्वैरेव ज्ञातम् ।
राजा—अहो ! शठः खलु रुमण्वान् ।
यौगन्धरायणः—स्वामिन् ! देव्याः कुशलनिवेदनार्थमद्यैव प्रतिनिवर्ततामत्रभवान् रैभ्योऽत्रभवती च ।
राजा—न, न । सर्व एव वयं यास्यामो देव्या पद्मावत्या सह ।
यौगन्धरायणः—यदाज्ञापयति स्वामी ।

भरतवाक्यम् ।

इमां सागरपर्यन्तां हिमवद्विन्ध्यकुण्डलाम् ।
महीमेकातपत्राङ्कां राजसिंहः प्रशास्तु नः ॥१९॥

(निष्क्रान्ताः सर्वे ।)

इति षष्ठोऽङ्कः ।

इति स्वप्नवासवदत्तमवसितम् ।

सागरपर्यन्ताम् सागराः समुद्राः पर्यन्तः सीमा यस्यास्ताम्, हिमवान् हिमालयो विन्ध्यो विन्ध्याचलश्च द्वौ पर्वतौ एव कुण्डले कर्णालङ्कारौ यस्यास्ताम् । एकमेवातपत्रं श्वेतच्छत्रं अङ्कः राज्यचिह्नं यस्यास्तामिमां महीम् पृथ्वीं नः अस्माकं राजसिंहः नृपतिवरः राजा सिंह इव (उपमितसमासः) प्रशास्तु पालयत्वित्यर्थः ।१९।

षष्ठोऽङ्कः परिसमाप्तः ।

स्वप्नवासवदत्तं समाप्तम् ।

इति संस्कृतटीका

यौगन्धरायण—पुष्पकभद्र आदि दैवज्ञों ने [पद्मावती के विषय में] 'स्वामी की देवी होगी' इस प्रकार भविष्यवाणी की थी।

राजा—यह भी रुमण्वान् को मालूम था।

यौगन्धरायण—स्वामी! सभी को मालूम था।

राजा—अहो! निश्चय ही धूर्त है रुमण्वान्।

यौगन्धरायण—स्वामी! देवी का कुशल कहने के लिए आज ही श्रीमान् रैभ्य को और श्रीमती [वसुन्धरा] को वापस लौटाइए।

राजा—नहीं, नहीं। देवी पद्मावती के साथ हम सभी जायेंगे।

यौगन्धरायण—जो स्वामी की आज्ञा।

भरतवाक्य।

सागर है सीमा जिसकी ऐसी, हिमालय [और] विन्ध्याचल हैं कुण्डल जिसके ऐसी, एक ही है साम्राज्य-चिह्न जिसका ऐसी इस पृथ्वी को, हमारे राजसिंह [बलवान्] राजा शासित करें। (१९)

(सब निकल गये।)

षष्ठ अङ्क समाप्त।

स्वप्नवासवदत्तम् समाप्त।

परिशिष्ट—१

टिप्पणियाँ

कथावस्तु—छठी शताब्दी ई० पू० के उत्तरार्द्ध में पुरुवंशीय राजा उदयन वत्स-राज्य का अधिपति था। इलाहाबाद के पास यमुना के किनारे कौशाम्बी इस राज्य की राजधानी थी। मगध-राज्य (वर्तमान बिहार का दक्षिण प्रदेश) की राजधानी राजगृह थी और वहाँ अजातशत्रु का पुत्र दर्शक राज्य करता था। नर्मदा के उत्तर में अवन्ति-राज्य (मालवा का पश्चिमी भाग) फैला हुआ था। इसकी राजधानी शिप्रा नदी पर बसी उज्जयिनी थी। इस प्रदेश पर प्रद्योत का आधिपत्य था। सैन्य-बल के आधार पर प्रद्योत को महासेन भी कहते थे। उदयन के पास घोषवती नाम की एक दिव्य वीणा थी। इसके स्वर से वह हाथियों को पकड़ा करता था। एक बार प्रद्योत के अमात्य शालङ्कायन ने छल करके उसे कैद कर लिया। प्रद्योत ने मन ही मन निश्चय किया कि वासवदत्ता का इससे विवाह कर दिया जाय। यही सोचकर उसने उदयन को वासवदत्ता के लिए वीणा-शिक्षक नियुक्त कर दिया। इस क्रम में दोनों एक दूसरे के प्रति आकर्षित हो गये। अपने मन्त्री यौगन्धरायण के चातुर्य से उदयन वासवदत्ता को लेकर उज्जयिनी से भागने में सफल हो गया। उदयन वासवदत्ता और ललित कलाओं में इतना खोया रहता था कि उसे राज-कार्य की भी सुध नहीं रहती थी। धीरे-धीरे इसके राज्य (वत्स) को आरुणि नामक एक क्रूर शत्रु ने छीन लिया। आरुणि से अपने राज्य को वापस लेने के लिए यौगन्धरायण और रुमण्वान् प्रयत्नशील थे। पर बिना किसी अन्य राज्य की सहायता के आरुणि को परास्त नहीं किया जा सकता था। राजकीय ज्योतिषियों से उन्हें पता चला कि मगध-नरेश की बहन पद्मावती महाराज उदयन की पत्नी बनेगी। वासवदत्ता से उदयन का इतना प्रेम था कि उसके रहते दूसरे विवाह की उससे चर्चा तक नहीं की जा सकती थी। यौगन्धरायण ने अन्य प्रधान पुरुषों के साथ मिलकर एक योजना बनाई। उदयन की आखेट में अत्यधिक रुचि थी। यमुना के दक्षिण में मगध राज्य की सीमा के पास (सम्भवतः गङ्गा यमुना के संगम के समीप) एक गाँव था लावाणक। यौगन्धरायण उदयन को वासवदत्ता सहित आखेट के लिए वहाँ ले गया। कुछ दिनों के लिए सारा राजकीय परिवार वहीं शिविर में रहा। एक दिन, जब उदयन मृगया के लिये बाहर गया हुआ था, शिविर में पीछे से आग लगा दी गई। उदयन को बताया गया कि वासवदत्ता इसमें जल कर मर

गई और उसे बचाने के प्रयत्न में यौगन्धरायण भी जल मरा। उदयन इस समाचार से बहुत रोया तड़पा। रुमण्वान् आदि अन्य मन्त्रियों ने उसे सम्भाला और वे वापस कौशाम्बी में आ गये। उधर यौगन्धरायण ने मगध-राजपुत्री (पद्मावती) के पास प्रच्छन्न वासवदत्ता(आवन्तिका) को धरोहर रूप में रख दिया। वासवदत्ता की याद में उदयन तड़पा तो खूब पर किसी न किसी तरह पद्मावती से विवाह करने के लिए तैय्यार हो ही गया। विवाह के बाद दोनों राज्यों की सेनाओं ने मिलकर आरुणि को परास्त किया और खोया हुआ राज्य उदयन को पुनः प्राप्त हुआ। अन्त में बड़े ही नाटकीय प्रकार से वासवदत्ता और यौगन्धरायण प्रकट हुए। यौगन्धरायण ने अपने दुःसाहस के लिए उदयन से क्षमा माँगी, घटना की दृष्टि से यही नाटक की कथा-वस्तु है। इसमें स्वप्नवासवदत्त से पहले की कथा के कुछ आवश्यक अंश भी सम्मिलित हैं। वस्तुतः प्रस्तुत नाटक घटनाप्रधान न होकर चरित्रप्रधान है। इसमें वासवदत्ता और उदयन दोनों के परस्पर प्रेम की विप्रलम्भ-शृंगार के रूप में अभिव्यक्ति हुई है। प्रत्येक अङ्क की कथावस्तु का निर्देश अङ्क के प्रारम्भ में ही यथा-स्थान किया गया है। प्रथम अङ्क की कथा इस प्रकार है—

परिव्राजक-वेष में यौगन्धरायण और आवन्तिका-वेष में वासवदत्ता लावाणक से चल कर राजगृह के समीपवर्ती तपोवन में पहुँचते हैं। पद्मावती अपने दल-बल सहित अपनी माँ से मिलने के लिए इसी तपोवन में आती है। वह घोषणा कराती है कि तपस्वी अपनी इच्छानुसार कुछ भी माँगे वह उन्हें मिलेगा। यौगन्धरायण अवसर का लाभ उठाकर आवन्तिका (अपनी बहन) को कुछ समय के लिए पद्मावती के पास धरोहर रूप में रख देता है। थोड़ी देर में वहाँ एक ब्रह्मचारी लावाणक गाँव से आता है और वहाँ घटी पूरी दुर्घटना की सूचना देता है। यौगन्धरायण अनजान बनकर सब कुछ सुनता है। इसी प्रसंग में ब्रह्मचारी उदयन के वासवदत्ता-प्रेम की प्रशंसा करता है। यहीं पद्मावती का उदयन के प्रति कुछ-कुछ अनुराग भी प्रकट होता है।

स्थान—राजगृह का समीपवर्ती तपोवन। यह स्थान लावाणक से भी अधिक दूर नहीं था।

समय—दृश्य आरम्भ होने के कुछ समय बाद ब्रह्मचारी आता है। इस समय दोपहर है। अतः दृश्य का आरम्भ दिन के प्रथम भाग में हुआ ऐसा अनुमान किया जा सकता है। अन्त में सूर्यास्त का वर्णन है। इस प्रकार दिन के प्रथम प्रहर से लेकर संध्या तक का समय इस अङ्क का समय प्रतीत होता है।

पृ० १—स्वप्नवासवदत्तम्—रूपक के दस भेदों में से स्वप्नवासवदत्त 'नाटक' नामक भेद है। 'नाटक' का नाम मुख्य रूप से उसमें निर्दिष्ट किसी घटना को प्रकट करने वाला होना चाहिए—"नाम कार्यं नाटकस्य गर्भितार्थप्रकाशकम्" साहित्यदर्पण ६-१४८। प्रस्तुत नाटक के पाँचवें अङ्क में एक विशेष घटना का उल्लेख है। पद्मा-

वती से विवाह होने के बाद उदयन को समाचार मिलता है कि उसके सिर में दर्द है। विदूषक के साथ वह पद्मावती को देखने समुद्रगृह में जाता है। अभी तक वहाँ पद्मावती नहीं पहुँची थी, वह उसकी प्रतीक्षा में वहीं बिस्तर पर बैठ जाता है। विदूषक एक कहानी सुनानी आरम्भ करता है। कहानी में उज्जयिनी का नाम सुन कर उदयन को अपनी मृत पत्नी वासवदत्ता याद आ जाती है। इसी याद को साथ लिए यह वहीं सो जाता है। विदूषक भी अपनी चादर लेने के लिए बाहर चला जाता है। दूसरी ओर पद्मावती की शिरोव्यथा का समाचार सुन कर आवन्तिका (वस्तुतः वासवदत्ता) भी वहीं आ जाती है। बिस्तर पर चादर ओढ़ कर सोये उदयन को वह दीपक के हल्के प्रकाश में पद्मावती ही समझती है। अधिक स्नेह के कारण वह न केवल उसी बिस्तर पर बैठती है वरन् आधा हिस्सा खाली देख कर साथ ही लेट जाती है। उदयन वासवदत्ता की याद मन में लिए सोया था, वह स्वप्न में वासवदत्ता से बातें करता है। साथ लेटी वासवदत्ता पहले तो घबराती है पर फिर स्वप्न समझ कर उदयन के साथ बातें करने लगती है। उदयन स्वप्न में बोलता है और वासवदत्ता वास्तव में। दोनों का यह मिलन अद्भुत है। अन्त में वासवदत्ता नीचे लटके उदयन के हाथ को शय्या पर रख कर जब जाने लगती है, तो स्पर्श से उदयन की नींद खुल जाती है। अर्धजागृत अवस्था में वह वासवदत्ता को पकड़ना चाहता है, पर द्वार से टकराने के कारण नहीं पकड़ पाता। इस घटना की सत्यता को विदूषक प्रयत्नपूर्वक अन्यथा सिद्ध करता है। उदयन भी दुविधा में पड़कर निश्चय नहीं कर पाता कि यह वास्तविकता थी, स्वप्न था, या विभ्रम था। इस प्रसंग में उदयन के इस डाँवाडोल मन का बहुत ही सुन्दर चित्रण हुआ है। वस्तुतः यह स्वप्न भी है, वास्तविकता भी है और विभ्रम भी है। यह मिलन वास्तव में अलौकिक है। इसी प्रसंग में वासवदत्ता के प्रति उदयन के अद्वितीय प्रेम की अभिव्यक्ति हुई है। वासवदत्ता से मिलने के लिए वह स्थायी निद्रा या चिर चित्तविक्षेप को भी सहर्ष स्वीकार करने के लिए तत्पर है **"यदि तावदयं स्वप्नो धन्यमप्रतिबोधनम्। अथायं विभ्रमो वा स्याद्विभ्रमो ह्यस्तु मे चिरम्"** (पृ० ७४)। उदयन और वासवदत्ता के प्रेम की यह अभिव्यञ्जना अलौकिक है। वासवदत्ता अनजाने ही कहती है **"किं नु खल्वेतया सहोपविशन्त्या अद्य प्रह्लादितमिव मे हृदयम्"** (पृ० ७०)। उदयन भी विदूषक से प्रेम की इस दिव्यता को यों कहता है **"स्वप्नेऽप्युत्पन्नसंस्पर्शो रोमहर्षं न मुञ्चति"** (पृ० ७४)।

उदयन और वासवदत्ता की प्रचलित प्रेमकथा को आधार बना कर भास ने यह नाटक लिखा है। दोनों के अद्वितीय प्रेम की अभिव्यक्ति ही वस्तुतः नाटक का उद्देश्य है। इस प्रेम की अभिव्यक्ति स्वप्न-प्रसंग में बड़ी मार्मिक और अलौकिक हुई है। नाटक में यह प्रसंग सबसे अधिक सुन्दर है। नाटक का मुख्य रस शृंगार है। इसी के भेद विप्रलम्भ-शृंगार का पूर्ण विकास इस स्वप्न-प्रसंग में हुआ है। विप्रलम्भ अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच कर नाटकीय रूप से सम्भोग-शृंगार की श्रेणी में आ

जाता है। उदयन का रोमाञ्चित हाथ इसी का साक्षी है। दृश्य देखते-देखते सहृदय को भी यहाँ रोमाञ्च होने लगता है। यहीं साधारणीकरण होकर रस का परिपाक होता है। यहीं नाटक की कथावस्तु अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँचती है। वासवदत्ता और उदयन का यही स्वप्न-मिलन आगे होने वाले वास्तविक मिलन का आधार है।

इस प्रकार क्योंकि यह प्रसंग नाटक में सबसे अधिक सुन्दर, मार्मिक, चित्ताकर्षक एवं रसास्वादक है अतः नाटक का नाम इस प्रसंग के आधार पर 'स्वप्नवासवदत्तम्' रखा है।

यौगन्धरायण ने सारी योजना आरुणि से राज्य वापस लेने के लिए बनाई थी। अतः नाटक का उद्देश्य उदयन को खोये हुए राज्य की पुनः प्राप्ति करना है। इस तर्क के अनुसार नाटक का नाम 'उदयनोदयम्' होना चाहिए। किन्तु यह तर्क प्रबल नहीं है। नाटक काव्य होता है, इतिहास नहीं, अतः प्रकृत नाटक का मुख्य उद्देश्य उदयन-वासवदत्ता के प्रेम की अभिव्यक्ति ही है, आरुणि को परास्त करना नहीं। इसी कारण भास ने इस आरुणि विषयक प्रसंग को अत्यन्त गौण रूप में रखा है। काञ्चुकीय इस की सूचना मात्र देता है इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं। स्वयं नाटक का नायक उदयन इस विषय में एक छोटा सा (उपेन्द्रवज्रा छन्द में) पद्य कहता है (पृ०७६) और वास्तव में यह पद्य भी उदयन के मुँह से बहुत अटपटा लगता है। विश्वास नहीं होता कि यह वही उदयन कह रहा है, जिसे हम स्वप्न-वासवदत्त के माध्यम से जानते हैं। उसके प्रस्तुत चरित्र के साथ यह पद्य सर्वथा मेल नहीं खाता है। भास ने बलात् इस पद्य को उसके मुंह से कहलाया है। इस प्रसंग के आधार पर भला नाटक का नाम कैसे युक्तियुक्त हो सकता है।

यौगन्धरायण की योजना का मुख्य आधार उदयन का पद्मावती से विवाह कराना है। इस आधार पर 'पद्मावतीपरिणयम्' संज्ञा के पक्ष में भी युक्ति दी जा सकती है। पर यह भी तर्क-संगत नहीं है। उदयन कहीं भी पद्मावती से विवाह करने के लिए छटपटाता हुआ नहीं दिखाई देता। विवाह होने पर वह उसके प्रेम में वासवदत्ता को भूल गया हो सो बात भी नहीं है। इसके विपरीत स्पष्ट शब्दों में वह इसे "कालक्रमेण पुनरागतदारभारः" (पृ० ६२) कहता है। सारे नाटक में विवाह और पद्मावती-प्रणय के ऊपर वासवदत्ता का विरह छाया रहता है। विवाह-प्रसंग सुन्दर होते हुए भी उदयन-वासवदत्ता के प्रेम से अभिभूत सा हुआ रहता है। वस्तुतः पद्मावती के विवाह में भी वासवदत्ता की मनोव्यथा का ही अधिक प्रभावशाली रूप में उल्लेख हुआ है। गौण विवाह-प्रसंग, प्रधान उदयन-वासवदत्ता-प्रेम-प्रसंग का ही उपकारक है। अतः "पद्मावतीपरिणयम्" यह नाम भी नाटक के लिए उपयुक्त नहीं होता।

'उदयनवासवदत्तम्' इसे संज्ञा दी जा सकती थी। पर स्वप्न-प्रसंग इसी उदयन-वासवदत्तम् की अधिक सशक्त अभिव्यक्ति है। इसके अतिरिक्त सारे नाटक में

अनुस्यूत 'उदयनवासवदत्तम्' के मध्य मुख्य-मणि जैसा 'स्वप्न-प्रसंग' का स्थान है। अतः संज्ञा की दृष्टि से 'स्वप्नवासवदत्तम्' ही सर्वथा उपयुक्त शीर्षक है।

स्वप्ने दृष्टा वासवदत्ता इति स्वप्नवासवदत्ता, तामधिकृत्य कृतं नाटकं स्वप्नवासवदत्तम्। अधिकृत्य कृते ग्रन्थे (पा० ४-३-८७) से अण् प्रत्यय करने पर रूप बनेगा। स्वप्न में उपस्थित वासवदत्ता के आधार पर लिखा गया नाटक। अथवा—
स्वप्ने दृष्टा वासवदत्ता इति स्वप्नवासवदत्ता(शाकपार्थिवादिवत् उत्तरपदलोपिसमासः), सा एव अभेदोपचारात् स्वप्नवासवदत्तम्।

नान्द्यन्ते ततः प्रविशति सूत्रधारः—नन्दन्ति देवता यत्र (नन्द्+घञ्, पृषो० वृद्धिः, ङीप्) नाटक को प्रस्तुत करने से पहले की जाने वाली आशीर्वादात्मक स्तुति। साहित्यदर्पण के अनुसार नान्दी का स्वरूप निम्नलिखित है—

"आशीर्वचनसंयुक्ता स्तुतिर्यस्मात्प्रयुज्यते।
देवद्विजनृपादीनां तस्मान्नान्दीति संज्ञिता॥
मंगल्यशङ्खचन्द्राब्जकोककैरवशंसिनी।
पदैर्युक्ता द्वादशभिरष्टाभिर्वा पदैरुत॥" (६, २४-२५)

"नमस्कृतिर्माङ्गलिकी, आशीः पत्रावली तथा। नान्दी चतुर्धा निर्दिष्टा नाटकादिषु धीमता॥" नान्दी चार प्रकार की होती है। इनमें से प्रथम तीन प्रकार की नान्दी शुद्धा कहलाती है और चौथे प्रकार की पत्रावली (व्यञ्जका) कहलाती है। "यस्यां बीजस्य विन्यासो ह्यभिधेयस्य वस्तुनः। श्लेषेण वा समासोक्त्या नान्दी पत्रावली तु सा॥" काव्येन्दुप्रकाशकार के अनुसार 'नीली' और 'शुद्धा' रूप से नान्दी दो प्रकार की होती है। यदि नान्दी-पद्य में चन्द्रमा या सूर्य का साक्षात् या परोक्ष अभिधान अथवा संकेत हो, तो वह नीली नामक नान्दी कहलायेगी अन्यथा शुद्धा होगी।

नान्दी का सम्बन्ध नाटककार, अभिनेता और दर्शक सभी के साथ होता है। निर्विघ्न नाटक समाप्त हो—यह तीनों का ही अभीष्ट है। नाटक के आरम्भ में सूत्रधार नान्दी पद्य को पढ़ता है 'सूत्रधारः पठेन्नान्दीम्'। नाटक में अनेक प्रकार के विघ्न उपस्थित हो सकते हैं। बीच में कोई वाद्य खराब हो सकता है। रंगमंच पर किसी प्रकार का विघ्न उपस्थित हो सकता है, कुछ टूट जाय, पर्दे ठीक से काम न करें आदि। किसी अभिनेता के साथ कोई गड़बड़ हो सकती है, वह अपना पाठ भूल सकता है। प्रकाश आदि के प्रबन्ध में कुछ व्याघात हो सकता है। दर्शकों में किसी प्रकार की खलबली मच सकती है। इसके अतिरिक्त कोई दैवी आपत्ति भी आ सकती है। इन आपत्तियों से बचने का एक ही उपाय है कि सभी अभिनेता, विशेष रूप से उनका नेता (सूत्रधार), अपनी सम्पूर्ण प्रस्तुति की ठीक-ठीक योजना करे और सूक्ष्म दृष्टि से अभिनय आरम्भ करने से पहले प्रत्येक साधन की जाँच कर ले, जिस आपत्ति का उपाय अपने हाथ में नहीं उसके लिए देवताओं की प्रार्थना कर ले।

भरत ने अपने सहयोगियों के साथ जब प्रथम नाटक प्रस्तुत किया, तो उसमें खूब बाधाएँ आईं। विरूपाक्ष के नेतृत्व में असुरों ने विघ्न उपस्थित किए। इस नाटक का आरम्भ नान्दी से किया गया था। पूर्वं कृता मया नान्दी ह्याशीर्वचनसंयुता (ना० शा० १-५६)। दूसरी बार 'अमृतमन्थन' का अभिनय किया गया। इस बार रंगशाला का निर्माण हुआ तथा विधिपूर्वक रंगशाला में भजन-पूजन भी किया गया। क्योंकि ब्रह्मा ने असुरों को समझा दिया था अतः विघ्न नहीं हुए। फिर भी अपनी भूल से होने वाले विघ्नों का सन्देह बना रहा। तीसरी बार हिमाचल-प्रदेश के किसी स्थान पर 'त्रिपुरदाह' प्रस्तुत किया गया। शिव अपने गणों सहित विशेष अतिथि के रूप में इसे देखने आये थे। सर्वप्रथम इस अवसर पर पूर्वरङ्ग की विधि अपनाई गई। शिव ने अभिनय की प्रशंसा की और पूर्वरङ्ग के बारे में उपयोगी सुझाव भी दिए।

पूर्वरङ्ग के उन्नीस विभिन्न अङ्ग होते हैं। 'नान्दी' को भी इसी के अङ्गों में सम्मिलित कर लिया गया। मङ्गल कार्यों का आरम्भ आशीर्वचन से होना चाहिए 'तथाशिषमाशास्ते' (अभिनवगुप्त द्वारा उद्धृत एक श्रुतिवचन)। इसी कारण नान्दी को आवश्यक अङ्ग के रूप में रखा गया। "यन्नाट्यवस्तुनः पूर्वं रङ्गविघ्नोपशान्तये। कुशीलवाः प्रकुर्वन्ति पूर्वरङ्गः स उच्यते॥ प्रत्याहारादिकान्यंगान्यपि भूयांसि यद्यपि। तथाप्यवश्यं कर्तव्या नान्दी विघ्नोपशान्तये" (सा० दर्प० ६, २२-२३)।

पूर्वरंग के प्रथम नौ अंगों का सम्बन्ध विभिन्न वाद्यों और गायकों के उचित स्थान पर बैठने और तत्सम्बन्धी पूर्व तैयारी से है। दसवें अंग में पूर्वाभ्यास की अन्तिम परीक्षा की जाती है। इसके बाद 'विघाटच वै यवनिकाम्" पर्दा उठाकर आगे के अंग होते हैं। नान्दी तेरहवाँ अंग है। इसे करके अभिनयसम्बन्धी अन्तिम जाँच की जाती है और फिर कवि एवं नाटक का परिचय देकर अभिनय प्रारम्भ हो जाता है।

इस पूर्वरंग के कितने अंगों को कुशीलव स्वयं करते हैं और कहाँ से कवि अपनी रचना आरम्भ करता है यह विवादास्पद है। विशेषतः नान्दी कवि की रचना का ही भाग होता है या कुशीलव अपनी ओर से करते हैं—इस विषय में मतभेद है। दर्पणकार कविराज विश्वनाथ के अनुसार सामान्यतः नाटकों के प्रथम पद्य को हम भ्रांतिवश नान्दी समझ लेते हैं। वस्तुतः यह पूर्वरंग का 'रंगद्वार' नामक पंद्रहवाँ अंग है। "**यस्मादभिनयो ह्यत्र प्रथममवतार्यते। रंगद्वारमतो ज्ञेयं वागङ्गाभिनयात्मकम् ।।**" इससे पहले अभिनेता स्वयं ही नान्दी कर लेते हैं। कवि अपनी कृति रंगद्वार से ही आरम्भ करता है '**रंगद्वारमारभ्य कविः कुर्यात्**'। इसी कारण प्राचीन पुस्तकों में (स्वप्नवासवदत्त में भी) '**नान्द्यन्ते ततः प्रविशति सूत्रधारः**' प्रथम पद्य से पहले ही लिखा मिलता है। यदि कहीं प्रथम पद्य के बाद '**नान्द्यन्ते ततः०**; हो, तो उसका अभिप्राय यह है कि नान्दी के बाद सूत्रधार ने प्रस्तुत पद्य को पढ़ा। दर्पणकार का यह मत हमें युक्तियुक्त प्रतीत होता है। इसमें इतना विशेष और समझना चाहिए कि नाटकों का प्रथम पद्य क्योंकि कवि की रचना का प्रारम्भिक पद्य होता है अतः आशीर्वादात्मक ही होता है। कवि अपनी रचना मांगलिक वचन से आरम्भ करेगा और कुशीलव भी अपना प्रयोग मांगलिक पद्य से आरम्भ करेंगे। इस कारण प्रायः इस पद्य में नान्दी की भ्रान्ति हो जाती है।

'**स्वप्नवासवदत्तम्**' का भी प्रथम पद्य "**उदयनवेन्दुसवर्णावासवदत्ता०**" नान्दी नहीं है। कुछ टीकाकारों ने इसे पत्रावली नान्दी कहा है, यह ठीक नहीं, क्योंकि यहाँ न तो श्लेपालङ्कार है और न ही समासोक्ति, यहाँ मुद्रालङ्कार है। पत्रावली में श्लेष या समासोक्ति में से कोई अलङ्कार होना चाहिए। यह पद्य मंगलाचरण है। पारिभाषिक शब्दावलि में पूर्वरंग का 'रंगद्वार' नामक अङ्ग है। सूत्रधार के प्रवेश से पहले ही '**नान्दी**' कुशीलवों ने कर ली है। **ततः—तदनन्तरम्** अर्थात् नान्दी के तुरन्त बाद सूत्रधार ने प्रविष्ट हो कर आगामी मंगलाचरण रूप पद्य को पढ़ा है। नान्दी और इस पद्य-पाठ के मध्य किसी अन्य क्रिया का व्यवधान नहीं है, यह '**ततः**' पद से प्रकट होता है।

सूत्रधारः—"**नाटचस्य यदनुष्ठानं तत्सूत्रं स्यात्सबीजकम्**" बीज सहित नाटक का सम्पूर्ण अनुष्ठान 'सूत्र' कहलाता है। यह पात्र इस 'सूत्र' को धारण करने के कारण सूत्रधार कहलाता है। '**सूत्रं धारयति इति सूत्रधारः**' (सूत्र+धृ+णिच्+अण्)। नाटचोपकरणों को भी सूत्र कहते हैं। उन्हें वहन करने के कारण भी इसे सूत्रधार कहते हैं। "**नाटचोपकरणादीनि सूत्रमित्यभिधीयते।। सूत्रं धारयतीत्यर्थे सूत्रधारो**

निगद्यते ।" सम्पूर्ण नाटक का अभिनय इसी की देख-रेख में होता है। पूर्वरंग और देवपूजा सूत्रधार के ही कार्य हैं 'रंगदैवतपूजाकृत्सूत्रधार उदीरितः।' संगीतसर्वस्व में इसकी परिभाषा इस प्रकार दी है—"वर्तनीयतया सूत्रं प्रथमं येन सूच्यते । रंगभूमिं समाक्रम्य सूत्रधारः स उच्यते ॥" नान्दी पाठ सहित 'सूत्रधारः पठेन्नान्दीम्' सम्पूर्ण पूर्वरंग को प्रस्तुत करके सूत्रधार रंगमंच से चला जाता है 'पूर्वरंगं विधायैव सूत्रधारो निवर्तते' । उसके बाद लगभग इसी जैसा वेश धारण किए हुए एक और पात्र आता है जिसे 'स्थापक' कहते हैं । यह प्रारम्भिक सूचना देकर अभिनेय नाटक की स्थापना करता है । दर्पणकार के अनुसार आज-कल (चौदहवीं शती) क्योंकि ठीक से पूर्वरंग का प्रयोग नहीं किया जाता अतः सूत्रधार ही स्थापक का भी काम कर देता है ।

पद्य १—उदयनवेन्दुसवर्णौ—पद्य का मुख्य भाग है "बलस्य भुजौ त्वां पाताम्" बलराम की भुजाएँ आप की रक्षा करें । कृष्ण के बड़े भाई हैं बलराम । इन्हीं का एक प्रसिद्ध नाम हलायुध है । बलदेव के प्रति भास की आस्था एवं भक्ति चौथे अंक के 'प्रसादितबलदेवबाहुदर्शनीयाम्' (पृ०४६) इस वाक्य से भी प्रकट होती है । प्रातःकाल लिया गया बलराम जी का नाम कठिनाइयों से पार कराने वाला कहा गया है—"हरिहरौ हरिश्चन्द्रो हनुमांश्च बिभीषणः। पञ्चैतान्संस्मरेन्नित्यं घोर-संकटनाशनम् ॥" 'त्वाम्' अर्थात् युष्मान् सामाजिकान् । यद्यपि यहाँ बहुवचन होना चाहिए था पर सामाजिकों को 'संसद्' मानकर एकवचन के प्रयोग में भी दोष नहीं है । 'पाताम्' अदादिगण की पा रक्षणे धातु का लोट् लकार में प्रथम पुरुष का द्विवचन रूप है । इस का कर्ता 'भुजौ' है । यहाँ आशीर्वचन में लोट् लकार का प्रयोग हुआ है । प्रस्तुत पद्य में बलराम की इन भुजाओं के चार विशेषण हैं । (१) उदयनवेन्दु-सवर्णौ—उदयकालिकः नवेन्दुः इति उदयनवेन्दुः यहाँ शाकपार्थिवादि श्रेणी का तत्पुरुष समास है । "शाकपार्थिवादीनां सिद्धये उत्तरपदलोपस्योपसंख्यानम्" इस वार्तिक से इस प्रकार के समासों में उत्तरपद का लोप होता है । चन्द्रमा का जब जब उदय होता है उसमें नवीनता होती है । चन्द्रमा की यह उदयकालीन नवीनता सौन्दर्य, हल्की लालिमा और प्रतिक्षण होने वाली समृद्धि की सूचक है । सुन्दरता की परिभाषा करते हुए महाकवि माघ ने कहा है 'क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः' । नवीनता में ही सौन्दर्य है । बलराम जी की भुजाएँ सुन्दर हैं । यहाँ 'नवेन्दुः' को केवल द्वितीया के चन्द्रमा तक सीमित नहीं रखना चाहिए । प्रतिदिन का उदीयमान चन्द्रमा नया है और सुन्दर है । बलराम ने मद्यपान किया है । अगले विशेषण में इसका वर्णन भी है । बलराम जी गौरवर्ण हैं, अतः मद्यपान से जो हल्की लाली उनके अंग प्रत्यंग में झलक उठी उसकी समानता शायद उदीय-मान चन्द्रमा के अतिरिक्त और किसी से नहीं की जा सकती । उदय होकर चन्द्रमा प्रतिक्षण समृद्ध होता जाता है । बलराम जी की जिन भुजाओं से संरक्षण की कामना की गई है उनकी अभिवृद्धि भी इससे लक्षित होती है । (२) आसवदत्तावर्णौ—इस विशेषण को दो प्रकार से समझा जा सकता है (क) दत्तमासवं यस्यै सा

आसवदत्ता, वास्तव में यहाँ 'दत्तासवा' यह समस्त रूप बनेगा किन्तु 'दत्त' शब्द का परनिपात (टीका देखें) करने से '**आसवदत्ता**' रूप भी बन जाएगा। भास यहाँ श्लेष की सहायता से मुद्रालंकार का प्रयोग कर रहे हैं, जिसका विवेचन आगे किया जाएगा। इस अलंकार को प्राधान्य देने के कारण इस प्रकार रूप बनाना पड़ा है। बलराम जी और उनकी पत्नी रेवती दोनों मद्यपान करते थे यह सुप्रसिद्ध है। "**घूर्णयन् मदिरास्वादमदपाटलितद्युती। रेवतीवदनोच्छिष्टपरिपूतपुटे दृशौ**" (शिशुपाल-वध २.१६)। "**ककुद्मिकन्यावक्त्रान्तर्वासलब्धाधिवासया। मुखामोदं मदिरया कृतानुव्याधमुद्वमन्**" (शि० व० २.२०)। स्त्री को मद्यपान कराने वाले बलराम जी के हाथ आपकी रक्षा करें। (ख) **आसवेन दत्तमबलं याभ्यां तौ**, ऐसा विग्रह करने पर अर्थ होगा मद्यपान से शक्तिहीन। यह दूसरा अर्थ बहुत ही असंगत है। जिन भुजाओं से संरक्षण की कामना की जा रही है उनकी विशेषता के रूप में शक्ति-राहित्य का बखान हास्यास्पद ही है। किसी किसी टीकाकार ने इससे क्षणिक शक्तिक्षय का अर्थ लिया है। यहाँ अधिक औचित्य इस अर्थ के परित्याग में ही प्रतीत होता है। प्रथम अर्थ ग्रहण करने पर भी यह विचारणीय है कि पत्नी को मद्य देने वाले हाथों से संरक्षण की कामना का क्या सम्बन्ध है? सम्भवतः यह प्रेम का प्रतीक है। इस अवस्था में उदयन का अपनी पत्नी वासवदत्ता से अतिशय प्रेम ही इस विशेषण से ध्वनित होता है ऐसा माना जा सकता है। पर है यह कल्पना ही। (३) **पद्मावतीर्णपूर्णौ—पद्मायाः अवतीर्णमिति पद्मावतीर्णम्** (षष्ठीतत्पुरुषः) **तेन पूर्णौ** (तृतीयातत्पुरुषः)। **अवतीर्ण**—अवतरण का अर्थ है प्रकट होना। पद्मा का अर्थ है लक्ष्मी, समृद्धि। लक्ष्मी का प्रकट होना अर्थात् लक्ष्मी का सान्निध्य। बलराम जी की भुजाएँ लक्ष्मी के प्रकट होने से, सान्निध्य से। पूर्ण हैं "**पूर्णौ ऋद्धिमन्तौ**" पं० टी० गणपति शास्त्री। लक्ष्मी की प्राप्ति से भुजाओं की पूर्णता उनकी सम्पन्नता ही कही जाएगी। सम्पन्न होने से इनमें रक्षण-सामर्थ्य है (४) **वसन्तकम्रौ—वसन्त इव कम्रौ 'उपमानानि सामान्यवचनैः'** (२-१-५५) से उपमानपूर्वपद कर्मधारय समास है। '**कम्र**' शब्द का अर्थ है मनोज, सुन्दर, मनोहर। कम् धातु से '**नमिकम्पिस्म्यजसकमहिंसदीपो रः**' अष्टा० (३-२-१६७) से स्वभावद्योतनार्थ 'रः' प्रत्यय होने पर रूप बनता है। वसन्त ऋतु जिस प्रकार स्वभाव से ही सुन्दर होती है उसी प्रकार ये भुजाएँ स्वभावतः ही कमनीय हैं। इनका सौन्दर्य आरोपित नहीं है। **वसन्ते** अथवा **वसन्तेन कम्रौ** कहने पर इस सौन्दर्य में कादाचित्कत्व आयेगा और सौन्दर्य के प्रति वसन्त की कारणता होने से यह स्वाभाविक भी न रह पाएगा। अतः 'वसन्त-जैसी सुन्दर' ही अर्थ अधिक युक्तिसंगत है।

पूर्वरंग का विधान करके सूत्रधार के चले जाने पर स्थापक प्रवेश करके वस्तु, बीज, मुख अथवा पात्र की सूचना देता है (यह कार्य सूत्रधार भी कर सकता है) '**सूचयेद्वस्तुबीजं वा मुखं पात्रमथापि वा**' (सा० द० ६-२७)। प्रस्तुत पद्य में आशीर्वचन पूर्वक नाट्यवस्तु की प्रस्तावना की गई है। '**सूच्यार्थसूचनं मुद्रा प्रकृतार्थ-**

आश्चर्य अर्थ का बोधक है। ज्यों ही सूत्रधार पारिषदों को कुछ बताने में व्यस्त होता है त्यों ही उसे पीछे से शब्द सुनाई पड़ता है। इससे वह अपनी बात कहने से रुक जाता है और आश्चर्य प्रकट करते हुए उसी शब्द के विषय में छानबीन करता है। **'पश्यामि'** देखता हूँ यह शोर क्या है। वास्तव में सूत्रधार कुछ भी बताने वाला नहीं था यह भास की शैली है। भास से सम्बन्धित तेरह नाटकों में से आठ (द्रष्टव्य भूमिका) नाटकों में पात्र-प्रवेश इसी वाक्य से हुआ है।

नेपथ्य—**'कुशीलवकुटुम्बस्य स्थलं नेपथ्यमुच्यते'** रंगमंच के पीछे अभिनेतावर्ग के लिए, वेश आदि परिवर्तन के निमित्त निर्मित कक्ष **नेपथ्य** कहलाता है। रंगमंच के सौन्दर्याभिवर्धक परदे को भी **'नेपथ्य'** कहते हैं **नेपथ्यं स्याज्जवनिका रंगभूमिः प्रसाधनम्।** वेशभूषा भी इसका एक अर्थ होता है **उदारनेपथ्यभृत्०** रघु० ६-६। अभिनेता, रामादि की प्रतीति के लिए, जिस वेश को धारण करता है विशेषतः उसे **'नेपथ्य'** कहते हैं **'रामादिव्यंजको वेशो नटे नेपथ्यमुच्यते'** ना० शास्त्र। **(नी+विच्, नेः नेता तस्य पथ्यं हितमिति नेपथ्यम्)** नाटक के नेता (सूत्रधार) को अभिनय की प्रस्तुति में सहायक होने के कारण **विशिष्ट-कक्ष, पर्दा और वेशभूषा** सभी नेपथ्य कहे जाते हैं।

पद्य २—भृत्यैर्मगधराजस्य—सर्वः तपोवनगतो जनः भृत्यैः उत्सार्यते पद्य में यह मुख्य वाक्य है। सेवक मार्ग से सभी को हटा रहे हैं। **सर्वः** अर्थात् बिना भेद-भाव के वे सबको हटा रहे हैं। स्त्री, पुरुष, बालक, वृद्ध जो भी मार्ग में थे उन सब को हटाया जा रहा है। राजपुरुषों (सेवकों) की यह विशेषता होती है कि वे आज्ञा का अन्धाधुन्ध पालन करते हैं। वे अपनी बुद्धि का प्रयोग उसमें नहीं कर सकते। आज भी सिपाहियों अथवा सैनिकों में इस विशेषता को प्रयत्नपूर्वक शिक्षण देकर भरा जाता है। इसके अतिरिक्त उनके कहने का प्रकार प्रार्थना रूप न होकर शुष्क घोषणा रूप होता है। **धृष्टम्** क्रियाविशेषण से उनके इस गुण की ओर भी इंगित किया गया है। सैनिकों की यही विशेषता उनकी राजभक्ति का आधार होती है। इसी निरपवाद उत्सारणा का सर्वप्रथम परिणाम है सूत्रधार का वहाँ से हट जाना। यद्यपि सूत्रधार का कार्य सम्पन्न हो चुका है, वैसे भी उसे जाना है पर इस घोषणा से उसके निर्गमन को सम्बद्ध करके भास ने अत्यन्त चतुराई से यहाँ नाटकीयता ला दी है। 'धृष्टता' और सबको 'हटाना' ही आगे होने वाले वासवदत्ता और यौगन्धरायण के वार्तालाप की पृष्ठभूमि है। इन दोनों शब्दों का प्रयोग नाटक के आरम्भ में ही भास की नाटकीयता की स्थापना करता है। **तपोवनगतो जनः**—**तपःसाधनं वनमिति तपोवनम्,** शाकपार्थिव श्रेणी का उत्तरपदलोपी तत्पुरुष समास। **तपोवनं गतः इति तपोवनगतः, द्वितीया तत्०** ।**(उत्+सृ+णिच्+लट् ते, कर्मणि लकारः) जनः उत्सार्यते इति सम्बन्धः।** धृष्टता और तपोवन इन दोनों को रखने से परस्पर जो वैषम्य आया वह सेवकों के व्यवहार की, आगे की जाने वाली आलोचना को उचित ठहराता है।

मगधराजस्य—मगधानां राजा इति मगधराजः राजाहःसखिभ्यष्टच् इससे समासान्त टच् प्रत्यय होकर रूप बनेगा। तस्य मगधराजस्य (शेषे षष्ठी)। स्निग्धैः (स्निह् + क्त + तृ० बहु०) सैनिक अथवा अंगरक्षकों में जो कठोरता एवं आज्ञापालकता होनी चाहिए उसका विवेचन ऊपर किया गया। ये सैनिक राजकन्या के साथ यहाँ आए हैं। एक कोमल स्वभाव की राजपुत्री के अंगरक्षक हैं, अतः उनके स्वभाव में अपनी स्वामिनी के प्रति स्नेह का होना नितान्त आवश्यक है, अतएव यह विशेषण रखा गया है। इससे उनकी अपने स्वामी में आस्था एवं विश्वासपात्रता भी व्यंजित होती है। कन्यामनुगच्छन्तीति (अनु + गम् + णिनि) तथाभूतैर्भृत्यैः।'

उपर्युक्त घोषणा करके तुरन्त सूत्रधार चला जाता है और पात्रों का प्रवेश साथ ही साथ हो जाता है।

स्थापना—नाटक में पात्र-प्रवेश कराने के लिए एक सुनिश्चित व्यवस्था होती है। सूत्रधार रंगमंच पर आकर नटी, विदूषक अथवा अपने अनुचर के साथ कुछ ऐसा वार्तालाप करता है कि उससे मूलकथा स्वाभाविक रूप से प्रारम्भ हो जाती है। इस प्रसंग को नाट्यशास्त्र की भाषा में आमुख कहते हैं। इसी का नाम प्रस्तावना भी है—"नटी विदूषको वापि पारिपार्श्विक एव वा। सूत्रधारेण सहिताः संलापं यत्र कुर्वते चित्रैर्वाक्यैः स्वकार्योत्थैः प्रस्तुताक्षेपिभिर्मियः। आमुखं तत्तु विज्ञेयं नाम्ना प्रस्तावनाऽपि सा॥" (सा० द० ६,३१-३२)। पहले जब इस काम को स्थापक प्रस्तुत करता था तो उसके सम्बन्ध से इसे स्थापना कहते थे। अब क्योंकि स्थापक का काम सूत्रधार ही कर लेता है अतः 'स्थापना' नाम देने की आवश्यकता नहीं। यह प्रस्तावना पांच प्रकार की हो सकती है। (१) उद्घात्यक (२) कथोद्घात

रहा था वह एक प्रयोग था। बाद में शोर होने से दर्शकों को जो उसने समझाया वह दूसरा प्रयोग है। प्रथम प्रयोग में इस दूसरे प्रयोग से पात्र प्रवेश हुआ है, अतः यह 'प्रयोगातिशय' नामक प्रस्तावना अथवा स्थापना है। नाटक में प्रयुक्त शास्त्रीय परम्पराओं के प्रचलन से पहले का होने के कारण ही यहाँ सूत्रधार, नाटककार तथा उसके कुल आदि का परिचय भी नहीं देता। "तत्र पूर्वं पूर्वरंगः सभापूजा ततः परम्। कथनं कविसंज्ञादेर्नाटकस्याप्यथामुखम्" (सा० द० ६–२१) के अनुसार उसे कवि का नाम आदि बताना चाहिए था। इसी प्रकार भास अपने अन्य नाटकों में भी शास्त्रीय परम्परा का अक्षरशः पालन नहीं करते हैं।

प्रथम अङ्क

पृष्ठ ४—अंक—नाटक की सम्पूर्ण कथावस्तु का रंगमंच पर अभिनय अंकों में विभाजित करके किया जाता है। अंकों की संख्या पाँच से लेकर दस तक हो सकती है। किसी सम्पूर्ण अवान्तर कथा या प्रधान कथा के किसी एक अंश को लेकर अंक का नाटक में सन्निवेश होता है। इन अवान्तर प्रसंगों अथवा मुख्य कथा के अंगों से विकसित होकर अन्तिम अंक में फलागमपूर्वक नाटक की समाप्ति होती है। बहुत से भिन्न भिन्न प्रसंगों का एक ही अंक में समावेश नहीं होना चाहिए। अनेक दिनों में घटित घटना को भी एक ही अंक में नहीं दिखाना चाहिए। नाट्य-वर्जनाओं का भी प्रदर्शन नहीं किया जाना चाहिए। स्वाभाविक एवं सरल अभिनय की प्रस्तुति के निमित्त अंक में न तो बहुत पद्य होने चाहिएँ और न ही गद्य लम्बे-लम्बे समासों वाला होना चाहिए—बहुचूर्णपादवृत्तं जनयति खेदं प्रयोगस्य (ना० शास्त्र)। अंक, नायक तथा अन्य तीन-चार पात्रों वाला, उसके चरित्र का उद्भावक तथा रस और भाव से युक्त होना चाहिए। अन्त में सभी पात्रों के निष्क्रमण से अंक की समाप्ति होनी चाहिए।

भटौ—भट का अर्थ होता है वेतनभोगी सैनिक अथवा योद्धा (भट्+अच्)। यहाँ ये दोनों सैनिक राजकुमारी के अंगरक्षक दल में से हैं। "साधारणौ" पाठ की अपेक्षा यही पाठ अधिक समीचीन है। राजपुत्री के साथ सैनिकों का ही होना अधिक युक्ति-युक्त है। "उत्सरत उत्सरत······" मार्ग से लोगों को हटाने का ठीक यही प्रकार भास ने अपने 'ऊरुभंग' 'प्रतिमा' और 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' में अपनाया है।

परिव्राजकः—परित्यज्य सर्वं व्रजतीति परिव्राजकः (परि+व्रज् । ण्वुल्)। वह संन्यासी जो अपना सर्वस्व त्याग कर भ्रमण करता है। परिव्राजक की दो विशेषताएँ हैं—(क) सब कुछ त्याग देता है, (ख) कभी किसी स्थान पर अधिक दिनों तक नहीं ठहरता। जरा अधिक ठहरने से अपनी आवश्यकता की वस्तुओं को संग्रह करने की स्वाभाविक प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। अतः वह भ्रमण ही करता रहता है। परिव्राजकवेष इव वेषः यस्य (बहुव्रीहि समास)।

यौगन्धरायणः—युगन्धरस्य अपत्यं पुमान् यौगन्धरायणः (युगन्धर+फक् = आयन्) "नडादिभ्यः फक्।" यौगन्धरायण उदयन का मुख्य-मन्त्री है। इसके

पिता युगन्धर उदयन के मन्त्री थे। यह परम्पराप्राप्त मन्त्री है। इससे इसकी राजनीति में निपुणता और विश्वासपात्रता जाननी चाहिए। विश्वासपात्र होने के बलपर ही यह इस प्रकार की योजना कर सका और वासवदत्ता को अपने साथ ले जा सका है। सामान्य मन्त्री इतना साहस नहीं कर सकता था। इसकी महत्ता और विश्वसनीयता भास के **प्रतिज्ञायौगन्धरायण** नाटक से भी सिद्ध है। वास्तव में यौगन्धरायण का चरित्र **प्रतिज्ञायौगन्धरायण** की पृष्ठभूमि में ही ठीक से जाना जा सकता है।

आवन्तिकावेष०—अवन्तिषु जाता इति आवन्तिका **"मनुष्यतत्स्थयोर्वुञ्"** इस सूत्र से वुञ् प्रत्यय और स्त्रीलिंग में टाप् करके आवन्तिका रूप बनेगा। अवन्तिका देश में रहने वाली स्त्री, **तस्याः वेषं धारयतीति आवन्तिकावेषधारिणी**। उदयन की पत्नी वासवदत्ता उदयन के साथ वत्स-देश में रहने से वहाँ का वेष पहनती थी। अब यौगन्धरायण की योजना में भाग लेने के परिणाम-स्वरूप उसने भी प्रच्छन्न वेष धारण किया है। मूलतः वह अवन्ती की रहने वाली है अतः छद्म-वेश अवन्ती प्रदेश के अनुकूल ही उसने धारण किया है। अवन्ति, अवन्ती अथवा अवन्तिका वर्तमान् उज्जयिनी का प्राचीन नाम है। बाणभट्ट की कादम्बरी के उद्धरण **"अवन्तीषु उज्जयिनी नाम नगरी"** से पता चलता है कि वह समग्र-प्रदेश (मालव) भी, जिस की राजधानी उज्जयिनी थी, अवन्ती कहा जाता था। यह प्रदेश नर्मदा के उत्तर में स्थित था। इसकी राजधानी उज्जयिनी शिप्रा नदी के तट पर थी। इसे अवन्तिपुरी एवं विशाला भी कहते थे। महाभारत काल में यह प्रदेश दक्षिण में नर्मदा तक और पश्चिम में माही तक फैल गया था। ७ वीं या ८ वीं शताब्दी से यह प्रदेश मालव कहलाता है।

इहापि—तपोवन में भी। नगरों में तो प्रायः इस प्रकार की उत्सारणा होती ही रहती है। यहाँ तपोवन में भी उत्सारणा हो रही है। तपोवन का वातावरण नागारिक वातावरण से सर्वथा भिन्न होता है। यहाँ यह उत्सारणा उचित नहीं है। इसी अनौचित्य को अगले पद्य में वह अधिक स्पष्ट करता है। कुतः का अर्थ है क्यों, किसलिए। इसका सम्बन्ध पद्य के **त्रासः समुत्पाद्यते** के साथ है **'कुतः त्रासः समुत्पाद्यते'**। अथवा कुतः उत्सारणा के अनौचित्य को द्योतित करने के लिए प्रस्तुत युक्ति के साथ सम्बद्ध है—तपोवन में यह उत्सारणा ठीक नहीं, क्योंकि—

पद्य ३—धीरस्याश्रम०—इस पद्य में दो बातें कही गई हैं। एक **जनस्य त्रासः समुत्पाद्यते** और दूसरी **इदं तपोवनमाज्ञया कः ग्रामीकरोति**। दूसरी बात स्वयं में पूरी है। प्रथम के साथ या तो पद्य से पहले आये कुतः को जोड़ना पड़ेगा—**'जनस्य त्रासः कुतः समुत्पाद्यते'** मनुष्यों को भयभीत क्यों किया जा रहा है, या फिर दोनों बातों के मध्य अतः का अध्याहार करना पड़ेगा—**त्रासः समुत्पाद्यते, अतः कोऽयं तपोवनमाज्ञया ग्रामीकरोति**। अन्वयार्थ एक और प्रकार से भी बन सकता है। पद्य से पहले यौगन्ध-

रायण ने कहा था—'क्या यहाँ भी हटाया जा रहा है ?' सम्पूर्ण प्रसंग से तपोवन में इस उत्सारण का अनौचित्य स्पष्ट ध्वनित होता है। इसी प्रकार की ध्वनि पद्य के पूर्वार्द्ध से भी निकलती है। जनस्य के सभी विशेषण इस अनौचित्य को द्योतित करते हैं। मनुष्यों को डराया जा रहा है अर्थात् जिन्हें नहीं डराया जाना चाहिए उन्हें भयभीत किया जा रहा है, यह कितना अनुचित कार्य है। काकु की सहायता से यह ध्वनि स्पष्ट प्रतीत होगी। त्रासः—त्रस्+घञ्। समुत्पाद्यते—सम्+उद्+पद्+णिच्+ते (लट्), कर्मणि लकारः। "त्रासोत्त्रासौ दरो भीतमातङ्को भीश्च साध्वसम्" इति शब्दार्णवः। जनस्य—लोकस्य, यहाँ समुदाय में एकवचन है, तात्पर्य है जनानां त्रासः समुत्पाद्यते। शेष सभी षष्ठ्यन्त पद 'जनस्य' के विशेषण हैं। धीरस्य—धियं बुद्धिं राति ददाति इति धीरः (धी+रा+क)। विकार जनक कारणों के रहते हुए भी जिसका चित्त विचलित न हो। "विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः" कुमार० १-५९। विषयतृष्णा से अनभिभूत। शान्त एवं स्थितप्रज्ञ।

आश्रमसंश्रितस्य—आ+श्रम्+घञ् (आधारे प्रत्ययः) "नोदात्तोपदेशस्य मान्तस्यानाचमेः" इस सूत्र से घञ् प्रत्यय के कारण प्राप्त वृद्धि का निषेध होगा। आ समन्तात् श्राम्यन्ति तपसा कायं क्लेशयन्ति यस्मिन् स आश्रमः। संश्रितः (सम्+श्रि+क्त, कर्तरि)। आश्रमं संश्रितः इति आश्रमसंश्रितः (द्वि० तत्पुरुष) तस्य आश्रमसंश्रितस्य। नगर में रहने वाले को डराया जाना भले ही किसी परिस्थिति में उचित हो पर आश्रमवासी को डराना धमकाना अत्यन्त अनुचित है। भय, अशान्ति, उद्विग्नता आदि को दूर करने के लिये ही तो आश्रम है, यहाँ भय का वातावरण सर्वथा अनुपयुक्त है। वसतः (वस्+शतृ) रहते हुए। वसतः को यदि स्वतन्त्र पद मान लें तो तपोवने पद का अध्याहार करना पड़ेगा। यदि इसे स्वतन्त्र न लेना हो तो वन्यैः फलैः तुष्टस्य वसतः इस प्रकार तुष्टस्य के साथ जोड़ कर समझना होगा। वसतः रहते हुए और उस रहने के कारण का निर्देश वन्यैः फलैः तुष्टस्य में है। वने भवानि इति वन्यानि तैः वन्यैः फलैः (करणे तृतीया) तुष्टस्य सन्तुष्टस्य अतः वास्तव में रहते हुए अर्थात् जीते हुए। यहाँ वसतः इस सन्तोषपूर्ण जीवनयापन के अर्थ को देगा। आश्रमसंश्रितस्य में संश्रित का अर्थ है आश्रित। इस आश्रय का आधार आश्रम है। आश्रम में उन्होंने आश्रय लिया हुआ है और सन्तुष्ट होकर रहते हैं। 'आश्रम' सर्दी, गर्मी, वर्षा आदि से बचने के लिये सहारा है और 'सन्तोष' जीवन का अवलम्ब है। यद्यपि वन्यैः फलैः तुष्टस्य स्वयं में पूर्ण है, षष्ठ्यन्त तुष्टस्य का जनस्य के साथ सीधा एवं स्पष्ट अन्वय है, इसे वसतः पद की आवश्यकता नहीं, तथापि उपर्युक्त प्रकार से व्याख्या अधिक अर्थपूर्ण और प्रकरणसंगत हो जाती है।

वल्कलवतः—(वल्कल+मतुप्) चीरधारिणः। वृक्षों की छाल के वस्त्र धारण करने वाले।

मानार्हस्य—मान+अर्ह्+अच् । यहाँ 'अर्हः' (३-२-१२) सूत्र से अण् को बाध कर अच् प्रत्यय होगा । मान एवं आदर के योग्य, पूजनीय । ये आश्रमवासी लोग, आश्रम में रहने के कारण निवास-सुख-तृष्णा से, फलों से संतुष्टि के कारण भोजन-सुख-तृष्णा से और चीर-धारी होने के कारण आच्छादन-सुख-तृष्णा से मुक्त हैं । इसी कारण आरम्भ में इन्हें धीर (स्थिरचित्त) कहा था और इसी कारण अब इन्हें पूजनीय कहा जा रहा है । ये उपर्युक्त विशेषताओं के कारण आदरणीय हैं अतः इन की उत्सारणा या इन्हें भयभीत करना बहुत अनुचित है । जिनके जीवन का मुख्य आधार सन्तोष है, नागरिक सुविधाओं से जिन्हें कोई प्रयोजन नहीं, त्याग एवं सरल जीवन के कारण जो परमुखापेक्षी नहीं, वे भला क्यों झिड़कियाँ खायें । उनके प्रति राजकर्मचारियों का नागरिकों जैसा व्यवहार अनुचित है ।

इदं निभृतम्—नि+भृ+क्त । शान्त । तपोवन का विशेषण है । **ग्रामीकरोति—न ग्रामः इति अग्रामः, अग्रामं ग्रामं करोतीति ग्रामीकरोति "अभूततद्भावे कृभ्वस्तियोगे सम्पद्यकर्तरि च्विः"** (५-४-५०) इस सूत्र से 'च्वि' प्रत्यय होने पर रूप सम्पन्न हुआ । आज्ञा के द्वारा **'अपसरत अपसरत'** कह कर तपोवन (जो ग्राम नहीं है)को भी ग्राम बना रहा है । 'ग्राम' यहाँ नगर के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । **आज्ञया** अर्थात् 'आज्ञा' का स्थान तपोवन नहीं, नगर होता है । यहाँ आज्ञा दी जा रही है । अतः इसे भी नगर बनाया जा रहा है । **कोऽयं भोः !** यौगन्धरायण साश्चर्य जानना चाहता है कि यह कौन है जो ऐसा कर रहा है ? जो भी हो इसके बारे में तीन बातें स्पष्ट हैं—(१) **उत्सिक्तः—उद्+सिच्+क्त** । मर्यादारहित, उद्धत । (२) **विनयादपेतः—विनयात्**(अपादाने पञ्चमी) **अपेतः—अप+इ+क्त** । नम्रता से दूर—अविनीत । **विनयादपेतश्चासौ पुरुषः** (कर्मधारय) । यहाँ इस प्रकार समास किया जाना चाहिए था, किन्तु **'विनयात्'** का सम्बन्ध केवल **'अपेत'** के साथ है । अतः समास **विनयात्** को छोड़कर **अपेतः पुरुषः इति अपेतपुरुषः** इस प्रकार करना होगा । इस प्रकार के समास की व्याख्या **'समर्थः पदविधिः'** के साथ **"सापेक्षत्वेऽपि गमकत्वात् समासः"** (टीकाकारों की व्याख्यात्मक पंक्ति) की सहायता से की जाती है । (३)**भाग्यैश्चलैर्विस्मितः—विस्मितः—(वि+स्मि+क्त)**, गर्वित । घमण्ड का कारण है भाग्य, अर्थात् भाग्य से प्राप्त पद । प्रस्तुत सन्दर्भ में वह व्यक्ति अपने राजकीय पद के कारण ही उपर्युक्त आज्ञा दे रहा है । यदि पद न हो तो उसकी आज्ञा निरर्थक होगी । इसीलिये भाग्य के साथ विशेषण रखा है **चलैः**—भाग्य स्थिर नहीं होता । यौगन्धरायण इसे खूब समझता है । प्रस्तुत नाटक में ही वासवदत्ता का (भले ही अपनी इच्छा से हो) अपने पद से हटना, उदयन का पुनः राज्य प्राप्त करना और फिर वासवदत्ता का अपने पद को पाना, यह सब परिवर्तनशील भाग्य का ही खेल है । इस अस्थिर भाग्य के कारण घमण्ड होना उचित नहीं । यह जो व्यक्ति उत्सारणा कर रहा है इसे अपने पद का अनुचित घमण्ड है ।

उत्सारयति—उद्+सृ+णिच्+ति (लट्), हटा रहा है। गत्यर्थक सृ धातु भ्वादि गण की है। अण्यन्तावस्था में उद् उपसर्गपूर्वक रूप होता उत्सरति और अर्थ होता 'हट रहा है'। ण्यन्तावस्था में रूप बना उत्सारयति—हटा रहा है। जिसे हटना है उस का प्रेरक-कर्ता आज्ञा देने वाला है। इसी के विषय में वासवदत्ता का प्रश्न है।

यो धर्मात्—अपादाने पञ्चमी। वासवदत्ता ने पूछा—आर्य! यह कौन हटा रहा है? यौगन्धरायण उसकी मानसिक स्थिति को ठीक-ठीक भांप रहा है। वह स्वयं भी इस कार्य को अनुचित समझ रहा है। पहले पद्य में वह अपनी प्रतिक्रिया स्पष्ट कर चुका है। उसकी दृष्टि से यह उत्सारणा अनुचित है, अधर्म है। हटाने वालों का परिचय उसे नहीं है। इतना अवश्य है कि वह व्यक्ति उद्धत, घमण्डी और अविनीत है। इन सब बातों को संग्रह करके वह कहता है 'देवी! जो अपने को धर्म से च्युत कर रहा है।' अर्थात् यह व्यक्ति दूसरों को मार्ग से क्या हटा रहा है स्वयं को ही धर्म के मार्ग से हटा रहा है। वासवदत्ता आगे अपने वास्तविक प्रश्न को स्पष्ट करती है। उसके लिए हटाने वाले व्यक्ति का महत्त्व नहीं है। वह स्वयं राजपुत्री है, राजा की पत्नी है। वह यह स्पष्ट जानना चाहती है कि क्या उसे भी हटाया जायगा? यौगन्धरायण यदि इसका स्पष्ट उत्तर 'हाँ' देता तो बहुत असाहित्यिक और मर्मान्तिक होता। यहाँ भास काव्य कला का परिचय देते हुए कहलाते हैं—
एवमनिर्ज्ञातानि दैवतान्यपि—देवा एव देवताः स्वार्थे तल् (ता)। देवता एव दैवतम्, पुनः स्वार्थे अण्। अनिर्ज्ञातानि विनपहचाने, देवता। अवधूयन्ते—अव+धू+अन्ते (कर्मणि लट्)। यौगन्धरायण यहाँ वासवदत्ता के साथ होने वाले व्यवहार का सारा दोष पहचान पर डालता है। यह सत्य है कि व्यवहार में आदर निरादर प्रायः व्यक्ति का न होकर उस पर आरोपित उपाधियों का होता है। वासवदत्ता का सारा आदर-सत्कार उसके राजपत्नी होने के कारण है। इसके हटने पर वह एक सामान्य व्यक्तिमात्र है। पहचान से पहले निरादर को भी अधिक तूल नहीं दिया जाता। इसी बात को यौगन्धरायण वासवदत्ता से कहता है। यह तो ठीक है कि आपको भी हटाया जायगा पर आपको इससे दुःखित नहीं होना चाहिए, क्योंकि विनपहचाने तो देवता भी अपमानित हो जाते हैं। यौगन्धरायण का कहना ठीक है, फिर भी वासवदत्ता को इस निरादर से ठेस पहुंची है। वह कहती है आर्य! शारीरिक कष्ट सह्य है पर यह तिरस्कार का कष्ट असह्य है। यह वाक्य वासवदत्ता के चरित्र की भित्ति है। वह अत्यन्त कोमल एवं संवेदनशील है। रंगमञ्च पर वासवदत्ता के आते ही इस प्रसंग द्वारा भास ने उसके चरित्र का मुख्य आधार स्पष्ट कर दिया है। इस दृष्टि से इस प्रसंग की महत्ता अत्यधिक है। यह परिसंवाद भास की नाट्यकला का भी अच्छा उदाहरण है।

परिभवः—परि+भू+अप् (भावे)। तिरस्कार।

भुक्तोज्झितः—पूर्वं भुक्तः पश्चात् उज्झितः इति भुक्तोज्झितः(कर्मधारय)।

उत्सारणा पूर्वक किसी के गमन को देख कर अपने वैभव को स्मरण करती हुई वासवदत्ता अपने इस तिरस्कार से दुःखित एवं उदास (अनमनी) हो जाती है। यौगन्धरायण उसे धीरज बराने का प्रयत्न करता है। पहले उज्जयिनी में राजपुत्री होने के कारण और बाद में कौशाम्बी में राजपत्नी होने के कारण आप भी परिजनों से घिरी हुई इसी गौरवमय-प्रकार से गमन किया करती थीं। अब (कुछ समय के लिए) आपने स्वयं इस मार्ग को छोड़ा है। यह विषय अनुभूत होने के कारण निःसार है। अतः इस विषय में अधिक चिन्ता नहीं करनी चाहिए।

पद्य ४—पूर्वं त्वया अपि—पद्य की प्रथम पंक्ति का अर्थ दो प्रकार से किया जा सकता है—(१) **पूर्वं त्वयापि एवमभिमतं गतमासीत्**, पहले तुम भी इसी प्रकार इच्छानुसार जाती थीं, (२) **पूर्वम् एवं गतं त्वयापि अभिमतमासीत्**, पहले इस प्रकार से जाना तुम्हें भी अभीष्ट था। पहला अर्थ दूसरे की अपेक्षा अधिक उपयुक्त है। यहाँ यौगन्धरायण वासवदत्ता को सान्त्वना दे रहा है। विशेष रूप से उसने कहा है कि यह विषय आपने भोग कर छोड़ दिया है। आगे भी कहता है कि फिर स्वामी की विजय के उपरान्त आप इसी वरिष्ठ-प्रकार से गमन किया करेंगी। इन बातों के साथ प्रथम अर्थ ही अधिक जँचता है। दूसरे अर्थ में सान्त्वना की भावना अपेक्षाकृत कम है। पहले आप स्वयं इस प्रकार की उत्सारणा को ठीक समझती थीं और आज जब आप इस उत्सारणा की पात्र बन रही हैं तो आपको यह खटकता है। यह भाव यौगन्धरायण का अपने स्वामी की पत्नी वासवदत्ता के प्रति नहीं हो सकता। **पूर्वम्**—अव्यय 'पहले' अर्थ में। **अभिमतम्—अभिमन् + क्त, अभिमतं यथा स्यात्तथा (क्रियाविशेषणम्) यथाभिलषितमित्यर्थः। गतम्—गम् + क्त, गमनम्। भर्तुः विजयेन—वि + जि + अच्** (भावे), विजय (**गम्यमानसहशब्दयोगे तृतीया**)। स्वामी की विजय के साथ। **श्लाघ्यम्—श्लाघ् + ण्यत्, प्रशंसनीयं यथा स्यात्तथा** (क्रिया-विशेषण)।

पृ० ६—कालक्रमेण—कालस्य समयस्य क्रमः (षष्ठी तत्पु०) तेन, हेतौ तृतीया। समय की गति से। **परिवर्तमाना—परिवृत् + शानच्, टाप्**, बदलती हुई, घूमती हुई। **जगतः—गम् + क्विप्** (द्वित्व तुगागम), संसार, चलने वाला, गतिशील। आधार-आधेय-भाव सम्बन्ध से 'संसार' यहाँ संसार में रहने वाले सभी प्राणियों का द्योतक है। 'जगत्' शब्द का प्रयोग भी इस प्रसंग के अत्यधिक अनुरूप है। इसे जगत् कहते ही इसलिए हैं कि यह परिवर्तनशील है। यहाँ कुछ भी स्थिर नहीं है। इसमें रहने वाले सभी प्राणियों का भाग्य भी ऐसे ही घूमता रहता है जैसे पहिये में लगे हुए अरे। जो अरा नीचे होता है वही फिर ऊपर हो जाता है और ऊपर वाला नीचे आ जाता है। **भाग्यपङ्क्तिः—भाग्यस्य शुभाशुभकर्मणः अदृष्टस्य** अच्छाई बुराई ऊँचनीच, **पंक्तिः—पञ्च + क्तिन्**, वह समूह जिसमें वस्तुएँ एक दूसरे के पीछे स्थित हों। 'पंक्तिः' शब्द का प्रयोग भी यहाँ सार्थक है। अच्छाई बुराई एक दूसरे के पीछे प्रायः क्रमशः होती हैं। **चक्रारपङ्क्तिरिव—चक्रस्य अराणि तेषां पङ्क्तिरिव**

भाग्यस्य पङ्क्तिः गच्छति भ्रमति। पहिए के अरे जैसे ऊपर नीचे होते हैं उसी प्रकार भाग्य भी अच्छा बुरा होता रहता है। यौगन्धरायण वासवदत्ता को समझाता है कि आज आपका भाग्य नीचे की ओर है पर कल अवश्य ऊपर आयेगा। इससे आपको दुःखित नहीं होना चाहिए। इसी प्रकार का भाव मेघदूत में कालिदास ने प्रकट किया है—"कस्यात्यन्तं सुखमुपनतं दुःखमेकान्ततो वा। नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण॥" २-४६। इसी प्रकार हितोपदेश में कहा गया है—"चक्रवत्परिवर्तन्ते दुःखानि च सुखानि च।"

पद्य के पूर्वार्द्ध में विशेष बात कहकर उत्तरार्द्ध में सामान्य बात से उसका समर्थन किया गया है। अतः यहाँ अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है। "सामान्यं वा विशेषो वा तदन्येन समर्थ्यते। यत्र सोऽर्थान्तरन्यासः साधर्म्येणेतरेण वा"॥ का०प्र०। उत्तरार्द्ध के चक्रारपङ्क्तिरिव भाग्यपङ्क्तिर्गच्छति में उपमालङ्कार है। उपमालंकार यहाँ गौण और अर्थान्तरन्यास मुख्य अलङ्कार है।

काञ्चुकीयः—कञ्चुक (कञ्च्+उकन्) चोगा, अन्य वस्त्रों के ऊपर पहना जाने वाला लबादा। कञ्चुकः अस्य अतिशयेन अस्ति इति कञ्चुकिन् (कञ्चुक+इनि)। इस प्रकार निष्पन्न कञ्चुकिन् शब्द से "वेणुकादिभ्यः छण् वाच्यः" वार्तिक से छण् प्रत्यय करके काञ्चुकीय रूप बनेगा। काञ्चुकीयः, कञ्चुकीयः और कञ्चुकी सभी शब्द पर्यायवाची हैं। वह पात्र जिसे अपने पद के कारण सदा इसे पहने रहना पड़ता हो काञ्चुकीय कहलायेगा। इस के चोगे का रंग सफेद होता है (ना० शा० २३, ११६-११७)। यह अन्तःपुर के प्रमुख सेवकों में से एक होता है (सम्भवतः अध्यक्ष)। इसका वृद्ध एवं ब्राह्मण होना भी आवश्यक है। राजमहल के बहुत पुराने सेवक को ही सम्भवतः वृद्ध होने पर यह पद दिया जाता था। कञ्चुक के साथ-साथ एक दण्ड भी आवश्यक रूप से इसका अंग होता है। यह शुद्ध संस्कृत बोलता है। "अन्तःपुरचरो वृद्धो विप्रो गुणगणान्वितः। सर्वकार्यार्थकुशलः कञ्चुकीत्यभिधीयते॥" बाद के नाटकों में प्रायः इसे अपने बुढ़ापे की शिकायत करते हुए पाया जाता है। "जरावैक्लव्ययुक्तेन विशेद् गात्रेण कञ्चुकी।" मातृगुप्ताचार्य इसके चरित्र के विषय में कहते हैं—"ये नित्यं सत्त्वसम्पन्नाः कामदोषादिवर्जिताः। ज्ञानविज्ञानकुशलाः काञ्चुकीयास्तु ते स्मृताः॥"

पद्य ५—परिहरतु—जो बात यौगन्धरायण अनुभव कर रहा था वही काञ्चुकीय भी सोचता है यहाँ वह सम्भषक (दो भटों में से एक का नाम)को उसके अभ्यस्त व्यवहार से रोकता है। व्यवहार ज्ञान में कुशल होने के नाते वह जानता है कि आश्रम में इस प्रकार के दुर्व्यवहार से राजा की ही निन्दा होगी। नृपापवादम्—नृपस्य अपवादः (षष्ठीतत्पुरुषः) तम्, ये मगधराज के सेवक हैं, इनके कार्य से मगधराज ही प्रवाद के विषय बनेंगे। काञ्चुकीय प्रस्तुत उत्सारणा के कार्य को कठोर कहकर इस का प्रतिषेध करता है। परुषम्—कठोर व्यवहार, अथवा कठोर शब्द। उत्सारणा कठोर शब्दों में ही की जा रही थी "धृष्टमुत्सार्यते जनः"। प्रयोज्यम्—

प्र+युज्+णिच्+यत् (कर्मणि प्रत्ययः) आश्रमवासिषु विषये निष्ठुरवचनं (कर्म) भवद्भिः (कर्ता) न प्रयोज्यम्। नगरपरिभवान्—नगरेषु भवाः परिभवाः इति नगरपरिभवस्तान्। नगरों में होने वाले अपमान भर्त्सना आदि के व्यवहार। नागरिक जीवन के विविध-बन्धन एवं बुराइयाँ। विमोक्तुम्—वि+मुच्+तुमुन्। मनस्विनः —प्रशस्तं मन एषामिति(मनस्+विनि)"अस्मायामेधास्रजो विनिः" (५-२-१२१) से यहाँ मतुप् अर्थ में 'विनि' प्रत्यय हुआ है। "तदस्यास्त्यस्मिन् इति मतुप्"(५-२-९४) के अतिरिक्त "भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेतिशायने। संसर्गेऽस्तिविवक्षायां भवन्ति मतुबादयः" वार्तिक भी 'मतुप्' के विविध अर्थों को प्रकट करता है। यहाँ प्रशंसा अर्थ में 'विनि' प्रत्यय हुआ है। विषयों से विरक्ति एवं तपोबल आदि के कारण ये तपोवनवासी मनस्वी-जन प्रशंसनीय हैं। वनम् का अर्थ जंगल की अपेक्षा प्रसंग के अनुसार तपोवन अधिक उपयुक्त होगा। "एते हि हृदयमर्मच्छिदः संसारभावाः, येभ्यो बीभत्समानाः संत्यज्य सर्वान् कामानरण्ये विश्राम्यन्ति मनीषिणः" इस प्रकार यही भाव उत्तररामचरित के प्रथम अङ्क में भवभूति ने भी प्रकट किया है। परिभव, अवज्ञा एवं तिरस्कार से बचने के लिए ही ये प्रशंसनीय जन नागरिक वैभव का परित्याग कर के तपोवन में आकर रहते हैं। वन में भी यदि तिरस्कार होगा तो तिरस्कर्ता पाप का भागी होगा और उस की निन्दा होगी।

सविज्ञानम्—विशिष्टं विविच्य वा ज्ञानं तेन सह वर्तमानम् (बहु०)। जो सामान्य की अपेक्षा विशेष ज्ञानवान् है। दर्शनम्—दृश्+ल्युट्। दिखने वाली वस्तु, दृश्य अथवा रूप आदि को भी दर्शन कह सकते हैं। यहाँ इसका अर्थ रूप है। यौगन्धरायण का अभिप्राय है कि इन सब व्यक्तियों में यही एक व्यक्ति, विशेष ज्ञानवान् प्रतीत होना है। इसकी आकृति से ही इसकी विज्ञता प्रकट होती है। इससे यौगन्धरायण को ठीक-ठीक पता चल सकता है कि उत्सारणा क्यों की जा रही है। "दर्शनं नयनस्वप्नबुद्धिधर्मोपलब्धिषु" मेदिनी कोष के अनुसार 'दर्शन' का अर्थ 'बुद्धि' भी किया जा सकता है। पंक्ति का अर्थ यों होगा—इसकी बुद्धि, विशेष ज्ञानवान् है।"

तपस्विन्—तपस्+विनि। तपस्या करने वाला व्यक्ति। तप करने का मुख्यार्थ है कष्ट सहना। किसी भी कार्य को करने में कुछ न कुछ तो कष्ट उठाना ही पड़ता है। सांसारिक सुखों का त्याग कर जंगल में रह कर स्वयं अपने ऊपर आरोपित नियमों का कठोरता से पालन करना ही तप है।

आत्मगतम्—"सर्वश्राव्यं प्रकाशं स्यादश्राव्यं स्वगतं मतम्" सबको सुनाये जाने से भिन्न स्वगत होता है। वास्तव में अभिनेता इस प्रकार की उक्ति को यह मानकर बोलता है कि मानो उसके पास खड़ा अन्य अभिनेता इसे नहीं सुन रहा है। यद्यपि उससे कहीं दूर बैठा दर्शक इसे सुनता है। इसे बस नाट्यशास्त्र का स्वीकृत पारिभाषिक शब्दमात्र समझना चाहिए। आज-कल इसका प्रयोग तर्कसंगत न होने

से कम होता जा रहा है। इस प्रकार के भाव को किसी और तरह से रंगमञ्च पर प्रकट किया जाना चाहिए।

गुणवान् खलु अयमालापः—आलाप, सम्बोधन करने का प्रकार। तपस्वी का स्थान सामान्यजन से ऊँचा है। इसीलिए यौगन्धरायण को तपस्विन् यह सम्बोधन गुणवान् प्रतीत होता है। वह स्वयं सांसारिक व्यक्ति है, तपस्वी नहीं है। केवल तपस्वी के वेष में है अतः उसे यह गुणवान् सम्बोधन सुनने लिए उपयुक्त नहीं लगता। किन्तु अच्छा लगे या न लगे उसे इस सम्बोधन को तो स्वीकार करना ही पड़ेगा, क्योंकि उसने तपस्वी का वेष पहना है। इस अवसर पर प्रथम बार यह सम्बोधन किया गया है। अतः अभ्यास न होने के कारण उसे कुछ अटपटा सा लग रहा है। **अपरिचयात्**—परि + चि + अच् (भावे) परिचयः, न परिचयः इति अपरिचयः तस्मात् (हेतौ पञ्चमी)। **श्लिष्यते**—(श्लिष् + श्यन् + ते) नहीं जुड़ता है। यहां आत्मनेपद का प्रयोग व्याकरण के अनुसार अशुद्ध है। दिवादि गण की 'श्लिष् आलिङ्गने' धातु परस्मैपदी है। श्लिष्यति रूप ठीक होता। इसके अतिरिक्त यह अकर्मक प्रयोग है—आलापः मे मनसि न श्लिष्यते। अतः "भावकर्मणोः" से भी आत्मनेपद नहीं कर सकते। हां सौकर्यातिशय दिखाने के लिए "कर्मवत्कर्मणा तुल्यक्रियः" के अनुसार कर्ता को ही कर्म बनालें तो कार्यातिदेश करके "भावकर्मणोः" से आत्मनेपद हो जायेगा। यह कर्मकर्तृवाच्य का प्रयोग, पच्यते ओदनः, भिद्यते काष्ठम् (स्वयमेव), के अनुसार है। वास्तव में यह अशुद्ध प्रयोग है। स्थितस्य चिन्ता कार्या के अनुसार इसे शुद्ध सिद्ध करने का प्रयत्न मात्र किया है।

गुरुभिरभिहितनामधेयस्य—काञ्चुकीय के लिए अपने स्वामी का सीधा नाम लेना धृष्टता होती। अतः वह अवान्तर रूप से कहता है गुरुभिः०—बड़े बूढ़ों ने जिसका 'दर्शक' नाम रखा है। अभिहितनामधेयस्य उच्चारितनाम्नः। नामधेय—नाम + धेय, तद्धित प्रत्यय। भाग रूप और नाम में धेय प्रत्यय, अर्थ में बिना किसी परिवर्तन के होता है।

दर्शक—वत्सराज उदयन और अवन्त्यधिपति महासेन के समसामयिक दर्शक, मगध के राजा थे। आज का बिहार (सम्भवतः दक्षिण बिहार) ही पहले मगध कहलाता था। इसकी राजधानी राजगृह थी। इससे पहले गिरिव्रज यहां की राजधानी थी। बिम्बिसार ने सर्वप्रथम राजगृह को बसाया और अपनी राजधानी बनाया। गिरिव्रज नाम यहाँ के पांच प्रसिद्ध पर्वतों विपुलगिरि, रत्नगिरि, उदयगिरि, विहारगिरि और शोणगिरि के कारण था। बाद में उदयन ने पाटलीपुत्र को मगध की राजधानी बनाया। बाद के साहित्य में मगध के लिए 'कीकट' नाम भी मिलता है। दर्शक अपने पिता अजातशत्रु की मृत्यु के बाद ४७५ ई० पू० में राजगद्दी पर बैठे। **महाराजमातरम्**—महाराज दर्शक की माता, महादेवी। अपने पति अजातशत्रु की मृत्यु के बाद वह तपोवन में रहने लगी थी। यद्यपि वह पद्मावती की भी माता है पर कञ्चुकी मगधाधिपति के सम्बन्ध से ही इनका परिचय देता है।

महाराज के सम्बन्ध से ही राजमाता का परिचय देना अधिक उपयुक्त एवं राजकीय परम्परा के अनुरूप है। **अभिप्रेतः—अभि + प्र + इ + क्त। "मतिबुद्धिपूजार्थेभ्यश्च"** से मत्यर्थक (इच्छार्थक) इण् धातु मे वर्तमान अर्थ में क्त प्रत्यय हुआ और फिर अनुक्त कर्ता में **"क्तस्य च वर्तमाने"** से (अस्याः) षष्ठी विभक्ति आई।

पद्य ६—**तीर्थोदकानि—तीर्थस्य उदकानि**(ष० तत्पु०)। तीर्थ शब्द का अर्थ यहाँ पवित्र लेना चाहिए। **तरति पापादिकं यस्मात्** (तॄ + थक्) सभी प्रसिद्ध तीर्थों से जल लाना प्रतिदिन सम्भव नहीं, अतः 'पवित्र-जल' ऐसा अर्थ समझना चाहिए। **'तीर्थोदकं च वह्निश्च नान्यतः शुद्धिमर्हतः,** उत्तररामचरित। **अथवा तीर्थतुल्यानि उदकानि** इस प्रकार शाकपार्थिवादि श्रेणी का समास बनेगा। अथवा ऋषियों के प्रयोग में आने वाले सभी जल तीर्थोदक हैं **"तीर्थम् ऋषिजुष्टजले गुरौ"** इत्यमरः। **समिधः—(सम् + इन्ध् + क्विप्,** द्वि०बहु०)यज्ञ में प्रयुक्त की जाने वाली लकड़ियाँ। ये प्रायः आम्र, पलाश या पीपल की होती हैं। **दर्भ**—एक प्रकार की पवित्र घास **"अस्त्री कुशं कुशो दर्भः पवित्रम्"** अमरकोश। जल-बहुल प्रदेशों में यह अधिक होती है। **तपोधनानि—तपोनुकूलानि द्रव्याणि**। तीर्थोदक आदि चारों परिगणित वस्तुएँ तपोनुकूल एवं तपस्या की साधन होने के कारण 'तपोधन' हैं। पवित्र-जल शुद्धि का कारण होने से आश्रम में किए जाने वाले सभी अनुष्ठानों में अपेक्षणीय हैं। समिधाएँ अग्नि कार्य की साधक हैं, कुसुम देवपूजा के निमित्त आवश्यक हैं और दर्भ सभी प्रकार के व्रतों की दीक्षा में अपेक्षित होती है। **तपोधनम्** में **सामान्ये नपुंसकम्** से नपुंसक लिंग का प्रयोग हुआ है और **उपनयन्तु** का कर्म होने से द्वितीयान्त है (उप + नी + अन्तु, लोट्)। **स्वैरम्—स्वस्य ईरम्** (स्व + ईर् + अच्), **"स्वात् ईरेरिणोः"** से वृद्धि। अपनी इच्छा। **स्वैरं यथा स्यात्तथा,** क्रियाविशेषण। बिना किसी रोक-टोक के।

पृ० ८—**धर्मप्रिया**—जो अपनी प्रतिष्ठा की अपेक्षा धर्म को अधिक महत्ता देती है। पद्मावती के आश्रम में पहुँचने पर सम्भव था कि तपस्वी उनके आदर सत्कार में इतने व्यस्त हो जाते कि उन्हें अपने नित्य कार्यों का भी ध्यान न रहता। काञ्चुकीय इसे स्पष्ट करता है कि पद्मावती की कुल-परम्परा धर्म में अपेक्षाकृत अधिक आस्था रखने की है। अतः आप लोग इनके आने से व्याकुल न होवें, अपने दैनिक कार्यों को नियमानुसार निभाएँ।

एषा सा पुष्पकभद्रादि०—एषा—यह। **सा**—वह। प्रत्यभिज्ञा ज्ञान, **सोऽयं देवदत्तः** की भाँति **'तत्तेदन्तावगाहिनी प्रतीतिः प्रत्यभिज्ञा**। पुष्पकभद्र ज्योतिषी का नाम है। सम्भवतः उदयन की सभा में यह राजकीय ज्योतिषी था। **आदेशिकैः— आ + दिश् + घञ्** (कर्मणि प्रत्ययः) **आदेशः, तेन चरतीति आदेशिकः** (आदेश + ठक्)। भविष्यवक्ता। आदेशिक के सम्बन्ध से **आदिष्टा** का अर्थ "भविष्य-वाणी की थी" यह करना होगा।

प्रद्वेषो—जो हमारा अपना होता है उसका सभी कुछ हमें अच्छा लगता

है। जो अपना नहीं होता उसके प्रति प्रायः या तो उदासीनता होती है या फिर कभी-कभी विपरीत भाव भी होता है। द्वेष या आदरभाव मानसिक व्यापार है। जिसको जिस दृष्टि से देखते हैं वैसा ही उसके प्रति हमारा भाव होता है। यौगन्धरायण पद्मावती को उदयन की पत्नी बनाना चाहता है। इसी कारण उसने योजना बनाई है। अतः पद्मावती के प्रति उसकी आत्मीयता है, आदरभाव है। अभी कुछ पहले उत्सारणा से यौगन्धरायण दुःखित थे और उनका पद्मावती (अपरिचित) के प्रति कोई आदरभाव नहीं था। परिचय पाते ही उसी के प्रति उनका मनोभाव एकदम बदल गया। इसकी संगति "प्रद्वेषो बहुमानो वा०" के साथ बहुत ही सुन्दर रूप से बनी है। दाराः—पत्नी अर्थ का प्रतिपादक होने पर भी 'दाराः' शब्द पुंल्लिंग है और नित्य बहुवचनान्त है। णिजन्त दृ विदारणे धातु से भाववाची घञ् प्रत्यय और 'णि' का लोप करके 'दार' शब्द निष्पन्न होता है। "दारजारौ कर्त्तरि णिलुक् च" (वा० ३-३-२०) से अच् प्रत्यय को बाधकर घञन्त 'दाराः' शब्द का निपातन होता है। भावप्रधान विवक्षा के कारण क्रिया सामान्य (भवति)का अर्थ भी 'दाराः' शब्द में निहित है। अतएव अनुवाद में दाराः का अर्थ 'पत्नी होवे' ऐसा किया गया है। दारयन्ति (भ्रातॄन्) इति दाराः। स्त्री घर में आकर भाइयों को अलग-अलग कर देती है। सम्भवतः इसी कारण वह पुंल्लिंग और बहुवचनान्त 'दाराः' है। निर्वचनात्मक इस विवेचन की दृष्टि से भास ने यहाँ पद्मावती को 'दाराः' नहीं कहा है।

राजदारिका—राज्ञः दारिका इति, (दृ+ण्वुल्+टाप्) दारिका-पुत्री।

अपि—यौगन्धरायण की योजना का कुछ कुछ आभास होते हुए भी वासवदत्ता को उसकी पूरी और स्पष्ट जानकारी नहीं है। पद्मावती को वह यौगन्धरायण की भाँति उदयन की भावी-पत्नी के रूप में नहीं देख रही है। अतः उसे "पद्मावती के प्रति सपत्नी-स्नेह के अतिरिक्त भगिनिकास्नेह भी है" यह अर्थ (एम० आर० काले) ठीक नहीं है। अपि के ठीक अर्थ के लिए टीका देखें।

ततः प्रविशति उपविष्टा तापसी—बैठे-बैठे तो प्रवेश हो नहीं सकता, अतः यहाँ प्रवेश से—परदे के पीछे बैठी हुई तापसी परदे के हटाने से रंगमंच पर बैठी हुई सबको दिखाई पड़ती है—ऐसा भाव समझना चाहिए। पात्र-प्रवेश का यह भी एक प्रकार है। संस्कृत नाटकों में इस प्रकार का प्रवेश प्रायः मिलता है। "ततः प्रविशति आसनस्थः सचिन्तः राक्षसः" मुद्राराक्षस। "ततः प्रविशति आसनस्थो राजा विदूषकश्च" शाकुन्तल। "ततः प्रविशति भूम्यां निपतितः रामः" उत्तररामचरित, इत्यादि। उपविष्टा शब्द से राजपुत्री के आने पर भी, तपस्या के गौरव के कारण तापसी का न उठना भी अभिप्रेत है। पद्मावती की भी तपःप्रसूत इस गौरव में आस्था है।

इयं सा—यह सामने दिखने वाली वह राजपुत्री है जिसके कारण उत्सारणा हो रही थी, जो राजगृह से आई है, दर्शक की बहन है, धर्म में जिसकी अभिरुचि

है और जो मुझे बहन सी लग रही है। 'जिसका विवाह मेरे पति से होगा' (एम० आर० काले) यह भाव वासवदत्ता का नहीं है।

जाते—जात (जन्+क्त) जन्मा हुआ, जिसका जन्म अभी हुआ हो। स्त्रीलिंग में 'जाता' सम्बोधन में 'जाते'। सद्यः प्रसूत बालक को जिस कोमलता और चाव से छुआ या देखा जाता है उसी कोमलता एवं प्रेम से जिसके प्रति व्यवहार अपेक्षित हो उसे 'जाते' कहेंगे। सम्बोधन करने के लिए 'वत्से' आदि की भांति यह भी अत्यन्त प्रिय शब्द है। **अतिथि**—अतति गच्छति न तिष्ठति इति (अत्+इथिन्) अभ्यागत। वह आगन्तुक जो स्थिर रूप से रहने के लिए न आया हो **नास्ति द्वितीया तिथिर्यस्य।** 'एकरात्रं तु निवसन्नतिथिः ब्राह्मणः स्मृतः' मनुस्मृति ३-१०२। **गेहम्**—गो गणेशो गन्धर्वो वा ईहः ईप्सितो यत्र तत् (बहुव्रीहिः) घर। **भवतु भवतु**—जल्दी के लिए द्विरुक्ति है। पद्मावती नहीं चाहती कि आदरणीया तापसी और अधिक शिष्टाचार प्रदर्शित करें।

पृ० १०—**भद्रमुखस्य**—भद्रं मुखं यस्य, सुन्दर अथवा मंगलमय है मुख जिसका ऐसा। सम्बोधन करने का आदर एवं स्नेहसूचक प्रकार। यथा प्रियदर्शन आदि। "**भद्रमुख एहि तावत् मोचयानेन दुर्मोकहस्तेन...**" अभिज्ञानशाकुन्तल में भी तापसी दुष्यन्त को इसी प्रकार सम्बोधित करती है।

प्रद्योत—अवन्ति का राजा। यही वासवदत्ता का पिता है। सैन्यबल के आधिक्य के कारण इसका नाम महासेन भी था। चण्डी से वरदान के कारण इसे चण्डमहासेन भी कहते थे। **दारकस्य कारणात्**—प्रद्योत के दो बेटे थे, गोपालक और पालक प्रद्योत दर्शक के पास बार-बार दूत भेजता था कि अपनी बहन का विवाह हमारे पुत्र से कर दो।

आत्मीया—प्रद्योत का पुत्र वासवदत्ता का भाई है। यदि पद्मावती का विवाह उसके साथ हो जाय तो पद्मावती वासवदत्ता की भाभी होगी। अतः वह उसे आत्मीया समझती है। **भवतु भवतु**—अति प्रसन्नता की अभिव्यक्ति के लिए द्विरुक्ति है। अपने राजपरिवार की महत्ता के कारण वह लगभग निश्चित समझती है कि यह विवाह हो ही जाएगा। तापसी भी इस प्रस्ताव को पद्मावती के लिए योग्य समझती है। **अर्हा खलु**—पद्मावती का व्यक्तित्व, रूप गुण और शील से सचमुच इस मान के योग्य है। गौरवशाली कुल होने के कारण प्रद्योत की ओर से आया प्रस्ताव भी गौरव का ही विषय है। **आत्मानमनुग्रहीतुम्**—स्वयं को, राजकुमारी और उसके परिजनों को अनुगृहीत करने के लिए। मुनि के दर्शन को राजकुमारी स्वयं पर उसका अनुग्रह समझेगी। व्याकरण की दृष्टि से यहाँ **अनुग्रहीतुम्** के स्थान पर णिजन्त रूप **अनुग्राहयितुम्** होना चाहिए। **त्वया आत्मानमनुग्राहयितुम् मुनिजनः दृष्टः किम्?** क्रियार्थक क्रिया अनुग्रह के प्रति मुनिजन कर्ता है। मुख्य

रक्षण की कामना कर रहा है रोटी-पानी की नहीं। **काषायम्**—इसका लक्ष्यार्थ **परिव्रज्याम्** है। व्याकरण सम्बन्धी व्याख्या के लिए टीका देखो। चरित्ररक्षण के सामर्थ्य के लिए **धीरा और दृष्टधर्मप्रचारा** ये दो हेतु हैं अतः यहाँ काव्यलिंग अलंकार है। "**हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्गं निगद्यते**" सा० दर्पण।

पद्य १०—सुखमर्थः— धन, प्राण, तपस्या का फल, यहाँ क्रमशः इनकी उत्तरोत्तर महत्ता है। धन बहुत ही क्षणिक है अतः उसका देना अत्यन्त सरल है। प्राणों का सम्बन्ध भी केवल एक जन्म (इहलोक) से होता है। उन्हें भी दिया जा सकता है। तपस्या का फल जन्मान्तरों में भी काम आने वाली सम्पत्ति है। प्राणों की अपेक्षा इसका दिया जाना और ऊँचा त्याग है। पर इसे भी दिया जा सकता है। किन्तु धरोहर की रक्षा करना कठिन कार्य है। यहाँ न्यास-रक्षण की महत्ता तथा दुष्करता भास ने दर्शायी है। **दातुम्—दा + तुमन्**। यहाँ 'शक्यः' का अध्याहार करना पड़ेगा—**अर्थः दातुं, सुखं यथा स्यात्तथा**, शक्यः, इससे 'शकधृष०' (३-४-५६) सूत्र ने तुमन् प्रत्यय लाना सम्भव होगा। अथवा '**दातुं भवेत्**' इस प्रकार अस्त्यर्थक 'भू' धातु के उपपद होने पर भी इसी सूत्र से तुमुन् प्रत्यय किया जा सकता है।

पृ० १४—सत्यवादिनी—सत्यवादनशीला, सत्यभाषण जिसके व्यक्तित्व का अंश बन चुका है। यौगन्धरायण की मांग, उसकी दुष्करणीयता और पद्मावती की इसके लिए तुरन्त स्वीकृति, इस सम्पूर्ण प्रसंग से पद्मावती के चरित्र का एक पहलू भलीभाँति विकसित होकर हमारे सामने आता है।

का गतिः—वासवदत्ता ने एक बार यौगन्धरायण की योजना को स्वीकार कर लिया। योजनानुसार एक बड़ा कदम उठा भी लिया। अब बिना तर्क के यौगन्ध० की बात को स्वीकार करने के सिवाय और कोई विकल्प उसके पास नहीं है। **मन्दभागा**—पहले पति छूटे, अब एकमात्र आश्रय आर्य यौगन्ध० से भी अलग होना पड़ रहा है, इसी कारण वह स्वयं को मन्दभागा कहती है।

अर्थमवसितम्—(क) मृत-घोषित वासवदत्ता को किसी विश्वसनीय व्यक्ति के पास छोड़ना, (ख) उदयन पद्मा० परिणय, (ग) मगध की सहायता से खोये राज्य की पुनः प्राप्ति, (घ) उदयन वासव० मिलन, सम्पूर्ण योजना के ये चार अंग हैं। तपोवन में यौग० की पद्मावती से भेंट आकस्मिक है। इस अवसर का पूरा लाभ उठाकर यौग० वास० को पद्मा० के पास छोड़ देता है। यह कार्य न केवल अन्य मन्त्रियों के साथ तैय्यार की गई योजना के अनुरूप है किन्तु उससे भी अधिक है। किसी भी विश्वसनीय व्यक्ति के पास वास० को छोड़ने की अपेक्षा स्वयं पद्मा० के पास छोड़ना योजना के अगले अंगों की सफलता में अति सहायक होगा। इसका संक्षिप्त सा निर्देश इसी सन्दर्भ में यौग० करता है "**ततः प्रतिष्ठिते......विश्वासस्थानं भविष्यति**।" आरम्भ में ही इस अप्रत्याशित सफलता से प्रसन्न हो

कर यौग० कहता है—आधा कार्य निष्पन्न हुआ। यथा मन्त्रिभिः—वासव० को पद्मा० के पास ही छोड़ना है यह पूर्वनियोजित निर्णय नहीं था। यौग० उसे अपने साथ नही रखेगा किसी विश्वास के योग्य व्यक्ति के पास छोड़ेगा, निर्णय केवल इतना ही था। यौग० वास० को पद्मा० के पास छोड़ने का निर्णय स्वयं लेता है। इसके आधार दो है (क) पद्मा० भी विश्वसनीय है अतः इसमें मन्त्रणा की अवहेलना नहीं है। (ख) योजना के अन्तिम चरण की सफलता में यह निर्णय सहायक होगा। विश्वासस्थानम्—यहाँ स्थान का अर्थ हेतु है। गुप्तवास में वास० का शील शुद्ध रहा है इसमें पद्मावती प्रमाण होगी। कथासरित्सागर में चरित्र-शुद्धि के लिए वास० अग्निपरीक्षा के लिए तैय्यार हुई है। कुतः—पद्मा० क्यों विश्वसनीय होगी इसका उत्तर अगले पद्य में दिया है।

पद्य ११—पद्मावती......भवित्री—अतः वह अन्य किसी भी व्यक्ति की अपेक्षा अधिक प्रामाणिक होगी। पद्मा० उदयन की पत्नी बनेगी इस विश्वास के आधार रूप में पद्य का द्वितीय चरण है—दृष्टा विपत्तिः इसका अभिप्राय यह है—'वत्सराज पर राज्यभ्रंश रूपी आपत्ति आएगी' सिद्ध-पुरुषों की इस भविष्यवाणी को सत्य होते हुए हम सबने प्रत्यक्ष देखा है। इन्हीं भविष्यवक्ताओं ने 'पद्मा० उदयन की पत्नी होगी' यह घोषणा भी की थी। इनकी विद्या का प्रामाण्य एक बार सिद्ध हो चुका अतः इनकी यह भविष्योक्ति भी सत्य होकर ही रहेगी। तत्प्रत्ययात्—इन भविष्यवक्ताओं में आस्था के कारण ही मैंने इदं कृतम्—वास० को पद्मा० के पास छोड़ा है। यौगन्ध० के इस निर्णय के पक्ष में युक्तियों का आधार भविष्यवक्ताओं में उसका विश्वास है। उसका यह विश्वास अति दृढ़ है। क्योंकि "न हि सिद्धवाक्यानि······सुपरीक्षितानि।" सुपरीक्षितानि—शास्त्र को ठीक-ठीक समझ कर शुद्ध गणना करके घोषित भविष्यवाणी। इस पद्य में और ऊपर के संदर्भ में भास ने यथावसर अत्यन्त संक्षेप से कथानक की रूपरेखा बताई है। इसे इतने अवान्तर एवं स्वाभाविक रूप से कह देना भास की नाट्यकला की विशेषता है।

ब्रह्मचारी—ब्रह्म ज्ञानं तपो वा अवश्यमाचरति अर्जयति इति ब्रह्मचारी (ब्रह्म + चर् + णिनि), ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए वेदाध्ययन करने वाला व्यक्ति। ब्रह्मचारी को यहाँ उपस्थित करने में चार हेतु हैं—(क) उपर्युक्त प्रसंग में उदयन और पद्मा० के विवाह को अवश्यम्भावी कहा गया है। ब्रह्मचारी ने उदयन के कुछ गुणों का बखान किया है। इससे पद्मा० के मन में उदयन के प्रति अनुराग उत्पन्न हुआ है। उसकी उदयनविषयक यह अभिलाषा आगे सम्पन्न होने वाले विवाह का आधार है। पद्मा० के मन में इसे अंकुरित करना ब्रह्मचारी के प्रवेश का एक प्रयोजन है। (ख) पद्मा० विवाह के योग्य हो गई है, यह बात हमें तापसी और चेटी के वार्तालाप से ज्ञात हो जाती है। उदयन विवाहित है। वह अपनी

पत्नी (वासव०) में इतना अनुरक्त है कि दूसरे विवाह के विषय में उससे प्रस्ताव भी नहीं किया जा सकता। यहाँ वासव० की मृत्यु का समाचार सुनाकर अवान्तर रूप से ब्रह्मचारी ने बता दिया कि अब उदयन के द्वितीय विवाह (पद्मा० के साथ) में कोई रुकावट नहीं। (ग) यौगन्ध० और वासव० छद्म-वेश में दर्शकों के सामने आए हैं। इससे पहले जो घटना घट चुकी है, जिसके कारण इन्होंने अपना वेश बदला है, उसकी सूचना दर्शकों को यहाँ ब्रह्मचारी से मिलती है। (घ) योजना का प्रथम चरण खूब सफल रहा है और पीछे रुमण्वान् आदि मन्त्रियों ने उदयन को सम्भाल लिया है। यौग० को इसकी जानकारी भी ब्रह्मचारी से ही मिलती है। प्रिय के वियोग से दुःखित वासवदत्ता को भी इस जानकारी से कुछ सान्त्वना मिलती है।

पृ० १६—पद्य १२—देशागतप्रत्ययाः (यात्)—पञ्चम्यन्त पाठ होने पर हेतु में पचमी विभक्ति होगी। अन्यथा यह हरिणाः का विशेषण होगा (देखो टीका)। वहाँ लगातार रहते हुए हरिणों को सुरक्षा का विश्वास हो गया था। भय-रहित होकर निःशंक भाव से उनका घास चरना, स्थान की निर्भयता का द्योतक था। जंगल में इस प्रकार की निर्भयता आश्रम के आसपास ही सम्भव हो सकती है। कालिदास ने अभिज्ञानशाकुन्तल में भी आश्रम के आस-पास के वातावरण का वर्णन किया है। भास ने यहाँ पाँच बातें कही हैं जो उस प्रदेश को आश्रम (तपोवन) बता रही थीं। कालिदास ने चार बातें कही हैं। हरिणों की विश्वसनीयता दोनों में समान है "**विश्वासोपगमादभिन्नगतयः शब्दं सहन्ते मृगाः**" शाकु० १-१४। दुष्यन्त रथ में वहाँ से गुजर रहे थे। स्वाभाविक था हरिण इससे डर जाते, परन्तु उनके मन में उस स्थान के विषय में विश्वास जम चुका था अतः वे नहीं डरे। यहाँ ब्रह्मचारी आया है। मनुष्य को देखकर उनका डरना स्वाभाविक होता पर वे डरे नहीं। वैसे ही निर्भय होकर चरते रहे। यह उस प्रदेश में विश्वास का ही परिणाम है। **अचकिताः विश्रब्धं चरन्ति**—भास के भाव की झलक कालिदास के अगले पद्य में दीख पड़ती है—"**नष्टाशङ्का हरिणशिशवो मन्दमन्दं चरन्ति**" (शाकु० १-१५)। **विश्रब्धम्**—वि+स्रम्भ्(श्रम्भ्)+क्त, क्रियाविशेषण। **पुष्पफलैः समृ०**—पुष्पाणि च फलानि च इति पुष्पफलानि (इतरेतर द्वन्द्व) तैः(करणे तृतीया)समृद्धाः विटपाः येषां ते (बहु०)। **दयया रक्षिताः** (तृ० तत्पु०) दया से रक्षित। इन दोनों बातों को अलग-अलग भी लिया जा सकता है, जैसा कि टीका में किया है और **दयारक्षिताः** को **पुष्पफलैः समृद्धविटपाः** का निमित्त भी माना जा सकता है। दया से रक्षित होने के कारण ही सभी वृक्ष फल-फूलों से लदे हुए हैं। अपनी सज्जा के लिए फूल तोड़कर कोई वृक्षों के शृङ्गार को नहीं बिगाड़ता और क्षुधातृप्ति के लिए कोई निर्दयता से फल नहीं तोड़ता। यह सब आस-पास सन्तुष्ट-जनों की वस्ती (तपोवन) की सूचना देते हैं। कालिदास की शकुन्तला भी स्नेह के कारण पेड़ों के फूल नहीं तोड़ती थी

"नादत्ते प्रियमण्डनापि भवतां स्नेहेन या पल्लवम्" (शाकु० ४-९)। कपिलानि गोकुल०—गवां कुलम् गोकुल तानि (ष० तत्पु०) टीका देखो। तपस्वियों का सर्वस्व यज्ञ है। गाय यज्ञ के लिये प्रधान साधन है (घी, दूध की उत्पादक होने के कारण)। अतः गोधन की बहुतायत द्योतित करती है कि वह आश्रम है। यज्ञीय-गाय को धन रूप में कालिदास ने भी कहा है "गुरोरपीदं धनमाहिताग्ने" (रघु० २-४४)। कपिलानि—गोरे (हल्के लाल) रंग की गाय। कपिला गाय अधिक पवित्र मानी जाती है "अग्निचित्कपिला शस्त्री राजा भिक्षुर्महोदधिः। दृष्टमात्राः पुनन्त्येते तस्मात्पश्येद्धि नित्यशः" (मल्लिनाथ, रघु० १७-३४)। वसिष्ठ की नन्दिनी भी 'पाटला' हल्के लाल रंग की है। अक्षेत्र०—क्षि + त्रन्, खेत। भूमि का वह भाग जिसमें अन्न पैदा किया जाता हो। न क्षेत्रवत्यः इति अक्षेत्रवत्यः (नञ् तत्पुरुष) अक्षेत्र + वतुप् + ङीप्। अथवा क्षेत्र का अर्थ है 'क्यारी'। सिंचाई की सुविधा के लिए खेत को छोटे-छोटे भागों में विभक्त करते हैं। यह छोटा भाग 'क्यारी' कहलाता है। संस्कृत में इसे 'केदार' कहते हैं। वस्ती के उपर्युक्त चिह्न गांव के आस-पास भी हो सकते हैं। पर गांव के पास खेत अवश्य होंगे। यहां आस-पास कहीं भी खेत नजर नहीं आते अतः इसे आश्रम ही होना चाहिए। मुनि लोग जो स्वयं पैदा हो जाय उसीको खाकर निर्वाह करते हैं। सामान्य लोग स्वयं उत्पन्न करके खाते हैं। बह्वाश्रयः—बहुः आश्रयः यस्य (बहु०)। स्थान-स्थान पर यज्ञ होने के कारण बहुत जगह से धुआं उठ रहा था। पूर्वोक्त अनेक हेतुओं के आधार पर ब्रह्मचारी उस स्थान के तपोवन होने का अनुमान करता है। अब इस यज्ञीय-धूम को देख कर वह अपने ज्ञान की दृढ़ता का प्रतिपादन कर रहा है। पद्य में अनेक लिङ्गों से तपोवन का ज्ञान होने के कारण अनुमानालङ्कार है। "अनुमानं तु विच्छित्या ज्ञानं साध्यस्य साधनात्" सा० दर्पण।

प्रविशामि—"यावत्पुरानिपातयोर्लट्" के अनुसार आसन्न भविष्यत् अर्थ में लट् का प्रयोग हुआ है। वस्तुतः वह जहां खड़ा है वह भी आश्रम स्थान ही है। प्रविशामि का तात्पर्य है—रंगमञ्च पर उपस्थित (आश्रम में पहले से विद्यमान) पात्रों के साथ ब्रह्मचारी का साक्षात्कार। प्रविश्य—अर्थात् देखकर। आश्रमविरुद्धः—नागरिकः, आश्रम में जिसकी उपस्थिति की सम्भावना प्रायः नहीं होती। काञ्चुकीय को देखकर ब्रह्मचारी जरा ठिठक गया है। तदुपरान्त तापसी एवं परिव्राजकवेशधारी यौगन्ध० को देखकर उसे आश्रम-प्रवेश के विषय में संकोच नहीं रहा। परन्तु फिर उसे पद्मावती, चेटी इत्यादि दिखाई दे गये इस से फिर वह झिझका। इस प्रसंग में ब्रह्मचारी का अभिनय के माध्यम से बहुत सजीव चित्रण हुआ है। हम्—यह सम्मान और शिष्टता का सूचक अव्यय है और कोध-भाव को भी प्रदर्शित करता है। काञ्चुकीय के आमन्त्रण को सुनकर वासवदत्ता ने उपेक्षा से दूसरी ओर मुंह करके कहा 'हम्'। यहाँ यह अव्यय अस्वीकृति अथवा उपेक्षा का सूचक है। अम्मो—यह आनन्दमिश्रित आश्चर्य का सूचक प्रतीत होता है। ब्रह्मचारी के आगमन के प्रति

वासव० के व्यवहार से पद्मा० को कुछ आश्चर्य हुआ। उसके दूसरी ओर मुंह फेर लेने से 'वह परपुरुष-दर्शन से वचती है' इसकी पद्मा०को जानकारी हुई। वह प्रोषित-भर्तृका है अतः इस में औचित्य भी है। यह जानकारी पद्मा० के लिए प्रसन्नता का विषय भी है, क्योंकि इससे उसकी धरोहर सुपरिपालनीय हो गई है। जो स्वयं ही परपुरुष-दर्शन से वचती है उसके शील की रक्षा करना तो कोई कठिन कार्य नहीं होगा। **सुपरिपालनीयः**—सु+परि+पा+णिच्+अनीयर्। **प्रतिगृह्यताम्**—प्रति+ग्रह्+ताम्(लोट्)। **अतिथिसत्कारः**—अतिथेः सत्कारः (ष. तत्पु०)। आचमन सत्कार की प्रथम विधि है, ब्रह्मचारी वाहर से पैदल चल कर आया है, सर्वप्रथम उसे जल दिया जायेगा। **आचम्य**—ब्रह्मचारी रंगमञ्च पर केवल आचमन करेगा। आचमन समग्र स्वागत के लिये उपलक्षण है। **भवतु भवतु**—अधिक औपचारिकता का निषेध करने के लिए द्विरुक्ति है। **श्रुतिविशेषणार्थम्**—वेदशास्त्र के विशेष अध्ययन के लिये। **श्रुतिः (श्रु+क्तिन्) विशेषणम्—(वि+शिष्+ल्युट्) श्रुतेः विशेषणम् (ष० तत्पु०) तस्मै इदम् इति श्रुतिविशेषणार्थम् (च० तत्पु०)**।

लावाणकम्—मगध के पास के एक गाँव का नाम। सम्भवत: जहाँ यमुना गंगा में मिलती है वहाँ से दक्षिण की ओर यह स्थित था। **उषितवान्—वस्+क्तवतु**। **प्रतिवसति**—यहाँ **"वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा"** सूत्र से भूतकाल के अर्थ में वर्तमान-काल का प्रयोग है। इतिहास और उपन्यास सम्बन्धी विषय का वर्णन करते समय अतीत-काल के अर्थ में भी वर्तमान-काल का प्रयोग किया जाता है।

पृ० १८—सानुक्रोशत्वम्—दया अथवा अनुकम्पा **"कृपा दयानुकम्पा स्यादनुक्रोशोऽपि"** इत्यमरः। **अनुक्रोशेन सह वर्तमानः इति सानुक्रोशत्वम्**, सहानुभूति या कोमल व्यवहार। **दग्धशेषाणि—दग्धेभ्यः शेषाणि**—जलने से वचे हुए। अथवा **दग्धानि शेषाणि च**—आधे जले हुए। आग में पड़े आभूषणों में से जलने से वचे हुए आभूषण अधजले ही होंगे। **सकामः—कामेन (इच्छया) सह वर्तमान इति सकामः। कामः**—कामना, इच्छा, अभिलाषा। आर्य यौगन्धरायण की इच्छा अव पूरी हो। आर्य यौगन्धरायण ने जो योजना वनायी है वह पूरी हो। क्योंकि ब्रह्मचारी के वर्णन से यह निश्चित है कि उदयन ने वासवदत्ता को मरा हुआ समझ लिया है। अव पद्मावती से विवाह करने में उन्हें कोई आपत्ति नहीं होगी और योजना पूरी हो जायेगी। अथवा वासवदत्ता उदयन का मूर्छित होना सुन कर व्यंग्य में कहती है—अव आर्य यौगन्धरायण सफल होते रहें अपनी योजना में, जिनके लिये सव कुछ किया जा रहा है यदि वही नहीं रहेंगे तो योजना की सफलता भी किस काम की। यौगन्धरायण की योजना में वासवदत्ता भी सम्मिलित है पर उसका उदयन से अत्यधिक प्रेम है अतः उसके मुँह से यहां व्यंग्यात्मक अर्थ ही अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। प्रसंग के अनुकूल भी यही दूसरा अर्थ है। यदि दोनों अर्थ ठीक हों तो भी काव्य में प्रधानता व्यंग्यार्थ की ही होगी।

पृ० २०—अथ किमथ किम्—यौगन्धरायण सत्य बात को छिपाने के लिए अधीर है। इस सारे प्रसंग में उसका व्यवहार ऐसा है मानो उसे कुछ पता ही न हो। इस स्थल पर आकर वासवदत्ता रो पड़ी है। यौगन्धरायण को भय है कि कहीं रहस्य खुल न जाय। अतः वह तुरन्त उत्तर देता है—अथ किम् अथ किम्०। दिष्ट्या—सौभाग्य से, अव्यय। ध्रियते—धृ तुदादि आत्मने० अकर्मक (धृ+ते लट्) अव-तिष्ठते, जीवतीत्यर्थः। यहां पद्मावती के हृदय में भी उदयन के प्रति अनुराग का भाव है, यह भास ने इंगित किया है।

पद्य १३—नैवेदानीम्०—इदानीम्—उदयन की इस दुःखावस्था में प्रिया के विरह को न सहने के लिए प्रसिद्ध चकवे भी उदयन जैसे दुःखी नहीं हैं। चक्रवाकः—चक्र (कृ+क घञर्थे प्रत्ययः, निपातनात् द्वित्वम्) वाकः (वच्+घञ्) 'चक्र' इति संज्ञया उच्यते इति चक्रवाकः। अथवा चक्र इति वाक्(संज्ञा)यस्य। कोक, कोकनद आदि भी इसी के नाम हैं। भाषा में यह युगल चकवा-चकई के नाम से प्रसिद्ध है। यह पक्षी हंस-कुल के एक विशेष वर्ग से सम्बन्धित है। इसका रंग गाढ़ा नारंगी या हल्का कत्थई होता है। नर की गरदन के चारों ओर एक काला कण्ठा होता है। इसके पर कुछ काले और कुछ सफेद होते हैं। ऊपर हरा चित्ता होता है। यह पक्षी झील, बड़ी नदी तथा समुद्री किनारों पर अपना अधिक समय बिताता है। इसका स्वर बड़ा कर्कश होता है। ढीठ इतना होता है कि रात को बोलना शुरू करने पर प्रातःकाल तक चीखता ही रहता है। इसी कारण साहित्य में कवियों ने कल्पना की है कि रात में नर पक्षी मादा से अलग हो जाता है और उसका मिलन सूर्योदय से पहले नहीं होता। सारी रात वह इस विरह में तड़पता रहता है। यह साहित्यिक मान्यता मात्र है, तथ्य नहीं। कवि सम्प्रदाय में यह विरह का आदर्श बन गया है। "दूरीभूते मयि सहचरे चक्रवाकीमिवैकाम्" (मेघदूत उत्तर-२३)। "नलिनी-पत्रान्तरितमपि सहचरमपश्यन्त्यातुरा चक्रवाक्यारटति···" (शाकुन्तल अंक ४)। ब्रह्मचारी कहता है कि उदयन के विरह-विलाप के सामने चकवे भी मात खा गये हैं। स्त्रीविशेषैः—स्त्रीणां स्त्रीषु वा विशेषा इति स्त्रीविशेषाः। वासवदत्ता के विरह में जितना दुःखित उदयन हुआ है उतना तो और कोई इतिहास-प्रसिद्ध व्यक्ति भी स्त्री के वियोग में नहीं हुआ होगा। अधिक क्या कहा जाय जिसे पति इस प्रकार प्यार करता हो उस स्त्री को तो अमर ही समझो। वासवदत्ता उदयन के प्रेम के कारण मर कर भी नहीं मरी है। भवभूति मालतीमाधव में इसी भाव को इस प्रकार कहते हैं—"न खलु स उपरतो यस्य वल्लभो जनः स्मरति" यहां दग्धाप्यदग्धा० में विरोधाभास अलङ्कार है। "आभासत्वे विरोधस्य विरोधाभास इष्यते"।

पद्य १४—अनाहारे तुल्यः—उदयन के प्रधान अमात्यों में रुमण्वान् भी था। लक्ष्य-सिद्धि के लिए यौगन्धरायण के राज्य से बाहर चले जाने पर राजकार्य का मुख्य भार रुमण्वान् पर ही था। वासवदत्ता के विरह में उदयन को कहीं कुछ हो न

जाय यह कार्य-भार भी रुमण्वान् पर ही था। उदयन के इस दुःख को, साथ बांट कर, वह हल्का करने का प्रयत्न कर रहा है। दिन-रात वह उदयन की सेवा में लगा हुआ है। उदयन वासवदत्ता की मृत्यु से दुःखी है और रुमण्वान् अपने स्वामी के दुःख से दुःखी है। **शरीरे संस्कारम्—नृपतिसमं दुःखं यथा स्यात्तथा शरीरे संस्कारं परिवहन्**, दुःखं यहाँ क्रिया-विशेषण है। जिस प्रकार उदयन दुःखपूर्वक बड़ी अनिच्छा से, परिजनों के बहुत कहने पर स्नान वस्त्र-परिवर्तन आदि करते हैं उसी प्रकार रुमण्वान् भी दुःखपूर्वक स्नानादि करते हैं। **संस्कार** (सम्+कृ+घञ्) यहाँ संस्कार से अभिप्राय केवल आवश्यक क्रियाओं से है। आभूषण आदि धारण करना अभिप्राय नहीं है। विरह-दुःख में आभूषणों का क्या काम **"प्रत्यादिष्टविशेषमण्डनविधिः"** (शाकु० ६-६)। **नृपः प्राणान्०**—राजा का अनुसरण करने में (उसके दुःख में हाथ बँटाने में) रुमण्वान् इतना आगे बढ़ गया है कि यदि दुःख के कारण राजा की मृत्यु हो जाय तो तुरन्त रुमण्वान् भी देह त्याग देंगे। मृत्यु तक वह उदयन का साथ देंगे। यहाँ अवान्तर रूप से यह भी ध्वनित होता है कि रुमण्वान् के प्रयत्न उदयन को मरने नहीं देंगे, **"परसंविभक्तं हि दुःखं सह्यवेदनं भवति"** (शाकु० अंक ३)। भास ने यहाँ अवान्तर रूप से वासवदत्ता को उदयन के विषय में आश्वासन भी दिला दिया है। इसी से आश्वस्त होकर वह सोचती है **"दिष्टया सुनिक्षिप्त इदानीमार्यपुत्रः।"** यहाँ भाव इस प्रकार भी हो सकता है कि **"यदि तस्याप्युपरमः, नृपः सद्यः प्राणान् त्यजति"** अर्थात् यदि किसी कारण रुमण्वान् भी मर जाय (किसी दुर्घटना से)तो राजा भी तुरन्त मर जायेगा। राजा जीवित है तो केवल रुमण्वान् के सहारे, और सहारा ऐसा है कि इसके समाप्त होने पर राजा फिर जीवित रह नहीं सकेगा। इससे रुमण्वान् की अतिशय सेवा प्रकट होती है।

पृ० २२–पद्य १५—**प्रसक्तः**—(प्र+सञ्ज्+क्त)निरन्तर, लगातार, विश्रामरहित। यौगन्धरायण का आधा काम तो हो ही चुका, शेष आधा सम्भवतः नाटक की समाप्ति पर होगा। प्रस्तुत नाटक में यौगन्धरायण केवल आदि और अन्त में ही दिखाई पड़ता है। अतः इसका कार्य न तो अधिक कठिन है और न ही निरन्तर है। पर रुमण्वान् का उत्तरदायित्व उदयन को सम्भालना है। उदयन वासवदत्ता को सचमुच मरा हुआ समझता है। वह राजा है, उसे कहीं कुछ हो जाय तो सारी योजना निरर्थक है। अतः उसे सुरक्षित रखना अपेक्षाकृत अधिक कठिन है और विश्रामरहित है। वासवदत्ता स्वयं योजना में सम्मिलित है अतः इसकी रक्षा अधिक कठिन नहीं। यौगन्धरायण ने तो यह भार भी पद्मावती पर डाल दिया है। अब वह सर्वथा मुक्त है (कम से कम नाटक में कुछ नहीं करता)। यद्यपि रुमण्वान् भी नाटक में कहीं दिखाई नहीं देता, फिर भी हम जानते हैं कि वह उदयन के साथ है। **तस्मिन्—रुमण्वति अमात्ये, अथवा तस्मिन् इत्यादि सामान्यवचनम्।**

पर्युषितम्—परि+वस्+क्त (कर्मणि)। हसितम्, कथितम् आदि सभी के साथ कर्ता मया का अध्याहार करना चाहिए। **अमात्यैः महता**—अमात्याः (उपमेय)

द्वितीय अंक

पृ० २६—कथावस्तु—कुमारी पद्मावती अपनी सखियों के साथ गेंद से खेल रही है। पद्मावती का यह वयःसन्धिवर्णन बहुत ही सुन्दर है। प्रथम अङ्क में आये विवाह-विषयक प्रसंग के कारण वासवदत्ता पद्मावती को अपनी होने वाली भाभी समझ बैठी है। वयःसन्धि के सौन्दर्य और सम्भावित बन्धुता के आधार पर वासवदत्ता पद्मावती से परिहास करती है। इसी अवसर पर पता चलता है कि पद्मावती उदयन को चाहती है। वासवदत्ता के लिए यह परिवर्तन अत्यन्त मर्मस्पर्शी है। अन्त में सूचना मिलती है कि पद्मावती का उदयन के साथ वाग्दान हो गया है। यहाँ से वासवदत्ता के हृदय का द्वन्द्वात्मक वर्णन आरम्भ होता है। इसी द्वन्द्व पर सारा नाटक आश्रित है। हास-परिहास की भूमिका से इसका आरम्भ भी नाटक की प्राणप्रद वस्तु है।

स्थान—मगधाधिपति दर्शक के प्रासाद का उपवन भाग।

समय—अङ्क के अन्त में कहा है कि आज शुभ नक्षत्र है, आज ही कौतुक-मंगल किया जाना है। इससे स्पष्ट है कि सारे अङ्क की घटना एक ही दिन में घटित होती है। सामान्यतः विवाह-सम्बन्धी कार्यो के लिए अपराह्ण या सायं का समय ही उपयुक्त होता है। दृश्य का आरम्भ कन्दुक-क्रीडा (पूर्वाह्न) से होता है। इसके बाद कौतुल-मंगल विधि होगी जिसका समय सायं ही होना चाहिए। इस प्रकार प्रातः से लेकर सायं तक प्रथम अङ्क का दृश्य घटित होता है। उदयन सम्भवतः कई दिन पहले ही वहाँ किसी कार्यवश पहुँचा हुआ है। वास्तव में यह केवल संयोग नहीं है रुमण्वान् आदि के प्रयत्नों का ही परिणाम है।

किं भणसि—यह 'आकाशभाषित' नामक नाट्योक्ति है। **"किं ब्रवीषीति यन्नाट्ये विना पात्रं प्रयुज्यते। श्रुत्वेवानुक्तमप्यर्थं तस्मादाकाशभाषितम्"** (सा० दर्प० ६-१४०) दूसरे किसी पात्र के विना ही, बिन कही बात को सुना सा करके 'क्या कहते हो' ऐसा कहकर जब कोई पात्र अपनी बात कहता है तो उसे आकाश-भाषित कहते हैं। स्वगत, प्रकाश, अपवारित, त्रिपताक, पताका, जनान्तिक और आकाशभाषित ये सब नाट्योक्तियाँ कहलाती हैं।

माधवी—मधौ वसन्ते पुष्पत्यसौ, माधवी लता। वासन्ती भी इसी का दूसरा नाम है। **"अतिमुक्तः पुण्ड्रकः स्याद्वासन्ती माधवी लता"** इत्यमरः। **अम्मो**–आश्चर्या-भिव्यञ्जक अव्यय। **विचित्रितेन—(विचित्र+इतच्), विशेषेण चित्रितं तेन**। पद्मावती

का मुख पसीने की बूंदों से युक्त होने के कारण और श्रम (थिरकने) के कारण अत्यन्त सुन्दर लग रहा है। गेंद का खेल राजकुमारियों को अत्यन्त रुचिकर था इसका वर्णन अन्य कवियों ने भी यथावसर किया है। "मन्दाकिनीसैकतवेदिकाभिः सा कन्दुकैः कृत्रिमपुत्रकैश्च। रेमे मुहुर्मध्यगता सखीनां क्रीडारसं निर्विशतीव बाल्ये" (कुमारसम्भव १-२९)। "क्लमं ययौ कन्दुकलीलयापि या तया मुनीनां चरितं व्यगाह्यत।" (कुमारसम्भव ५-१९)। "सा तु सप्तमाद्वर्षादारभ्यापरिणयनात् प्रतिमासं कृत्तिकासु कन्दुकनृत्येन गुणवद्भर्तृलाभाय मां समाराधयतु।..... स चोत्सवः कन्दुकोत्सवनामास्तु।......सा अद्य नाम कन्या कन्दुकावती सोमापीडां देवीं कन्दुकविहारेण आराधयिष्यति" (दशकुमारचरित उत्तरपीठिका षष्ठ उच्छ्वास, प्रारंभ)। दशकुमारचरित के उद्धरण से, विवाह से पहले कुमारी कन्या का गेंद से खेलना, उत्सव बन गया प्रतीत होता है। गेंद से खेलती हुई भास की पद्मावती पौधों को सींचती हुई कालिदास की शकुन्तला से कम सुन्दर नहीं है।

प्रवेशकः—कथा दो प्रकार की होती है। (क) जिसे अभिनय करके प्रस्तुत किया जाय और (ख) जिसकी केवलमात्र सूचना दी जाय। नीरस अथवा अनुचित कथाभाग का रंगमंच पर अभिनय नहीं किया जाता, उसे केवल दर्शकों को बता दिया जाता है। "द्वेधा विभागः कर्तव्यः सर्वस्यापीह वस्तुनः। सूच्यमेव भवेत्किञ्चिद् दृश्य-श्रव्यमथापरम्।"नीरसोऽनुचितस्तत्र संसूच्यो वस्तुविस्तरः।" द० रूप० १, ५६-५७। अनभिनेय कथावस्तु की सूचना देने के पाँच प्रकार हैं। इन्हीं नाट्यशास्त्र की भाषा में अर्थोपक्षेपक कहते हैं "अर्थोपक्षेपकाः पञ्च विष्कम्भकप्रवेशकौ। चूलिकाङ्कावतारोऽथ स्यादङ्कमुखमित्यपि" (सा० दर्पण० ६-५४)। संक्षेप में भूत और भविष्यत् कथाओं की सूचना किसी छोटे स्तर के पात्र (प्राकृत बोलने वाले सेवक सेविका आदि) अथवा पात्रों से दी जाय तो इसे 'प्रवेशक' कहते हैं। स्वरूप से ही स्पष्ट है कि इनका प्रयोग प्रथम अङ्क के बाद ही किया जा सकता है। आवश्यक रूप से छोटे स्तर के (नीच) पात्रों से प्रयुक्त होना ही इसकी 'विष्कम्भक' से भिन्नता है। इसके अतिरिक्त इसमें उक्तियाँ भी बहुत उदात्त (रमणीय) नहीं होती हैं "प्रवेशकोऽनुदात्तोक्त्या नीचपात्र-प्रयोजितः। अङ्कद्वयान्तर्विज्ञेयः शेषं विष्कम्भके यथा" (सा० दर्प० ६-५७)। प्रस्तुत संदर्भ में पद्मावती 'माधवी लता मण्डप के पास गेंद-खेलती हुई इस ओर (मंच पर) आ रही है' यही बात कही गई है। मञ्च पर कन्दुक-क्रीडा को न दिखाने की दृष्टि से ही यह कथाभाग सूच्य है। इसकी सूचना भी चेटी (दासी) देती है। इस अंश में यह प्रवेशक है। किन्तु यह कथाभाग किसी भी दृष्टि से अनुदात्त या असुन्दर नहीं है। विकसित रंगमञ्च पर तो इसका अभिनय भी अत्यन्त सुन्दर होगा। अनुचित एवं नीरस न होने से इसे सर्वथा सूच्य भी नहीं माना जा सकता। इस प्रकार यह प्रवेशक सर्वथा परिभाषा के अनुरूप नहीं है।

सपरिवारा—परिजन दासी आदि के साथ। **परिवार: परिजने खड्गकोशे परिच्छदे' मेदिनी।** संस्कृत का परिवार शब्द हिन्दी के 'परिवार' शब्द के समकक्ष नहीं है।

अधिकसञ्जातरागौ—गेंद खेलने से पद्मावती के कोमल हाथ अधिक लाल हो गए हैं। इसी कारण वासवदत्ता कहती है **परकीयौ इव**—तुम्हारे हाथ पराए से हो गए हैं। इसके भाव को दो प्रकार से समझा जा सकता है—(क) अपनी स्वाभाविक अवस्था से भिन्न होने के कारण ऐसा प्रतीत होता है कि मानो ये हाथ तुम्हारे नहीं हैं। (ख) अधिक खेलने से इतने थक गए हैं कि अब तुम्हारे अपने अधीन नहीं रहे, तुम्हारी इच्छानुसार काम की योग्यता इनमें नहीं रही अतः परकीय, पराए अर्थात् पराधीन हो गए हैं। इन पर तुम्हारा स्वामित्व न रहकर श्रम का स्वामित्व हो गया है। पद्मावती का विवाह होने वाला है। इसी की पृष्ठभूमि में कन्दुकक्रीडा है। इस संदर्भ में उसकी सहेली आवन्तिका की यह उक्ति बहुत ही सहृदयाह्लादक है। 'पराए हाथ होना' लोक में विवाह के लिए प्रचलित है। देह के अंगों में प्रेम का परिणाम लालिमा होता है। प्रेम से लाल हुए तुम्हारे हाथ मानो परकीय हो गए हैं। आगे का भी सारा कथोपकथन इसी प्रकार विनोदपूर्ण है। **परकीयौ—पर + छ (ईय्) कुगागमश्च।**

भर्तृदारिका—भर्तुः स्वामिनः दारिका पुत्री। "वाच्या प्रकृतिभिः राज्ञः कुमारी भर्तृदारिका" साहित्यदर्पण। **क्रीडतु-क्रीडतु इति वीप्सायां द्वित्वम्। 'यथेष्टं क्रीडतु' इत्यर्थः। कन्याभावरमणीयः** विवाह के बाद दूसरे परिवार में वधू बन कर रहते हुए बहुत सी औपचारिकता एवं मर्यादा का पालन करना होता है। खेलना-कूदना जितनी स्वच्छन्दता से विवाह के पहले माता-पिता के घर में हो सकता है उतना विवाहोपरान्त पतिगृह में नहीं। पद्मावती का विवाह होनेवाला है अतः चेटी कहती है कि कुमारी-अवस्था के रमणीय समय को जितना भोगना हो भोग लो। यह समय अब अन्तिम चरण में है। 'काल' शब्द यहाँ लक्षणा से 'आयु' अर्थ को भी देगा। इस रमणीय कुंवारावस्था को खेल-कूद का आनन्द लेते हुए ही बिताओ। यही भाव देखिए प्रति०यौगन्ध० २ अङ्क—**"क्रीडतु-क्रीडतु। नैतत्सुलभं श्वशुरकुले।"** कुमारसम्भव १-२९—**"रेमे मुहुर्मध्यगता सखीनां क्रीडारसं निर्विशतीव बाल्ये।"** कादम्बरी—**"साहं पितृकुले······अविदितस्नेहशोकायासमनोहरं शैशवमतीतवती।"**

निध्यायसि—नि + ध्यै + सिप् (लट्)। एकटक देखना, साभिप्राय देखना। आवन्तिका को अपनी ओर एकटक देखते हुए देखकर पद्मावती कहती है। 'क्यों मेरा परिहास करने के लिए एकटक देख रही हो।' यह सारा वार्ता-प्रसंग हास-परिहास से युक्त है।

ह्येव वलवान्" प्रतिज्ञायौ० २-४। उदयन अपने इन्हीं गुणों के कारण धीरललित नायक है।

नहि नहि—वासवदत्ता अत्यधिक प्रेम के कारण अधीरता से एकदम कह बैठती है—नहीं नहीं वह कुरूप नहीं है। वासवदत्ता के इस आवेश के कारण यौगन्धरायण की योजना बीच में ही टूट सकती थी। स्वाभाविक प्रश्न होता है, तुम कैसे जानती हो कि उदयन कुरूप नहीं है? वासवदत्ता बुद्धिमती स्त्री है। उसके मुंह से भावावेश के कारण जो कुछ निकल गया उसकी गम्भीरता अब उसकी समझ में आई। पर वह अपनी बुद्धि का सहारा लेकर स्थिति को सम्भाल लेती है। वह अवन्तिका की रहने वाली(आवन्तिका) है। उदयन वहाँ रहे हैं, अतः स्वाभाविक है कि वहाँ के लोगों के मुंह से आवन्तिका ने उदयन के रूप के विषय में सुन रखा हो। इतना ही नहीं उज्जयिनीवासी (उदयन के शत्रु) भी यदि उसके रूप की प्रशंसा करें तो सचमुच उदयन कितना सुन्दर होगा? **सर्वजनमनो०**—सौन्दर्य तो वास्तव में वही है जिसकी सब लोग (शत्रु भी) प्रशंसा करें। वासवदत्ता कई बार उदयन के प्रति प्रेम के कारण अपने कर्तव्य में असावधान हुई है। इस प्रकार असावधानी से उसका उदयन के प्रति अतिशय प्रेम प्रकट होता है और साथ ही यह भी पता चलता है कि वासवदत्ता (सर्वगुण सम्पन्न) होने पर भी इस लोक की ही नायिका है। उसमें भी मनुष्य के स्वभावानुकूल त्रुटियाँ हैं। बिगड़ती बात को बनाने से उसका बुद्धि-चातुर्य भी प्रकट होता है।

दत्तासि—वाग्दान हो गया।

पृ० ३०—अथ कुशली०—अथ प्रश्नवाचक अव्यय है। 'राजा' शब्द में तीखा व्यंग्य है। तुलना कीजिए **"वाच्यस्त्वया मद्वचनात् स राजा"** (रघु०१४-६१)।

तस्य प्रतीष्टा—तेन **प्रतीष्टा**। यहाँ **'राज्ञां मतः बुद्धः पूजितः'** की भाँति **'क्तस्य च वर्तमाने'** से तृतीया के स्थान पर षष्ठी विभक्ति हुई है। **प्रतीष्टा**—(प्रति +इष्+क्त, टाप्) **स्वीकृता**। उसने स्वीकार कर ली है।

अत्याहितम्—(अति+आ+धा+क्त)अनुचित, अयुक्त, बिना विचारे किया गया कार्य। पद्मावती यौगन्धरायण की योजना में सम्मिलित तो है, पर उसे सारी योजना की जानकारी नहीं है। जैसे-जैसे यौगन्धरायण कहेगा उसे वैसे-वैसे करना है, बस वह इतना ही जानती है। यहाँ उसने **"अत्याहितम्"** अपनी दृष्टि से कहा है। उसका पति, जिस पर उसका एकमात्र अधिकार है, किसी दूसरी स्त्री से विवाह करे इससे बढ़ कर अनुचित उसके लिए और क्या हो सकता है? **अत्याहितम्** का अर्थ दुर्घटना भी होता है। वासवदत्ता के लिए आग में जल कर मरने से भी बढ़ कर बुरी यह घटना है।

तथानाम—उस प्रकार से, प्रथम अङ्क में ब्रह्मचारी द्वारा कहे गये प्रकार से। विवाह प्रसन्नता की बात थी। इस अवसर पर वासवदत्ता के मुँह से निकला **'अत्याहितम्'** शब्द बहुत ही अनुचित था। अतः धाय के पूछने पर वासवदत्ता बात को

बहन का विवाह-प्रस्ताव उदयन से किया है। कुल, आयु, ज्ञान और सौन्दर्य। पञ्चतन्त्र में वर के आवश्यक गुण सात गिनाए हैं "कुलं च शीलं च सनाथतां च विद्यां च वित्तं च वपुर्वयश्च। एतान् गुणान् सप्त परीक्ष्य देया कन्या बुधैः शेषमचिन्तनीयम् ॥" काको० २०६ । प्रतिज्ञायौगन्ध० २-४ भी इस विषय में द्रष्टव्य है।

अनपराद्धः—वासवदत्ता को इतना सन्तोष है कि विवाह का प्रस्ताव उदयन ने स्वयं नहीं किया है। उसने तो केवल दर्शक के प्रस्ताव को स्वीकार किया है। यह केवल सान्त्वना देने का उपाय मात्र है। शोभनं नक्षत्रम्—शुभ नक्षत्र। नक्षत्र के शुभ होने पर तिथि या लग्न आदि के लिए प्रतीक्षा करना आवश्यक नहीं।

भट्टिनी—स्वामिनी, दर्शक की पत्नी "भट्टिनी द्विजभार्यायां, नाट्योक्त्या राजयोषिति।" नाट्यशास्त्र के अनुसार "राजपत्न्यस्तु सम्भाष्याः सर्वाः परिजनेन तु। भट्टिनी स्वामिनी देवी इत्येवं नाटके बुधैः ॥' कौतुकमङ्गलम्—कुतुकस्य भावः कौतुकम् (अण्), उत्सुकता उत्पन्न करने वाली कोई भी वस्तु। विवाहसूत्र भी, जिनका विवाह होना है उनमें और उनके सम्बन्धियों एवं मित्रों में भी, उत्सुकता उत्पन्न करने के कारण 'कौतुक' कहलाता है। "वरोऽयमामुक्तविवाहकौतुकः" (कुमार० ५-६६)। मङ्गलम्—मांगलिक क्रिया। कौतुक-बन्धन की मांगलिक विधि। आजकल भी विवाह से पहले भावी वधू के बायें हाथ में कंगना बाँधा जाता है। इस कंगन-बद्ध हाथ को ही वर के हाथ में पकड़ाया जाता है। यही विधि कौतुक-बन्धन या कौतुकमंगल है। कंगना या कौतुक सूत के बहुत से धागों से मिलाकर बनाया जाता है। इसमें हल्दी कुंकुम आदि भी लगाये जाते हैं। "कौतुकं मङ्गले हर्षे हस्तसूत्रे कुतूहले" इति शाश्वतः। कौतुकमालाम् इत्यादि में कौतुक शब्द विवाह-सम्बन्धी माला अर्थ देता है।

अन्धकारीकरोति०—ज्यों-ज्यों विवाह के लिए जल्दी की जा रही है। वासवदत्ता का मन बैठता जाता है, वह विचार-शून्य होती जाती है। यह स्वाभाविक भी है। अपने पति के समग्र प्रेम में हिस्सा बटाने के लिए दूसरी स्त्री आ रही है। इस दुःख के कारण वासवदत्ता की व्याकुलता इस अङ्क से आरम्भ हो गई है।

———

तृतीय अङ्क

पृ० ३२—**कथावस्तु**—उदयन का पद्मावती से विवाह होना निश्चित हो गया। यह जानकर वासवदत्ता के पति-विरही हृदय को और आघात पहुँचा। दर्शक के महल में विवाह की चहल-पहल है। इससे बचने के लिए वासवदत्ता अकेली, व्यथित-हृदय, प्रमद-वन में बैठी है। आवन्तिका महाकुलोत्पन्न और निपुण है, अतः महारानी की इच्छा है कि विवाह-माला (जयमाला) को आवन्तिका ही अपने हाथ से गूंथे। दासी जब वासवदत्ता को फूल देकर माला जल्दी गूँथने को कहती है तो वासवदत्ता की दशा विचित्र हो जाती है। पति से अलग गुप्त रूप से रहना और फिर अपनी आँखों के सामने उसका अन्य स्त्री से विवाह। भाग्य की विडम्बना देखिए, जयमाला भी स्वयं वासवदत्ता को गूँथनी पड़ रही है और इन सब से बढ़कर यह कि वासवदत्ता कुछ बोल तक नहीं सकती। उसे चुपचाप रहकर सब कुछ करते हुए भाग्य की विडम्बना को सहना है। वासवदत्ता के हृदय का यही संवेदन इस अंक का विषय है। वह सब सहती है पर आखिर मनुष्य है, जब सपत्नीमर्दन-औषधि को गूंथने का प्रश्न आता है तो वह साफ मना कर देती है। भास ने यहाँ उसकी महानता को अक्षुण्ण रखते हुए भी उसे मनुष्य स्तर पर संवेदनशील बनाये रखा है।

स्थान एवं समय—सारा अङ्क एक ही दिन में दर्शक के राजमहल के उद्यान में घटित होता है।

यावदिदानीम्—दुःख को यदि अभिव्यक्ति न मिले तो वह अन्दर ही अन्दर तीव्र घुटन पैदा करता है। इस अन्तर्दाह से छुटकारा पाने के लिए वासवदत्ता एकान्त स्थान पर आई है। उसके दुःख को समझने वाला उसमें हिस्सा बंटा कर उसे सह्य बनाने वाला दूसरा कोई नहीं है अतः वह स्वयं ही इस विषय में विचार करके, इस प्रसंग को सोचकर, दूसरे शब्दों में स्वयं अपने से बात कर के हल्का करना चाहती है। वाक्यार्थ इस प्रकार किया जा सकता है—यहाँ एकान्त प्रमद-वन में दुर्भाग्य से दुःखित मन को कुछ हल्का करूँ।

धन्या खलु चक्रवाकवधूः—चकवी चकवे से अलग होने पर सारी रात विरह में इतना चीखती है कि प्रातःकाल तक लगभग मरणासन्न हो जाती है (विस्तृत टिप्पणी देखो पृष्ठ १३२)। वासवदत्ता सोचती है मेरी अपेक्षा तो चकवी धन्य है जो विरह में प्राण तक दे देती है। मैं अभागी तो मर भी नहीं पाती हूँ। वासवदत्ता के जीवित रहने का कारण उदयन से फिर मिलने की आशा है। यह

आशा-तन्तु प्रणयी हृदयों को विरह में भी मरने नहीं देता है। "आशाबन्धः कुसुम-सदृशं प्रायशो ह्यङ्गनानां सद्यःपाति प्रणयि हृदयं विप्रयोगे रुणद्धि" (मेघदूत पू० ९)।

चिन्ताशून्यहृदया—ज्ञानेन्द्रियों से हम विषयों का ग्रहण तभी कर पाते हैं जब मन भी इन्द्रिय के साथ संयुक्त हो। वासवदत्ता चिन्तित एवं दुःखित है। उसका मन पूर्णतः अपनी इस अवस्था में ही उलझा हुआ है। अतः किसी भी ज्ञानेन्द्रिय को उसका संयोग प्राप्त नहीं है। इस कारण अन्य किसी इन्द्रिय में कोई कार्यक्षमता नहीं। इसी भाव को साहित्य की भाषा में चिन्ताशून्यहृदया कहा है। तुलना कीजिए शकुन्तला के साथ जब वह दुष्यन्त को सोचने के कारण उपस्थित अतिथि दुर्वासा को नहीं जान पाई थी "ननूटजसन्निहिता शकुन्तला। अनसूया—अद्य पुनर्हृदयेनासन्निहिता।" (शा० अंक ४)।

नीहारप्रतिहत०—वासवदत्ता की तुलना कोहरे से धुँधली हुई चन्द्रलेखा से की है। उदयन के साथ तो वह स्वच्छ आकाश की चन्द्रलेखा की भाँति चमकती थी। पर अब पति के दूसरे विवाह का कोहरा मानो उस पर छा गया है। मांगलिक अवसर होने के कारण उसने शुभ-वेश धारण किया हुआ है, पर प्रसन्नता न होने के कारण आभूषण आदि नहीं पहन रखे हैं। प्रियङ्गुशिलापट्टके—प्रियंगु, एक लता। राजकीय महिलाओं को यह अत्यन्त प्रिय रही है। इसके सम्बन्ध में कहा जाता है कि स्त्री के स्पर्शमात्र से यह फूलने लगती है। साहित्यिक मान्यता के अनुसार अशोक, कुरवक, प्रियंगु, वकुल आदि का स्वभाव इस प्रकार है—"पादाघातादशोकस्तिलककुरवको वीक्षणालिङ्गनाभ्याम्। स्त्रीणां स्पर्शात् प्रियङ्गुर्विकसति बकुलः सीधुगण्डूषसेकात्। मन्दारो नर्मवाक्यात् पटुमृदुहसनाच्चम्पको वक्त्रवातात् चूतो गीतान्नमेरुर्विकसति च पुरो नर्तनात् कर्णिकारः"। सुन्दरियाँ आम के वृक्ष के साथ इसका विवाह रचती है "मिथुनं परिकल्पितं त्वया सहकारः फलिनी च नन्विमौ" (रघु० ८-६१)। सांवला सलोना रंग होने के कारण षोडशवर्षीया सुन्दरी की भाँति इसे भी 'श्यामा' कहते हैं "प्रियङ्गुश्यामाङ्गप्रकृतिरपि" (मालतीमाधव ३-९) विरही जन इसमें अपनी प्रेयसी के अंगों को देखते हैं "श्यामास्वङ्गं चकितहरिणीप्रेक्षणे दृष्टिपातम्" (मेघदूत उत्तर-४४)।"श्यामालताः कुसुमभारनतप्रवालाः स्त्रीणां हरन्ति धृतभूषणबाहुकान्तिम्" (ऋतुसंहार ३-१८)। सुन्दरियों से समानता के कारण ही इसका नाम 'महिला' भी है। "महिलायाः समग्रनामभिरभिधीयत इत्यर्थः" (महेश्वर, अमरकोष टीका पृ० [illegible])। गोवंदिनी, फलिनी, फली, विष्वक्सेना, गंधफली, प्रियक आदि इसके प्रचलित नाम हैं। शिलापट्टक—प्रियंगुलता के नीचे पत्थर का बनाया हुआ आराम। इसी पर वासवदत्ता अनमनी सी बैठी थी। कः कालः—कः कालः गतः। कितना समय हो गया तुम्हें खोज रही हूँ।

कौतुकमालिकाम्—विवाहमाला (जयमाला) 'कौतुक' का अर्थ मङ्गल भी होता है "कौतुकं मङ्गले हर्षे···" शाश्वत कोष। इसी सम्बन्ध में विवाह आदि

चिन्तित एवं खोई-खोई सी बैठी थी। अतः दासी कहती है "अब कुछ और मत सोचो" अन्यथा विलम्ब हो जायेगा। अगली पंक्ति में वासवदत्ता इसका बड़ा ही अर्थपूर्ण उत्तर देती है—"न शक्नोम्यन्यच्चिन्तयितुम्" मैं कुछ और तो सोच ही नहीं सकती। प्रस्तुत विवाह-प्रसङ्ग मेरे लिए जीवन-मरण से भी बड़ा प्रसङ्ग है। इसके अतिरिक्त मैं और कुछ भी नहीं सोच सकती हूँ।

मणिभूम्याम्—स्फटिक-मणि या अन्य वहुमूल्य पत्थर से वनायी गयी स्नान-वेदी। (स्नान के प्रसंग से स्नानागार) विवाह-संस्कार से ठीक पहले वर को स्नान कराया जाना सम्भवतः एक प्रथा थी।

भर्तृदारिकायाः स्नेहेन—जामाता (उदयन) को देखने में दासी दो निमित्त वताती है—(क) पद्मावती के प्रति उसका स्नेह और (ख) कौतूहल (कुतूहल+अण्), उत्सुकता। यहाँ व्याकरण के अनुसार 'भर्तृदारिकायाः' के स्थान पर 'भर्तृदारिकायां स्नेहेन०' पाठ होना चाहिए। भर्तृदारिका स्नेह की आधार है। **भण भण—त्वरायां द्विरुक्तिः।** वासवदत्ता उदयन के विषय में जानने लिए अत्यन्त उत्सुक है।

शरचापहीनः कामदेवः—उदयन को दासी साक्षात्कामदेव वताती है। वस इनके पास मन्मथ के प्रसिद्ध धनुष और वाण नहीं हैं। पुष्पों का धनुष और पांच वाण कामदेव के अपरिहार्य अङ्ग हैं। पांच वाणों की गणना प्रसङ्गानुसार चतुर्थ अङ्क के प्रथम पद्य में की जायेगी।

अयुक्तं परपुरुष०—वासवदत्ता चेटी को अधिक वर्णन करने से रोकती है। उदयन के वर्णन से उसकी विरह-व्यथा और अधिक हो रही है। उसे भय है कहीं यह असह्य न हो जाय। अथवा—वह प्रोषितभर्तृका है, सब जानते हैं कि वह परपुरुष का दर्शन तक नहीं करती और पद्मावती के पास धरोहर-रूप में है। उसका चरित्र-रक्षण पद्मावती का विशेष दायित्व है। दासी को यदि वह और वोलने की छूट देती तो हो सकता है उसके विषय में दासी कुछ भ्रान्त धारणा वनाकर अन्तःपुर में इसकी चर्चा कर दे। इन कारणों से वासवदत्ता उसे रोकती है। दासी के पहले वाक्य से ही स्पष्ट है कि वह इस प्रसंग को रस लेकर सुनाने के लिए तैयार थी। यदि इसे न रोका जाता तो वासवदत्ता के चरित्र में भी दोष आ जाता।

वर्जयित्वा—(वृज् वर्जने) वर्जनमिह निष्कासनम्। पुष्पभाजनात् पुष्पाणि वहिरुद्धृत्य वास्तव में प्रसंगानुकूल उपर्युक्त अर्थ कुछ टीकाकारों ने किया है। परन्तु वृज् धातु जिससे ल्युट् प्रत्यय, करके 'वर्जन' शब्द वनता है, इस का 'निकालना' अर्थ न तो कोश-सम्मत है और न ही प्रयोग-सम्मत। वृज् का अर्थ होता है हटाना, एक ओर करना, छोड़ना जैसे—"हंसो हि क्षीरमादत्ते तन्मिश्रा वर्जयत्यपः"। यहाँ भी उसने हाथ से फूलों को हटाया, एक ओर किया तो फूलों के अतिरिक्त उसमें कुछ और दिखायी पड़ा। अथवा—फूलों को छोड़कर, फूलों से भिन्न जो कुछ था उसे उसने उठाकर पूछा यह क्या है? **औषधम्**—ओषधि+अण्, जड़ी-वूटी। कोई विशेष जड़ी, जिसे माला के वीच में ही गूंथा जाना था। यह जड़ी मङ्गलकारी समझी जाती

चतुर्थ अङ्क

पृ० ३८—कथावस्तु—उदयन का पद्मावती से विवाह हो चुका है। उदयन अभी दर्शक के यहाँ ही ठहरा हुआ है। एक दिन पद्मावती आवन्तिका और अपनी दासी के साथ प्रमदवन में जाती है। उदयन भी वहाँ आने वाले हैं। खिले हुए शेफालिका के फूलों को देखकर वह प्रसन्न होती है और दासी को अधिक फूल तोड़ने से मना करती है। खिले फूलों से आच्छादित लताओं और वृक्षों से वह आर्यपुत्र का स्वागत करना चाहती है। आपस की बातों में वह अपना अतिशय प्रेम उदयन के प्रति प्रकट करती है। इतने में उदयन और विदूषक भी आ जाते हैं। आवन्तिका क्योंकि पर-पुरुष-दर्शन से बचती थी अतः ये सब माधवीलतामण्डप में छिप जाती हैं। विदूषक और उदयन पहले तो पद्मावती को इधर-उधर देखते हैं फिर अनुमान लगाते हैं कि वह शायद आकर चली गई है। वे वहीं माधवीलता-गृह के बाहर शिलापट्ट पर बैठ जाते हैं। विदूषक उदयन से पूछता है आप वासवदत्ता को अधिक प्यार करते थे या अब पद्मावती को ? बहुत हठ करके वह उदयन से कहलवा लेता है कि वह वासवदत्ता को भूल नहीं पा रहा है। इसी प्रसंग में वासवदत्ता की याद आने से उदयन की आँखों में आँसू आ जाते हैं। विदूषक मुंह धोने के लिए पानी लेने जाता है। इतने में आवन्तिका अवसर पाकर वहाँ से चली जाती है और पद्मावती उदयन के पास पहुँचती हैं। विदूषक और बाद में उदयन, "काशपुष्प आँख में गिरने से आँसू आए हैं" ऐसा बहाना बनाते हैं। बात अधिक न बिगड़े अतः विदूषक दर्शक के पास चलने का प्रस्ताव करता है। और अङ्क समाप्त हो जाता है।

स्थान—दर्शक के महल का प्रमदवन।

समय—अङ्क का आरम्भ प्रातःकाल कुछ दिन-चढ़े होता है **"अपि स्नातो जामाता"** (पृ० ३८)। भोजन के बाद सब प्रमदवन में इकट्ठे होते हैं **"शरत्काल-तीक्ष्णो दुस्सह आतपः"** (पृ० ४८)। अङ्क-समाप्ति लगभग तीसरे पहर होती है **"उचितं तत्रभवतः...अपराह्णकाले...दर्शनम्** (पृ० ५८)।" ऋतु शरद् है।

विदूषकः—**विशेषेण दूषयति आत्मानं परं वा इति विदूषकः, वि + दूष् + णिच् + ण्वुल्**। कैसा ही समय हो और कोई भी व्यक्ति हो यह हँसी उड़ाने से नहीं चूकता। स्वयं भी कुछ न कुछ ऐसा करता रहता है जिससे हँसी का पात्र बने। राजा (नेता) का यह सबसे घनिष्ठ मित्र होता है। विशेष रूप से नायक की प्रेम-सम्बन्धी समस्याओं को यही सुलझाता है। नायक के अन्तःपुर के झगड़ों का निपटारा विशेष रूप से विदूषक ही करता है। सर्वत्र इसकी निर्बाध गति होती है।

स्वर्गीय आनन्द यहाँ प्राप्त होते थे। इसे अप्सराओं का स्थान देवभूमि समझा जाता था। इस प्रदेश की अद्भुत समृद्धि का वर्णन भारवि ने भी किया है—"विजित्य यः प्राज्यमयच्छदुत्तरान् कुरूनकुप्यं वसु वासवोपमः" किरात १-२५। प्रभूत स्वर्ण-चाँदी का भण्डार यह प्रदेश था। ऐतरेय ब्राह्मण (८-४) के अनुसार उत्तरकुरु के लोग हिमालय के पार रहते थे। रामायण और महाभारत के काल तक 'उत्तरकुरु' एक काल्पनिक पौराणिक नाम बन गया था। चौथी शताब्दी ई० पू० तक उत्तर भारत के पूर्व में आर्यों ने पाञ्चाल, कोशल, विदेह, काशी और कुरु राज्यों की स्थापना कर ली थी। इस कुरु राज्य से प्रस्तुत 'उत्तरकुरु' का कोई सम्बन्ध नहीं है। जिस रूप में यह किरात में आया है और भास ने प्रयोग किया है वह सर्वथा साहित्यसम्मत एक काल्पनिक प्रदेश ही है। इसका आधार भले ही हिमालय के उत्तर में कश्मीर व तिब्बत का कोई स्थान रहा हो (दत्त का "प्राचीन भारतीय संस्कृति का इतिहास")। उत्तरकुरुवास का प्रयोग भास ने अन्यत्र भी किया है "अस्माकं पुनर्गोष्ठीजनस्योत्तरकुरुवासः संवृत्तः" अविमारक चतुर्थ अङ्क का प्रारम्भ। प्राक्सन्ध्या कुरुषूत्तरेषु गमिता..." अविमारक ४-१०।

अनप्सरसंवासः—अविद्यमानः अप्सरः संवासः यस्मिन्। शारीरिक परिश्रम के अभाव में विदूषक का भोजन नहीं पचता और अच्छे बिछौने पर भी नींद नहीं आती है।

वातशोणित—रोग विशेष। आयुर्वेद के ग्रन्थों में यह 'वातरक्त' नाम से प्रसिद्ध है। आयुर्वेद के अनुसार वात, पित्त और कफ इन तीन तत्त्वों के उचित अनुपात से व्यक्ति स्वस्थ और अनुपात में गड़बड़ होने से अस्वस्थ होता है। "......वातरक्तमिति। कुपितो वातः रक्तञ्च कुपितं वातरक्तमित्युच्यते। वातस्य प्राबल्यात् प्राधान्याच्च वारक्तव्यपदेशः न तु रक्तवात इति" (शार्ङ्गधरदीपिका-टीका)। चरक के अनुसार "वायुः प्रवृद्धो वृद्धेन रक्तेनावारितः पथि। क्रुद्धः संदूषयेद्रक्तं तज्ज्ञेयं वातशोणितमिति।" दूषित रक्त, दूषित वायु के सम्पर्क से इस रोग को उत्पन्न करता है। "कृत्स्नं रक्तं विदहत्याशु तच्च दुष्टं स्रस्तं पादयोश्चीयते तु। तत्सम्पृक्तं वायुना दूषितेन तत्प्राबल्यादुच्यते वातरक्तम्।" इसके अवान्तर आठ भेद होते हैं—"वातरक्तं तथाऽष्टधा। वाताधिक्येन पित्ताच्च कफाद्दोषत्रयेण च। रक्ताधिक्येन दोषाणां द्वन्द्वेन त्रिविधः स्मृतः॥" महाराष्ट्र में इसे रक्तपित्त अथवा महारोग कहते हैं। हिन्दी में इसे गठिया कहते हैं। नींद आती नहीं, खाना-पीना ठीक से पच नहीं रहा, इसी कारण विदूषक के शरीर में कुछ जकड़न सी हो गई है। वास्तव में उसे गठिया नहीं है। "अङ्गादिवैकृत्यैर्हास्यकारी विदूषकः" के अनुसार लँगड़ाकर, अकड़कर चलना उसकी विशेषता है। शाकु० द्वितीय अङ्क के आरम्भ में विदूषक शिकार की थकावट से "अङ्गभङ्गविकल इव भूत्वा स्थास्यामि" लँगड़ा बनता है। यहाँ स्वप्नवासवदत्त में वह गठिया की शिकायत को अपनी अङ्ग

विदूषक अपने पेट के परिवर्तन की तुलना करता है। एक जगह परिवर्तन का अर्थ है रंग बदलना और दूसरी जगह पेट में घुमाव होना, ऐंठन होना। कोयल का परिवर्तन आम्रमञ्जरी के अधिक सेवन से होता है और विदूषक के पेट में ऐंठन गरिष्ठ भोजन के अधिक सेवन से हुई है। विदूषक की एक विशेषता उल्टी-सीधी बातें करने की भी है (**अस्ति नगरं ब्रह्मदत्तं नाम०** पृ० ६८)। इसी स्वभाव के अनुसार यदि विदूषक ने यहाँ कौए को कोयल कहा हो तो अभिप्राय और भी स्पष्ट होगा—कौए की आँख में एक ही पुतली होती है। वही दायें-बायें चक्षु-गोलक में घूमती रहती है। जिस प्रकार कौए की आँख में परिवर्तन होता रहता है उसी प्रकार मेरे पेट में भी परिवर्तन हो गया है। यह विदूषक का अभिप्राय है। यहाँ प्रथम अर्थ ही पाठ के अनुसार अधिक उचित है। विदूषक ने काक के स्थान पर कोकिल कहा है इसका प्रसंग से कोई संकेत नहीं मिलता जैसा कि "**अस्ति नगरं ब्रह्मदत्तम्०**" वाले प्रसंग में स्पष्ट संकेत मिलता है। अतः यहाँ द्वितीय अर्थ को त्याग कर प्रथम को ही ग्रहण करना चाहिए।

प्रवेशकः—प्रवेशक की विस्तृत परिभाषा पृ० १३६ पर दी जा चुकी है। वहाँ नाट्य-शास्त्रविषयक ग्रन्थों की परिभाषा के अनुरूप सर्वाङ्गेण प्रवेशक नहीं है यह भी कहा था। यहाँ भी यह सर्वथा परिभाषा के अनुरूप नहीं है। प्रवेशक में अधम पात्र होने चाहिएँ। यहाँ एक पात्र तो तृतीय श्रेणी का है पर दूसरा विदूषक अधम न होकर मध्यम श्रेणी का पात्र है। दोनों का वार्तालाप भी सर्वथा निम्न श्रेणी का हो सो बात नहीं। भोजन-विषयक वार्ता यद्यपि उच्चस्तर की तो नहीं हो सकती पर वैसी तुच्छ भी नहीं है जैसी वेणीसंहार के तृतीय अङ्क के प्रवेशक में राक्षस और राक्षसी करते हैं। प्रवेशक का यह (वेणीसंहार, तृतीय अङ्क) बहुत ही अच्छा उदाहरण है। पद्मावती का उदयन से विवाह हो गया है पर अभी तक उदयन वहीं मगध में ठहरा हुआ है और वहाँ उसका खूब आदर-सत्कार हो रहा है। इस कथाभाग की सूचना इस प्रवेशक द्वारा दी गई है। इसे मिश्रविष्कम्भक कहा जाय तो सम्भवतः अधिक उपयुक्त होगा।

हला—नाटक में सखी के लिए सम्बोधन। "**हंडे हंजे हलाह्वाने नीचां चेटीं सखीं प्रति**" इत्यमरः। नीच को पुकारने के लिए हंडे, चेटी को पुकारने के लिए हंजे और सखी को पुकारने के लिए हला शब्द का प्रयोग होता है। "**हलधातो-र्बाहुलकादाप्रत्ययः। हला शब्दष्टाबन्तोऽपि सखीपर्यायः। तत्र पचाद्यच्।** अमरकोश टीका, महेश्वर।

शेफालिकागुल्मकाः—शेरते शेफाः भ्रमराः यस्यां सा शेफालिका तस्याः गुल्मकाः (ष० तत्) गुल्म + कन् स्वार्थे, स्तवकाः। शेफलिका के गुच्छे। जिसमें भँवरे मस्त होकर सोते हैं वह लता। शेफाः शयनशालिनः अलयो भ्रमराः यत्र (कप् टाप्)। भाषा में इसे हारसिंगार कहते हैं। इसकी गन्ध बड़ी मनभावनी होती है

और प्रीति दोनों को कामदेव की पत्नियाँ कहा गया है। कामदेव इन्द्रसभा के सदस्य हैं। उर्वशी, रम्भा, मेनका आदि अप्सराएँ काम की विजय के साधन हैं। ये अप्सराएँ कामोद्दीपक स्त्रीसौन्दर्य की प्रतीक हैं। फूलों का बना इसका धनुष है और रक्त-कमल, अशोक, आम्रमञ्जरी, नवमल्लिका तथा नीलोत्पल इसके पाँच बाण हैं। सम्मोहन, उन्मादन, शोषण, तापन और स्तम्भन को भी पाँच बाण कहा जाता है। ये सब वस्तुएँ हृदयस्थ रागात्मक वृत्ति को बढ़ाने वाली अथवा बढ़ी हुई रागात्मक वृत्ति के परिणाम हैं। इसी कारण इन्हें काम के अस्त्र कहा गया है। उदयन का कहना है कि उज्जयिनी में वासवदत्ता के कारण कामदेव ने मुझ पर पाँचों बाण छोड़ दिये थे। अर्थात् मैं सर्वांगीण रूप से वासवदत्ता को प्यार करने लगा था, और आज भी उसी तरह से उसे प्यार करता हूँ। उसमें कुछ भी कमी नहीं आई है। अर्थात् पाँचों बाण आज भी जैसे के तैसे हृदय में गड़े हुए हैं। ऐसा होने पर भी आज फिर पद्मावती के प्रति मेरे मन में प्रेम-भाव का उदय हुआ है। कामदेव के पास जब हैं ही पाँच बाण तो यह छठा बाण कहाँ से आया? पद्य से, वासवदत्ता के प्रति अब भी उदयन का पूरा प्रेम है, यह ध्वनित होता है। साथ ही पता चलता है कि उदयन के हृदय में पद्मावती के प्रति भी प्रेम का उदय हो रहा है। प्रेम के विषय में अधिक अथवा कम शब्दों का प्रयोग तो सम्भवतः नहीं किया जा सकता, पर इस अङ्क का यही विषय है कि उदयन का दोनों के प्रति कितना-कितना प्रेम है। इस टेढ़े प्रश्न का उत्तर भास ने कितना काव्यानुरूप दिया है यही इस अङ्क में दर्शनीय है। इसी की एक झलक यहाँ इस पद्य में दिखाई दे रही है। रत्नावली में भी इसी प्रकार का भाव श्रीहर्ष ने प्रस्तुत किया है (अङ्क ३, पद्य ३)।

पृ० ४६—शरत्काल०—शरत्काल का होना पहले निर्दिष्ट फूलों से भी ज्ञात होता है। बन्धुजीव और हारसिंगार के फूल शरद्-समय में ही अपनी छटा दिखाते हैं।

प्रसादितबलदेव०—प्रसादितौ यौ बलदेवस्य बाहू, तद्वद्दर्शनीयाम्। यहाँ **प्रसादित, प्रसाधित** और **प्रसारित** तीनों पाठ मिलते है। अर्थ क्रमशः स्वच्छ (धवल), अलङ्कृत और फैलाये हुए होगा। यद्यपि बलरामजी की भुजाओं की अपेक्षा कहीं अधिक अच्छे और अनेक उपमान सारसपंक्ति के लिए हो सकते थे, तथापि भास ने बलराम जी के प्रति भक्ति के कारण ऐसा किया है। प्रथम पद्य में भी भास ने इन्हीं बलराम की भुजाओं से सबका संरक्षण माँगा है। **समाहितम्**—(क्रिया-विशेषण) एक क्रम से जाती हुई। सारस-पंक्ति की यह विशेषता है।

पद्य २—**ऋज्वायताम्०**—उड़ती हुई सारस-पंक्ति कभी सीधी और चौड़ाई में फैली हुई, रेखा सी बन जाती है। कभी विरल—एकदम पतली हो जाती है। यहाँ **विरल** शब्द को 'आयताम्' के सान्निध्य के कारण 'चौड़ी' का विरोधी समझना चाहिए। कभी पंक्ति चौड़ी (फैली हुई) होती है और कभी एकदम पतली रेखामात्र

अन्यत्र भी इसी प्रकार हुआ है—"अहो अतिदारुणता शरदातपस्य" (श्रीहर्ष प्रियदर्शिका)। "अधिकं खलु शरदातपेन संतप्तान्यद्यापि मेऽङ्गानि" (प्रियदर्शिका)। "शरदातपजनितोऽयं मे सन्तापोऽधिकतरं वाधते" (नागानन्द)।

मधुकरपरिनिलीनाम्— (मधुपानार्थं) परिनिलीनाः मधुकराः यस्यां सा। (परि+नि+ली+क्त) व्याप्त। यहाँ 'परिनिलीनमधुकराम्' ऐसा पाठ भी हो सकता है। 'आहिताग्न्यादि' श्रेणी के समास में विशेषण को विकल्प से बाद में भी रखा जा सकता है। चेटी को यह युक्ति सूझी है, उस का विचार है कि इस लता को हिलाने से भौंरे उड़ेंगे और इस से उदयन और वसन्तक इस लतामण्डप में नहीं आयेंगे।

अविधा अविधा—प्राकृत में 'अविहा' है। 'सहायता करो' 'सहायता करो' इस भाव को प्रकट करने के लिए इस अव्यय का प्रयोग किया जाता है।

दास्याः पुत्रैः—"पुत्रोऽन्यतरस्याम्" ६-३-२२ से यहाँ षष्ठी का अलुक् हुआ है। दासी के वेटे, यह गाली है। विदूषक जिसे पसन्द नहीं करता उसे प्रायः इस प्रकार सम्वोधन करता है। यहाँ वह मधुकरों को भी अपनी स्वाभाविक गाली दे रहा है।

पद्य ३—मधुमदकला० उपगूढाः—(उप+गुह+क्त) **मधुकराः** का विशेषण। **कान्ता** (कम्+क्त+टाप्) प्रिया। कान्ता का मुख्यार्थ प्रेयसी होता है। 'पत्नी' इसका प्रचलित अर्थ है। इस पद्य में ध्यान देने योग्य वात इस शब्द का प्रयोग है। उदयन का पद्मावती से विवाह हो चुका है। अव वह पत्नी-वियुक्त नहीं है। पर पद्मावती उसकी भार्या है, पत्नी है। वासवदत्ता कान्ता थी। उसके मरने पर पत्नी के स्थान को तो पद्मावती ने ले लिया पर 'कान्ता' का स्थान अभी रिक्त ही है। कहीं मेरी तरह भौंरे भी अपनी कान्तओं से वियुक्त न हो जायें इसलिए वह विदूषक को भौंरों को डराने से रोकता है। उदयन की यह कोमल भावना उसके धीरललितत्व एवं सानुक्रोशत्व के अनुरूप ही है। यहाँ मुख्य रूप से जिस विवेचन के लिए इस अङ्क को भास ने लिखा है, उसका उत्तर भी दे दिया गया है। "**षष्ठः शरः पातितः**" (पृ० ४४) पद्य में भी इसी वात का उत्तर दिया गया था। मुख्य प्रश्न है, उदयन किसको अधिक प्यार करता है? इन दोनों पद्यों में उत्तर दिया है। पद्मावती के प्रति उदयन में प्रेम-भाव का उदय हो गया है। पर वह है पत्नी ही। वासवदत्ता अभी तक भी कान्ता का स्थान लिए हुए है। आगे विदूषक सीधा प्रश्न करके इसी वात को उदयन के मुँह से अभिधा में कहलवाता है। पद्य में उपमालङ्कार है।

पृ० ५०—**आसिष्यावहे**—(**आस्+इट्+स्य+वहे**)।

पद्य—पहले विदूषक ने चुने हुए शेफालिका के फूलों से **इमानवचितकुसुमान्** ......**प्रेक्षताम्** (पृ० ५०) पद्मावती के वहाँ से जाने का अनुमान लगा कर अपनी

बुद्धिमत्ता का परिचय दिया था। अब राजा पैरों से रौंदे हुए फूलों को देखकर और गरम शिलातल को अनुभव करके निश्चयपूर्वक कहता है कि कोई यहाँ से अभी-अभी उठ कर चली गई है। प्रमदवन होने के कारण, जाने वाली स्त्री ही हो सकती थी, पुरुष नहीं। यह शिलातल छाया में था। इससे पहले धूप की गरमी को अनुभव करके ही विदूषक और उदयन यहाँ बैठने के लिए आये थे। लतागृह में, भौंरे कहीं डर न जायें, इसलिए उन्होंने जाना स्थगित किया था। शिलातल के छाया में होने पर ही उसपर किसी के बैठने की गरमी को अनुभव किया जा सकता है।

यह पद्य स्वप्नवासवदत्त की पांडुलिपि में नहीं मिलता। रामचन्द्र-निर्मित नाट्यदर्पण से उद्धृत किया गया है। "यथा भासकृते स्वप्नवासवदत्ते शेफालिका-मण्डपशिलातलमवलोक्य वत्सराज......।"

साश्रुपाता खल्वार्यायाः—अपने प्रिय उदयन से बिछुड़ने के बाद वासवदत्ता प्रथम बार उन्हें अपनी आँख से देखती है। माधवीलतामण्डप के भीतर से वासवदत्ता उदयन एवं विदूपक को सरलता से देख रही है। हाँ, ये स्त्रियाँ स्वयं बाहर वालों को दिखाई नहीं पड़ रही हैं, क्योंकि बाहर वालों का इस ओर ध्यान नहीं है। दूसरे, ये इस प्रकार छिपकर भीतर खड़ी हैं कि बाहर से दिखाई न दें। यहाँ भास की नाट्यकला के विषय में कुछ बातें द्रष्टव्य हैं—

(१) प्रमदवन पद्मावती का है। आर्यपुत्र भले ही उसके पति हो गए हैं फिर भी वे यहाँ अतिथि के रूप में हैं। उन्हें देखकर पहली चिन्ता पद्मावती को उनके बैठने के विषय में होती है। शिलातल पर बैठ जाने पर वह आश्वस्त होती है।

(२) वासवदत्ता अब तक अधीरता से जहाँ भी अवसर मिलता था उदयन का कुशल-क्षेम पूछती थी। सर्वप्रथम ब्रह्मचारी के मुँह से उसने सुना था कि उसके विरह में उदयन की बहुत बुरी दशा हो गई है। उसके बाद लगातार उदयन का कुशल-समाचार ही उसे मिलता रहा है। परन्तु "अतिस्नेहः पापाशङ्की" (शाकुन्तल) जबतक वह अपने प्रियतम को स्वयं अपनी आँख से न देख ले तब तक उसकी अधीरता समाप्त नहीं होती। यहाँ उदयन को देखना पूर्वनियोजित नहीं है, एक संयोगमात्र है। फिर भी अपने उदयन को स्वस्थ देखकर उसकी आँखें भर आई हैं। अधिक प्रसन्नता की अभिव्यक्ति में आँख जितनी समर्थ है उतना शरीर का और कोई भी अंग नहीं। वासवदत्ता की आँखें आँसुओं से इस प्रसन्नता को अभिव्यक्त करती हैं। वास्तव में प्रिय को देखने से जो प्रसन्नता होती है उसकी पृष्ठभूमि में सारा विरह एवं वियोग प्रबल रूप में उपस्थित रहता है। सुख-दुःख की यह मिश्रित अनुभूति ही आँखों से आँसुओं के रूप में वह निकलती है। यही स्थिति यहाँ वासवदत्ता क है। इसी प्रकार आँसुओं से उसकी आँखें डबडबा आई हैं।

(३) लगभग इसी प्रकार के आँसू थोड़ी ही देर मे उदयन की आँखों में भी

देखने को मिलेंगे। उदयन और वासवदत्ता दोनों ही वास्तविकता को छिपाने के लिए 'काशकुसुमधूलि' को आँसुओं का कारण बताते हैं। विरह में दोनों की हृदय-स्थिति किस प्रकार एकाकार हुई है यह कितने नाटकीय ढंग से भास ने प्रकट कर दिया है। भास की यह स्वाभाविकता सचमुच प्रशंसा के योग्य है। यहाँ फिर वासवदत्ता बिगड़ती बात को अपने चातुर्य से बना लेती है। पद्मावती उसके बताये अश्रु-कारण को युक्ति-संगत समझती है, युज्यते।

(४) दासी ने भौरों की डाल को हिलाया था। इससे भास ने अनेक प्रयोजन सिद्ध किये हैं (क) वसन्तक एवं उदयन लतामण्डप में नहीं आये, बाहर ही बैठ गए। भौरों को विक्षुब्ध करने का यह एक स्थूल उद्देश्य था। (ख) उदयन को भौंरों के साम्य से वासवदत्ता के प्रति अपने स्थिर प्रेम की अभिव्यक्ति का अवसर मिल गया। (ग) वासवदत्ता को, आँखों में आये आँसुओं के वास्तविक कारण को छिपाने का अवसर मिल गया।

काशकुसुमरेणु—काशपुष्प की धूलि या पराग। काशपुष्प सफेद रंग का होता है। शरद्ऋतु के आरम्भ में इसमें फूल आते हैं। जरा हिलने से या हाथ लगाने से फूल का सारा भाग झड़ जाता है। इसका पेड़ नहीं होता, झाड़ी सी होती है। झूण्ड, काँस और डाभ लगभग एक ही श्रेणी की झुण्ड में उगने वाली झाड़ियाँ हैं। संस्कृत का 'काश' सम्भवतः यही 'काँस' है। यह आकार में झूण्ड से छोटा और डाभ से बड़ा होता है। जड़ से ऊपर यह लम्बे पतले और तेज धार वाले पत्ते के ही स्वरूप में होता है। इसके पत्ते को वस्तुतः पत्ता न कहकर 'पाना' कहते हैं। मध्य-भाग में एक लम्बा सरकण्डा इसमें से निकल आता है। इसके ऊपर सफेद झण्डा सा होता है। इसे सम्भवतः फूल नहीं कहा जा सकता परन्तु सूखने पर जरा से हवा के झोंके से या किसी प्रकार हिलाया जाने पर झण्डे का 'बुर' सा झड़ जाता है। हल्का होने के कारण हवा इसे दूर तक उड़ा ले जाती है। यदि आँख में पड़ जाय तो खूब काटता है और सचमुच उस में से खूब पानी बह निकलेगा। इसमें न कोई गन्ध होती है और न ही कोई रस; भौंरे का इससे सम्बन्ध केवल साहित्यिक (कवि-प्रौढ़ोक्ति सिद्ध) ही है।

यादृशे सङ्कटे—वाक्य पूरा नहीं है। 'यादृशे' के साथ 'तादृशे' का संबंध है।

पृ० ५२—एतावता भणितम्—न कहकर भी उदयन ने वास्तविकता प्रकट कर दी। वासवदत्ता को अधिक और पद्मावती को कम, इस बात को स्पष्ट रूप से अभिधा में कहना वर्तमान परिस्थिति में उदयन के लिए कठिन है। अतः उसका मौन ही इस बात को कह रहा है। क्योंकि 'पद्मावती को अधिक प्रेम करता हूँ' यह कहने में उसे कोई कठिनाई नहीं है। अवान्तर रूप से यहाँ तीसरी बार वह अपन बातकह रहा है।

माधुर्य—वर्ताव की मधुरता, अथवा समग्ररूप में आकर्षक व्यक्तित्व। तुलना कीजिए **अहो मधुरमासां दर्शनम्**" शाकुन्तल प्रथम अङ्क। **रूपं च शीलं च माधुर्यञ्च तैः** (हेतौ तृतीया)। "शीलं स्वभावे सद्वृत्ते" इत्यमरः। **मम**—"क्तस्य च वर्तमाने" से कर्ता में षष्ठी। **बहुमता**—बहु + मन् + क्त. यहाँ "**मतिबुद्धिपूजार्थेभ्यश्च**" से पूजा-अर्थ में वर्तमान काल में 'क्त' हुआ है।

दत्तं वेतनमस्य परिखेदस्य—जीते-जी पति का विरह, सेवकों द्वारा उत्सारणा, पद्मावती के पास धरोहर-रूप में रहते हुए आँखों के सामने पति का दूसरा विवाह, चुपचाप सब कुछ सहना, इत्यादि सारे कष्ट एक ओर और पति द्वारा स्पष्ट शब्दों में की गई प्रशंसा एक ओर। उदयन द्वारा, तुलना का प्रसंग आने पर, अपने प्रति प्रकट किये गए इस प्रेम के सामने वासवदत्ता अपने सब कष्टों को नगण्य समझती है। पति-प्रेम से बढ़कर और कोई सुख शायद स्त्री के लिए नहीं है। वासवदत्ता यहाँ अपने अज्ञातवास को भी अच्छा समझती है। अज्ञातवास न होता तो पीठ-पीछे इतनी प्रशंसा भला वह कैसे सुन सकती थी। उदयन समझता है कि वासवदत्ता मर गई है। अतः उसकी प्रशंसा और भी अधिक अर्थपूर्ण हो जाती है। यह प्रशंसा वासवदत्ता को प्रसन्न करने के लिए या बहलाने के लिए नहीं की गई है, यह वास्तविक है।

सदाक्षिण्यः "अनेकमहिलासमरागो दक्षिणः कथितः" (सा० ३-३५)—अनेक नायिकाओं से समान प्रेम करने वाला नायक 'दक्षिण नायक' कहलाता है। **दाक्षिण्य** (दक्षिण + ष्यञ्) का शब्दार्थ नम्रता, कृपालुता, शिष्टाचारिता है। "**परच्छन्दानुवर्तित्वं दाक्षिण्यमभिधीयते**" दूसरे की इच्छानुसार व्यवहार करने वाले व्यक्ति को भी दक्षिण कहेंगे। रघुवंश की, दिलीप की पत्नी अपने इसी गुण के कारण सुदक्षिणा थी "**तस्य दाक्षिण्यरूढेन नाम्ना मगधवंशजा। पत्नी सुदक्षिणेत्यासीदध्वरस्येव दक्षिणा**" रघुवंश १-३१। **दाक्षिण्यं परच्छन्दानुवर्तनम्** "**दक्षिणः सरलोदारपरच्छन्दानुवर्तिषु**" इति शाश्वतः (मल्लिनाथ)। चेटी उदयन की वासवदत्ता के प्रति प्रेम-अभिव्यक्ति को अनुचित बताती है। इस पर पद्मावती उदयन के इस रूप की भी व्याख्यान्तर से प्रशंसा ही करती है। उसका कहना है कि जो व्यक्ति मृत पत्नी की भी इतनी प्रशंसा करता है, उसके गुणों को अब भी स्मरण करता है, यह उसकी अशिष्टता नहीं, वरन् अत्यधिक शिष्टाचारिता एवं कृपालुता है। इस प्रसंग में पद्मावती का यह उत्तर अत्यन्त शिष्ट एवं उसके ऊँचे कुल के अनुरूप है। अगली पंक्ति में वासवदत्ता भी इस बात को कहती है "**अभिजनस्य सदृशं मन्त्रितम्।**"

पृ० ५४—**विप्रलपितेन**—(वि + प्र + लप् + क्त) **विप्रलपितम् तेन**। "**गम्यमानक्रियायोगेऽपि०**" इस व्याख्यात्मक पंक्ति के अनुसार यहाँ करण में तृतीया है। विदूषक का अभिप्राय यह है कि आप राजा हैं, पद्मावती और वासवदत्ता दोनों आपकी पत्नियाँ हैं, अतः आपका कम या अधिक प्रेम अर्थपूर्ण है। मेरी स्थिति भिन्न है।

है। उदयन-वासवदत्ता का प्रेम रमणीय था। न केवल वे दोनों एक-दूसरे को बहुत चाहने से प्रसन्न थे वरन् आस-पास का सारा वातावरण इस प्रेम से सुवासित था। इस रमणीय कथाप्रसङ्ग को क्रूर विधि ने वासवदत्ता के प्राण लेकर अन्यथा कर दिया। अब वही मुस्कराता हुआ वातावरण रोता हुआ सा लगता है। प्रथम अङ्क में ब्रह्मचारी ने भी कहा था "अरमणीयः संवृत्तः स ग्रामः (पृ० २२)। **विसंवादितः**—वि+सम्+वद्+णिच्+क्त।

पृ० ५६—**विश्वस्तास्मि**—वासवदत्ता यद्यपि इसी प्रसङ्ग में चार बार अपने प्रति उदयन के प्रेम को, अपने कानों से सुन चुकी है। फिर भी इस प्रसंग के अन्त में उदयन द्वारा प्रकट किये गए विषाद से, हृदय की गहराई से निकली उसकी आह से, वासवदत्ता को प्रेम का पूरा-पूरा विश्वास हो जाता है। पहले उसे अविश्वास था ऐसा भाव नहीं है इसे "**अतिस्नेहः पापशङ्की**" (शाकु०) की भावना से ही समझना चाहिए। शाकुन्तल का दुष्यन्त भी शकुन्तला के स्वविषयक प्रेम को निश्चित रूप से जानने के बाद कहता है "**संशयच्छेदि वचनम्**" (तृतीय अङ्क)। **प्रियं नाम**—पीठ पीछे, विशेषतः मृत्यु के बाद, अपनी प्रशंसा सुनना बहुत ही अच्छा होता है, क्योंकि यह प्रशंसा वास्तविक होती है। इसमें किसी प्रकार का दबाव या स्वार्थ नहीं होता।

अनतिक्रमणीयः—न अतिक्रमणीयः इति अनतिक्रमणीयः। 'नञ्' का 'अ' शेष रहता है फिर "**तस्मान्नुडचि**" से 'नुट्' का आगम होता है। अतिक्रम न किये जाने योग्य। अपने वश के बाहर। **धारयतु**—(धृ+णिच्+तु लोट्), आवेग में द्विरुक्ति है। विदूषक का मुख्य कार्य उदयन को सान्त्वना देना ही है। प्रायः नाटकों में इसका मुख्य कार्य नाटक के प्रेमप्रसङ्ग में सहायता करना होता है। किन्तु इस नाटक में उदयन को वासवदत्ता के दुःख से बचाये रखना उसका कार्य है। इसी कर्तव्य का पालन यहाँ साक्षात् रूप में विदूषक कर रहा है।

पद्य ६—दुःखं त्यक्तुं बद्ध०—इसकी व्याख्या व्याकरण की दृष्टि से इस प्रकार करनी चाहिए **बद्धमूलोऽनुरागः, दुःखं त्यक्तुम् (शक्यः)**। **त्यक्तुम्** (त्यज्+तुमुन्) में '**तुमुन्**'प्रत्यय क्रियार्थक क्रिया न होने के कारण सामान्य सूत्र "**तुमुन्ण्वुलौ क्रियायां क्रियार्थायाम्**" से नहीं हो सकता। "**शकधृष०**" (३-४-६५) इस सूत्र से तुमुन् करने के लिए '**शक्यः**' का अध्याहार अवश्य करना होगा। वाक्य कर्मवाच्य में है। कर्म का अभिधान '**शक्यः**' के कृत् प्रत्यय से हो रहा है "**अभिधानञ्च प्रायेण तिङ्कृत्तद्धित-समासैश्च**" सि० कौ०। पूरा वाक्य (कर्मवाच्य में) इस प्रकार होगा "**जनेन बद्ध-मूलोऽनुरागः दुःखं (क्रियाविशेषण) यथा स्यात्तथा त्यक्तुं शक्यः**।" इसीको कर्तृवाच्य में इस प्रकार कहेंगे—"**जनः बद्धमूलमनुरागं दुःखं त्यक्तुं शक्नोति।**" कुछ विद्वानों ने "**विषवृक्षोऽपि संवर्ध्य स्वयं छेत्तुमसाम्प्रतम्**" के अनुसार इस वाक्य की व्याख्या की है। **विषवृक्षोऽपि०** इस वाक्य में "**क्वचिन्निपातेनाभिधानम्**" कह कर भट्टोजि-

दीक्षित ने 'असाम्प्रतम्' निपात से वृक्ष के कर्मत्व का अभिधान माना है। उसी प्रकार यहाँ भी अनुराग के कर्मत्व का अभिधान "दुःखम्" से करना होगा। अन्वय इस प्रकार होगा—**बद्धमूलोऽनुरागः त्यक्तुं दुःखम्** । वस्तुतः भट्टोजिदीक्षित-कृत **विषवृक्षोऽपि०** वाक्य की व्याख्या और "**क्वचिन्निपातेन०**" यह पंक्ति दोनों ही तर्कसंगत नहीं हैं। क्योंकि यहाँ कर्मत्व का अभिधान अवश्य अध्याहार्य **शक्यः** के 'यत्' प्रत्यय से हो रहा है। निपात से कारक के अभिधान की आवश्यकता तभी हो सकती है जब वह अनभिहित रह जाय। प्रस्तुत पद्य की एतदनुसारी व्याख्या उपयुक्त नहीं है। '**त्यक्तुम्**' के स्थान पर '**त्यक्तम्**' भी पाठ मिलता है। इस पाठ के साथ व्याख्या भिन्न होगी। **त्यक्तम्** (त्यज्+क्त) क्त-प्रत्ययान्त रूप है। वाक्य का अन्वय इस प्रकार होगा **(मया उदयनेन) दुःखं (वासवदत्ताविषयकम्) त्यक्तम्, (किन्तु) अनुरागः बद्धमूलो (भवति)**। इस पाठ में रचना स्पष्ट है। इसका कर्तृवाच्य इस प्रकार बनेगा "**अहं दुःखं त्यक्तवान्**"। भाव इस प्रकार होगा कि मैंने वासवदत्ता-विषयक बाह्य दुःख छोड़ दिया है। विधि की अनतिक्रमणीयता समझ कर मैंने धैर्य धारण कर लिया है किन्तु अनुराग की जड़ हृदय में पक्की होती है, उसे कैसे हृदय से निकाला जा सकता है। यह व्याख्या दूसरे अङ्क में उदयन के लिए धाय द्वारा कहे गए "**आगमप्रधानानि सुलभपर्यवस्थानानि महापुरुषहृदयानि भवन्ति**" (पृ० ३०) के भी अनुकूल है।

द्वितीय चरण में अधिक कठिनाई नहीं है। **स्मृत्वा-स्मृत्वा** में "**नित्यवीप्सयोः**" से द्वित्व है। क्योंकि अनुराग बद्धमूल होता है अथवा बद्धमूल अनुराग को त्यागना कठिन होता है, अतः (प्रियजन को अथवा तद्विषयक अनुराग को) याद कर-करके दुःख नया हो जाता है। प्रेम-विषयक दुःख को स्मृति सींचती रहती है। ज्यों-ज्यों याद किया जाता है वह नया-नया होता है। प्रस्तुत कथा-प्रसङ्ग से उदयन को वासवदत्ता फिर से याद आ गई है और उसका दुःख नया हो गया है; अतः विधि की अनतिक्रमणीयता समझ कर भी धैर्य धारण करना कठिन है। अपनी इसी अवस्था को उदयन विदूषक से स्पष्ट कर रहा है।

यात्रा "यात्रा तु यापनेऽपि स्यात् गमनोत्सवयोः स्त्रियाम्"इति मेदिनी। लोक-व्यवहार। लक्षणा से इसका अर्थ संसार की रीति होगा। लोक-चलन ऐसा है कि यहाँ व्यक्ति आँसू बहा कर अपने प्रिय के प्रेम से कुछ उऋ॑ण सा हो जाता है। ऋण चुका देने पर बुद्धि में प्रसन्नता होती है। व्यक्ति ऋण से मुक्त होकर अपने को हल्का समझता है। ठीक इसी प्रकार प्रिय के वियोग में भी यदि आँसू बहा लिये जाएँ तो दुःख कुछ हल्का हो जाता है, मानो आँसुओं के बहाने दुःख ही बाहर निकल आया हो। दुःख यदि अन्दर रुक जाय तो उसकी घुटन का भयङ्कर दुष्परिणाम हो सकता है। भास ने इसी भाव को यहाँ प्रकट किया है। **विमुच्येह—'इह जगति बाष्पं विमुच्य'** इस प्रकार अन्वय होगा। इसका कर्ता '**बुद्धि**' पद है। '**विमुच्येत**' पाठ होने पर तृतीय चरण स्वयं में ही पूर्ण हो जायगा '**यात्रा तु एषा यद् बाष्पं**

विमुच्येत' यहाँ इसके कर्ता **प्रियेण** का अध्याहार करना होगा। **प्राप्तानृण्या— प्राप्तमानृण्यं यया सा,** बुद्धि का विशेषण। **अविद्यमानं ऋणमस्य इति अनृणः,** जिस पर ऋण न हो, **तस्य भावः आनृण्यम्** (अनृण+ष्यञ्)। **प्रसादम्**—(प्र+सद्+घञ्) प्रसन्नता, शान्ति, उद्वेगराहित्य। पद्य में दो तथ्यों का उद्घाटन किया गया है (क) याद करने से दुःख नया होता है, पर याद न कर सकना अपने वश में नहीं होता। यह स्वाभाविक है, ऐसा होता ही है। (ख) दुःख कम करने का लोक-व्यवहारानुरूप एक ही उपाय है—आँसू बहाना। इस प्रकार उदयन का वासवदत्ता को याद करना और आँसू बहाना अत्यन्त स्वाभाविक एवं तर्कसंगत है। तुलना कीजिए **"शोकक्षोभे च हृदयं प्रलापैरेव धार्यते"** उत्तररामचरित ३-२९।

वाष्पाकुलपटान्तरितम्—वाष्पैः आकुलमिति वाष्पाकुलम् (तृतीया तत्०) **तदेव पटलमाच्छादनम् तेन, अथवा पटलं समूहस्तेन अन्तरितं व्याप्तम्। "छदिर्नेत्ररुजोः क्लीवं समूहे पटलं न ना"** इत्यमरः। उदयन की आँखों पर आँसुओं का आवरण आ गया है अतः वे ठीक से देख नहीं सकेंगे और विदूषक मुँह धोने के लिए जल लाने गया है। अतः पद्मावती बाहर निकलने के लिए इसे ठीक अवसर समझ रही है।

अहमेव गमिष्यामि—पद्मावती वासवदत्ता के कारण ही वहाँ छिपी थी अन्यथा वह आर्यपुत्र का स्वागत करने के लिए ही वहाँ आयी थी। वासवदत्ता आर्य-पुत्र के कष्ट को देखकर प्रस्ताव करती है कि मैं चली जाती हूँ तुम आर्यपुत्र को धीरज बँधाओ। यद्यपि वासवदत्ता यहाँ से हृदय पर पत्थर रख कर ही जा सकेगी तो भी आर्यपुत्र को सान्त्वना मिले इस उद्देश्य से वह जाने को तैयार है। पद-पद पर होने वाले ये त्याग उसके मूल त्याग की पृष्ठभूमि में यद्यपि बहुत अल्प हैं, फिर भी त्याग कह कर उसकी प्रशंसा तो की ही जानी चाहिए।

पृ० ५८—अहो सदाक्षिण्यस्य जनस्य०—उदयन की आँखों में आँसुओं का कारण वासवदत्ता की याद थी। यह सत्य बात पद्मावती के दिल को चोट पहुँचा सकती थी। यद्यपि हम जानते हैं कि पद्मावती ने इस प्रसंग में अपने हृदय की विशालता का परिचय दिया है। वास्तविकता उससे छिपी नहीं है। पर विदूषक यह सब नहीं जानता है। वह सामान्य स्त्री-स्वभाव से परिचित है। यही सोच कर वह बात बदलता है। बात बनाते समय आरम्भ में कुछ लड़खड़ा कर वह अपने विदूषकत्व को बनाये रखता है। बाद में आँसुओं का उचित कारण प्रस्तुत करते हुए अपनी बुद्धि-मत्ता का परिचय देता है। इस प्रसंग का यह नाटकीय संयोग भी ध्यान देने योग्य है कि वासवदत्ता को भी बात छिपाने के लिए काश-कुसुमों की सहायता लेनी पड़ी थी, और यहाँ विदूषक को भी (उदयन की ओर से)। पद्मावती यहाँ फिर अपनी उदारता एवं समझ का परिचय देती है। विदूषक झूठ बोल कर उसे ठग रहा है ऐसा न समझ कर वह इसे अच्छे अर्थ में लेती है। दाक्षिण्य-गुण से युक्त जन का परिजन भी दाक्षिण्य-युक्त ही होता है।

सामग्री है। उदयन इसी दृष्टि से उसे 'भामिनि' संबोधित करता है। यह दूसरी बात है कि पद्मावती के चरित्र को भास ने बहुत ऊँचा बना कर रखा है। इतना ऊंचा कि सन्देह होने लगता है कि वह मनुष्यलोक की है या कल्पना मात्र। ईर्ष्या का लेश मात्र भी न तो पद्मावती में कहीं दिखाई पड़ता है और न वासवदत्ता में ही उसकी गन्ध आती है। स्वप्नवासवदत्त को पढ़कर कई बार लगता है 'भला ऐसा भी सम्भव है।' प्रेम में ईर्ष्या न हो तो वह प्रेम ही कैसा? क्योंकि प्रेम का मनोवैज्ञानिक आधार सम्भवतः ईर्ष्या ही है।

पद्य ८—**इयं बाला**—पद्मावती का नया-नया विवाह हुआ है। इस अवस्था में हृदय और शरीर दोनों की कोमलता को अभिव्यक्त करने के लिए 'बाला' शब्द बहुत सशक्त है। वास्तविक जगत् की अपेक्षा हमारा काल्पनिक संसार बहुत ही कोमल और सुन्दर होता है। दाम्पत्य जीवन अभी तक पद्मावती के लिए काल्पनिक जीवन था। जब लड़की किशोर-अवस्था से यौवन की दहलीज पर पैर रखती है तभी से वह अपनी कल्पना की एक दुनिया का निर्माण आरम्भ करती है। यह कल्पना-जगत् बहुत ही कोमल और सुन्दर होता है। इसका सारा आधार भावी जीवन में होने वाला उसका पति-प्रेम ही होता है। यदि इस पति-प्रेम में ही कहीं दरार आ जाय तो इस कल्पना-प्रासाद को गिरते समय नहीं लगता। इसी दृष्टि से उदयन कहता है "**इयं बाला नवोद्वाहा**" उदयन स्वयं पद्मावती के विवेक एवं धैर्य के विषय में जानता है। पद्मावती के हृदय की विशालता का वह ठीक से अनुमान करता है, पर जिस मिट्टी की पद्मावती बनी है उसका सामान्य गुण तो उसमें आयेगा ही। **कामं धीर...स्त्री-स्वभावस्तु कातरः**। **कातरा** (ईषत् तरति स्वं कार्यं कर्तुं शक्नोति) कु+तृ+अच् +टाप्। 'कु' को '**का**' आदेश होकर 'कातर' शब्द निष्पन्न होगा। 'कातर' का अर्थ है '**भीरु**'। जरा-सी बात से परेशान होकर घबरा जाने या विकल हो जाने को कातर कहेंगे। स्त्रियों के स्वभाव का यह विशेष गुण है। बौद्धिक एवं शारीरिक दृष्टि से कोमल होने के कारण वे जरा-सी बात से विकल हो उठती हैं। पद्मावती के इसी स्त्री-प्रसिद्ध स्वभाव का उदयन ने उल्लेख किया है। यद्यपि दर्शक अच्छी तरह से समझ रहे हैं कि पद्मावती स्त्री होने पर भी कातर न होकर धैर्यशालिनी है। पद्मावती को वास्तविकता का पता है पर वह उद्विग्न नहीं हुई है। उदयन से उसका प्यार कम है यह भी नहीं कहा जा सकता। "**आर्यपुत्रविरहिता उत्कण्ठिता भवामि**" उसके हृदय से निकला हुआ वाक्य था, बनावटी नहीं। पद्मावती के इस उच्च चरित्र-चित्रण में भास अत्यन्त सफल रहा है।

पद्य के पूर्वार्द्ध में **बाला** और **नवोद्वाहा** दोनों विशेषणों के साभिप्राय होने के कारण परिकर अलङ्कार है। "**उक्तैर्विशेषणैः साभिप्रायैः परिकरो मतः**" सा० दर्पण १०-५७। **सत्यं श्रुत्वा व्यथां व्रजेत्** इस विशिष्ट बात की पुष्टि **स्त्रीस्वभावस्तु कातरः** इस सामान्य से की गई है, अतः अर्थान्तरन्यास अलंकार भी यहाँ कहा जा सकता है।

उचितं तत्रभवतः—उपर्युक्त प्रसङ्ग यदि और लम्बा चलता तो शायद अनिष्ट ही होता। राजा और विदूषक शायद अधिक समय तक बात छिपाने में सफल न हो पाते। अतः अपने कर्तव्य के प्रति जागरूक रहते हुए विदूषक, उदयन को इस स्थिति से बचाने के लिए, यहाँ से चलने का प्रस्ताव करता है। प्रस्ताव अत्यन्त स्वाभाविक है अतः काम बन जाता है। उदयन, मगधराज दर्शक की बहन के पति हैं। दोनों राजपरिवारों का यह सम्बन्ध अत्यन्त घनिष्ठ है, अतः मगधराज को अपने मित्रों से उदयन (अपने बहनोई) के साथ ही मिलना चाहिए। उनसे उदयन का परिचय भी कराने की आवश्यकता हो सकती है। उस अवस्था में उदयन का वहाँ न होना अनुचित होगा। अभी-अभी विवाह हुआ है अतः चर्चा का विषय भी वर्तमान विवाह ही हो सकता है। अभ्यागत बधाई भी देना चाहेंगे। इन सब दृष्टियों से उदयन का अपने नये सम्बन्धी दर्शक के साथ बैठना अत्यन्त आवश्यक है।

अपराह्णकाले—अह्नः अपरम् (अपरो भागः) इति अपराह्णः। "अह्नोऽह्न एतेभ्यः" से 'अहन्' शब्द को 'अह्न' आदेश होता है। अपराह्णः कालः इति अपराह्णकालः (कर्मधा०) तस्मिन् अपराह्णकाले।

सत्कारो हि नाम०—सत्कार, प्रत्युत्तर में किये गए सत्कार से प्रेम को जन्म देता है; केवल एक ओर से सत्कार होने पर परस्पर प्रेम नहीं हो सकता। प्रस्तुत सन्दर्भ में पंक्ति के दो भाव हो सकते हैं—(१) अपनी बहन का विवाह उदयन के साथ करके दर्शक ने उदयन का आदर किया है। पिछले कुछ दिनों से दर्शक के यहाँ उदयन का आदर-सत्कार हो रहा है। अब प्रत्युत्तर में उदयन को भी दर्शक का आदर करना चाहिए। तीसरे पहर, दर्शक इष्ट-मित्रों से मिलने के लिए बैठा है। इस समय यदि उदयन भी उसके साथ बैठेंगे तो दर्शक को अच्छा लगेगा। मिलने आने वाले व्यक्तियों की दृष्टि में भी दर्शक ऊँचे उठेंगे। यह दर्शक से किये गए उदयन के सत्कार का, उदयन की ओर से प्रत्युत्तर होगा। इस प्रकार आदान-प्रदान से दोनों कुलों में सम्बन्ध दृढ़ से दृढ़तर होता जाएगा। (२) दर्शक से लोग मिलने आ रहे हैं। यह दर्शक का सत्कार है। प्रत्युत्तर में दर्शक भी उनका आदर करें, यह अपेक्षित है। अतः दर्शक उनसे मिलने के लिए तैयार होकर बैठे हैं। अभी नया-नया आपका और दर्शक का (पद्मावती के विवाह से) सम्बन्ध बना है। लोगों का आना इसी प्रसंग में है। अतः आपके साथ ही दर्शक उनसे मिलें, औचित्य इसी में है।

कल्पः—(कृप्+अच् अथवा घञ्) प्रस्ताव, सङ्कल्प, निश्चय, विचार। **प्रथमः**—अच्छा शानदार, औचित्यपूर्ण। **प्रथमः कल्पः**—बहुत अच्छा प्रस्ताव है। बहुत ठीक विचार है।

पद्य ९—गुणानां वा—यह पद्य ऊपर आई पंक्ति **"सत्कारो हि नाम सत्कारेण प्रतीष्टः०"** की ही व्याख्या है। ऐसे सज्जनों की संसार में कमी नहीं जो स्वयं गुणों की खान हैं और दूसरों के प्रति आदर-सम्मान का भाव रखते हैं, परन्तु उनके

पञ्चम अङ्क

पृ० ६०—कथावस्तु—पद्मावती के सिर में दर्द है। समुद्रगृह में विश्राम के लिए उसका बिस्तर बनाया गया है। एक दासी यह सूचना विदूषक को देती है और दूसरी वासवदत्ता को। उदयन वहाँ पहले पहुँच जाता है। अभी तक पद्मावती वहाँ नहीं पहुँची थी, अतः उदयन उसी बिस्तर पर लेट जाता है। विदूषक समय बिताने के लिए कहानी शुरू करता है पर राजा को नींद आती देखकर स्वयं भी अपनी चादर लेने के लिए वहाँ से चला जाता है। वासवदत्ता जब वहाँ पहुँचती है तो चादर ओढ़ कर सोये हुए उदयन को पद्मावती समझ कर सखी-प्रेमवश साथ में ही लेट जाती है। यहीं उदयन स्वप्न में बोलता है और वासवदत्ता से बातें करता है। वासवदत्ता पहले तो भेद खुल जाने से डरती है पर फिर उदयन को स्वप्न में बोलता जान कर कुछ देर और यहीं रहने का लोभ संवरण नहीं कर पाती। कुछ देर ठहरकर बिस्तर के नीचे लटके हुए उदयन के हाथ को बिस्तर पर रखकर तेजी से बाहर चली जाती है। इस स्पर्श से उदयन की नींद खुलती है; पर जब तक वह ठीक से जागे, वासवदत्ता भाग जाती है। स्वप्न में वासवदत्ता का उदयन से मिलना और उसके बाद उदयन की मनःस्थिति का चित्रण इस अंक की विशेषता है। अब तक लगातार उदयन वासवदत्ता को याद करके आहें भरता रहा है; वासवदत्ता भी भाग्य से उपस्थित सभी मानसिक कष्टों को अन्दर ही अन्दर सहती रही है। यहाँ भास ने उन दोनों को अद्‌भुत प्रकार से मिलाया है। इसी प्रसंग के आधार पर नाटक का नाम 'स्वप्नवासवदत्तम्' रखा गया है। यह प्रसंग नाटक का श्रेष्ठ भाग है।

स्थान—दर्शक का प्रासाद ही इस अंक का भी स्थल है। पिछले अंक प्रमदवन में निष्पन्न हुए हैं, यह प्रासाद के एक विशेष भाग 'समुद्रगृह' में घटित होता है।

समय—संध्या की समाप्ति और रात्रि का प्रारम्भ। अन्धकार होने से दीपक जल गए हैं। 'समुद्रगृह' में दीपक जल रहा है। द्वार पर भी दीपक का ही हल्का प्रकाश है 'दीपप्रभासूचितरूपः' (पृ० ६४) 'मन्दानिलेन निशि या परिवर्तमाना' (पृ० ६४)। सन्ध्या समाप्त हो गई है और रात अभी आरम्भ हुई है। अन्यथा रात को पद्मावती के सिर-दर्द की सूचना चेटी सब को देती हुई नहीं घूमती। सम्भवतः उदयन और विदूषक भी अधिक रात होने पर सो गए होते।

अंक की समाप्ति पर युद्ध की तैयारी के विषय में सूचना काञ्चुकीय आकर

देता है। यहाँ कुछ असंगति लगती है। रात के आरम्भ में दृश्य शुरू हुआ था। सारी घटना में आखिर कुछ समय तो लगा ही होगा। कम-से-कम एक पहर तो बीता ही होगा। इस समय, एक पहर रात गए काञ्चुकीय ने जो सूचना दी वह ऐसी भी नहीं है कि उसके लिए सुबह की प्रतीक्षा नहीं की जा सकती थी। फिर काञ्चुकीय यह सूचना देने पद्मावती और उदयन के पास समुद्रगृह में ही पहुँच जाता है, यह कुछ असंगत प्रतीत होता है।

केवलं भर्तृदारिकायाः—वासवदत्ता और पद्मावती के परस्पर अधिक प्रेम के कारण पद्मिनिका कहती है कि उसे बस सिर-दर्द के बारे में कह भर देना। वासवदत्ता को केवल सूचना की आवश्यकता है उसे बुलाने की जरूरत नहीं है।

पद्मावती के सिर में दर्द हुआ, इसकी सूचना तो अंक के प्रारम्भ में ही मिल गई। बाद में इस दर्द का क्या हुआ, कुछ पता नहीं। जहाँ उसके लिए विश्राम का प्रबन्ध किया गया था वहाँ भी उसका कुशल-क्षेम पूछने या मन बहलाने के लिए और तो सब पहुँच गए, पर वह स्वयं अन्त तक भी वहाँ नहीं पहुँची। सम्भवतः जहाँ शुरू में लेटी थी, वहीं लेटी रही होगी "**प्राणी प्राप्य रुजा पुनर्न शयनं शीघ्रं स्वयं मुञ्चति**" (पृ० ६६)। शरीर अस्वस्थ होने पर एक बार जहाँ लेट गए सो लेट गए, फिर उठने की इच्छा नहीं होती। नाटक में पद्मावती का सिरदर्द उदयन और वासवदत्ता के नाटकीय मिलन के लिए हो है। वह स्वयं में गौण है। और इसके कारण होने वाली घटना प्रमुख है। यह गौण प्रसंग, मुख्य प्रसंग को प्रस्तुत करके, समाप्त हो गया है। नाटकीय दृष्टि से यह समीचीन भी है। अपना प्रयोजन सिद्ध होने के बाद भी यदि यह सिरदर्द (या पद्मावती) बीच में कहीं आ जाता तो मुख्य-प्रसंग में व्याघात होता, और कथानक में दोष आता।

चतुर्थ अंक में जो कुछ हुआ, उसके तुरन्त बाद पद्मावती के सिर में दर्द होना चतुर्थ अंक की घटना का ही परिणाम प्रतीत होता है। पद्मावती का बहुत ऊँचा चरित्र भास ने प्रस्तुत किया है। उसके मुँह से दो बार—"**हला ! मा मैवम्। सदाक्षिण्य एवार्यपुत्रः**" (पृ० ५२), "**अहो सदाक्षिण्यस्य जनस्य परिजनोऽपि सदाक्षिण्य एव भवति**" (पृ० ५८), स्पष्टतः ऐसे वाक्य कहलाये हैं, जिनसे उसमें स्त्री-सुलभ मान (ईर्ष्या) की गन्ध भी प्रतीत न हो। किन्तु पद्मावती का उदयन से यह कैसा प्रेम है? प्रेम हो और ईर्ष्या न हो? यदि सचमुच में ऐसा है तो फिर वह **भामिनी** कैसे हुई? '**स्त्रीस्वभावस्तु कातरः**' (पृ० ५८) कहाँ यथार्थ हुआ? ऐसा प्रतीत होता है कि चौथे अंक में घटी घटना का उनके मन पर (स्मरण रहे, वह **बाला** और **नवोद्वाहा** है) गम्भीर प्रभाव पड़ा है। पर ऊपर से वह इसे अपनी शालीनता के कारण प्रकट नहीं होने देती। इसी अन्तर्द्वन्द्व का परिणाम उसका सिरदर्द है। इसके अतिरिक्त नाटक में न तो कोई और कारण बताया गया है और न किसी कारण का संकेत दिया गया है। विदूषक को जैसे पेट-दर्द हुआ था

प्रवेशकः—यहाँ भी प्रवेशक में न दोनों पात्र अधम हैं (विदूषक मध्यम श्रेणी में गिना जाता है) और न ही पद्मावती के सिर-दर्द का समाचार बहुत निम्न श्रेणी की बात है। अतः परिभाषा के अनुसार यह भी प्रवेशक न होकर मिश्रविष्कम्भक ही है।

पद्य १—पुनरागतदारभारः—'पुनः' अव्यय है। पुनः+आगतः सन्धि होकर 'पुनरागतः' बना। पुनरागतः दाराणां भारः (ष० तत्पु०) यस्मिन् सः पुनरागतदारभारः (बहु० समास)। चतुर्थ अंक में उदयन ने अपनी मनःस्थिति को प्रकट किया था। उसी भाव को यह उक्ति और अधिक स्पष्ट करती है। पद्मावती को वह भार समझता है। मन्त्रियों के कहने से और परिस्थितियों के कारण उसने विवाह भले ही कर लिया है पर उसका मन वासवदत्ता में ही अटका हुआ है। दाक्षिण्य गुणयुक्त और सानुक्रोश होने के कारण वह पद्मावती से भी प्यार करता है। पर व्यथित वासवदत्ता को याद करके ही होता है। पद्मिनीं हिमहतामिव—दुःखोपहत प्रिया की साहित्य में प्रायः हिम से मारी गई कमलिनी से तुलना की गई है। "हिमसेकविपत्तिरत्र मे नलिनी पूर्वनिदर्शनं मता" (रघु० ८-४५), अज मृत प्रिया इन्दुमती के शोक से आतुर होकर कह रहा है—कोमल वस्तु को मारने के लिए दैव कोमल वस्तु का ही प्रयोग करता है नलिनी को नष्ट करने के लिए पाला ही पर्याप्त है। यह मैंने पहले ही समझ लिया था। मेघदूत का यक्ष भी "जातां मन्ये शिशिरमथितां पद्मिनीं वान्यरूपाम्" (२-२३), शिशिर से आहत हुई पद्मिनी की भाँति प्रिया को परिवर्तित रूपवाली जानता है। अङ्गयष्टिम्—अंगं यष्टिरिवेत्युपमानोत्तरकर्मधारयः' पतली देह। हुतवहेन हुतं देवोद्देशेन आहुतं वहति इति हुतवहस्तेन। मनुष्य अपनी प्रिय वस्तु की आहुति देता है और अग्नि उसे देवों तक पहुँचा देती है। उदयन की प्रियतम वस्तु वासवदत्ता भी इहलोक से देवलोक में अग्नि द्वारा आहुति की भाँति पहुँचा दी गई। इस दृष्टि से अग्नि के लिए 'हुतवह' शब्द का प्रयोग भाव-युक्त है।

पद्मावती के विवाह से उदयन का वासवदत्ता-विषयक दुःख दूर हो जाना चाहिए था। वह नहीं हुआ, अतः कारण-सामग्री के होने पर भी कार्य के न होने से विशेषोक्ति अलंकार है। "सति हेतौ फलाभावे विशेषोक्तिस्तथा द्विधा" (सा० दर्प० १०-६७)।

पृ० ६४—पद्य २—समुदिताम् (सम्+उद्+इ+क्त कर्मणि) सम्पन्न, युक्त। इसी अर्थ में भास प्रायः इस शब्द का प्रयोग करता है। मन्द इव—उदयन का शोक समाप्त नहीं हुआ है, बस कुछ कम-सा हो गया है। उदयन स्पष्ट शब्दों में इसे कम हुआ भी नहीं कहना चाहता है। पूर्वाभिघात० टीका देखें। दुःखानुभवी मैं पद्मावती को भी (सिर-दर्द से पीड़ित होने के कारण) वासवदत्ता की ही भाँति हिम से मारी गई पद्मिनी-जैसी सोचता हूँ। यहाँ उदयन की उक्ति में थोड़ा सा

भाव स्वयं को कोसने का भी है। वासवदत्ता मेरे सम्बन्ध से मारी गई और अब पद्मावती भी सम्बन्ध होते ही बीमार हो गई है।

काकोदरः—सर्प। काकस्येवोदरमस्य इति "कुण्डली गूढपाच्चक्षुःश्रवाः काकोदरः फणी" इत्यमरः। अथवा अक कुटिलायां गतौ भ्वादिगण की धातु से 'ईषदकति' इस अर्थ में "ईषदर्थे च" (६-३-१०५) सूत्र से 'कोः' के स्थान पर 'का' आदेश, काकम् ईषद् कुटिलगतिमद् उदरमस्य इति काकोदरः सर्पः (अमरकोश टीका, महेश्वर)।

वैधेय—(वि+धा+कि) विधिः, (विधि+ढक्) वैधेय। विधि के अनुसार। यहाँ मूर्ख अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। विधि पद्धतिमेव अनुसृत्य व्यवहरति युक्तायुक्तविवेकशून्यत्वात्। प्रसंग एवं स्थान के अनुसार अपनी सूझ-बूझ के बिना बस किसी एक सीखे हुए तरीके से काम करने वाला। अथवा—विधेयं विधानम् तस्यायमधिकारी (विधेय+अण्), दूसरों की आज्ञानुसार काम करने वाला। विदूषक यहाँ अच्छी तरह देखे बिना ही हवा से हिलती हुई, जमीन पर पड़ी, माला को साँप समझ रहा है। उसके लिए उदयन का 'वैधेय' शब्द-प्रयोग बहुत ही अर्थानुकूल है।

पद्य ३—मुखतोरण०—तोरण—(तुर्+ल्युट्)। मुख का अर्थ है प्रधान या मुख्य। मुख्य द्वार, प्रधान द्वार, सदर दरवाजा। समुद्रगृह में कई कमरे होंगे। उनके अनेक द्वार होंगे। एक मुख्य द्वार होगा। इसी मुख्य-द्वार पर लटकती हुई (कुछ ढीली) माला बाँधी गई थी। सम्भवतः पद्मावती के विवाह के अवसर पर यह माला बाँधी गई हो। विवाह के समय घर के मुख्य-द्वार अथवा द्वारों को आज भी फूलों और आम के पत्तों से सजाया जाता है। यह केवल सज्जा के लिए ही नहीं, शुभ माना जाने के कारण भी किया जाता है। विवाह हुए कुछ दिन हो गए हैं अतः माला का टूटकर गिर जाना स्वाभाविक ही है। रात के अँधेरे में (अभी रात आरम्भ हुई है) हवा से हिलती हुई माला में, सर्प की भ्रांति वैधेय को ही नहीं औरों को भी हो सकती है।

इस पद्य में प्रस्तुत भ्रांति से भास ने आगे होनेवाली भ्रांति (वासवदत्ता का उदयन को पद्मावती समझना) का संकेत किया है। यहाँ स्वभावोक्ति अलंकार है। अथवा "भ्रान्तापह्नुतिरन्यस्य शङ्कायां भ्रान्तिवारणे" के अनुसार भ्रान्तापह्नुति अलङ्कार है। विदूषक की सर्प-भ्रान्ति का निवारण उदयन ने किया है।

पृ० ६६—किमज्ञ ज्ञेयम्—भास चिह्नों से वस्तुस्थिति का अनुमान करने में निपुण हैं। चौथे अङ्क में विदूषक ने चुने हुए फूलों से और उदयन ने पत्थर के गरम स्पर्श से पद्मावती के वहाँ आकर जाने का अनुमान किया था। यहाँ साफ, बिना सलवट बिछे बिस्तर से पद्मावती के आने का अनुमान उदयन करता है।

पद्य ४—तथास्तृतसमा—आस्तृता चासौ समा च आस्तृतसमा। 'तथा' शब्द-

बलेन 'यथा' शब्दस्य अध्याहारः, यथा पूर्वमासीत् तथैव आस्तृतसमा वर्तते। आस्तरण (आ+स्तृ+ल्युट्) अकेली चादर को भी आस्तरण कहते हैं और सारे बिछौने (बिस्तर) को भी आस्तरण कहते हैं। बिछौना क्योंकि शय्या पर फैलाया जाता है अतः इसका नाम आस्तरण है। प्रच्छद (प्र+छद्+णिच्+घ) बिछे हुए बिस्तर को ऊपर से ढकने वाले कपड़े को प्रच्छद कहते हैं। जो ढक ले सो प्रच्छद है। बिस्तर की चादर भी शेष बिस्तर को ढकती है अतः प्रच्छद कहलाती है। यहाँ पद्य में 'प्रच्छद' और 'आस्तृत' दोनों ही शब्द हैं। अतः आस्तृत (आ+स्तृ+क्त) का अर्थ बिछौना और 'प्रच्छद' का अर्थ ऊपर की चादर लेना चाहिए। यद्यपि केवल बिछौना या केवल चादर कह देने से भी बात उतनी ही स्पष्ट होती है जितनी दोनों शब्दों के रखने से, तथापि सामान्यतः वार्तालाप में एक ही भाव को दो तरह से कहने में कोई दोष नहीं होता। इससे कथन-प्रकार में स्वाभाविकता आती है। पद्मावती आई होती तो लेटने से शय्या कुछ झुक जाती, बिछौना समान रूप से फैला न होता, चादर में सलवटें पड़ी होतीं। यह सब नहीं है इससे ज्ञात होता है कि पद्मावती यहाँ आयी ही नहीं है। शिरोपधानम्—यहाँ मस्तकवाची अदन्त 'शिर' शब्द समझना चाहिए, 'शिरस्' शब्द नहीं। अन्यथा 'शिरोपधानम्' के स्थान पर 'शिरउपधानम्' ऐसा रूप बनेगा। विग्रह भी 'शिरसः उपधानम्' ऐसा न करके 'शिरस्य उपधानम्' ऐसा करना चाहिए। उपधानम्—(उप+धा+ल्युट्) जिसका सहारा लिया जाय, तकिया। प्राणी रुजा (हेतौ तृतीया) शयनं प्राप्य .., 'रुजा' के स्थान पर रुजम् (रुज्+क्विप्) पाठ भी मिलता है। इस अवस्था में अन्वय इस प्रकार होगा प्राणी रुजं प्राप्य, शीघ्रं शयनं स्वयं न मुञ्चति। 'रुजम्' की अपेक्षा 'रुजा' पाठ अधिक अच्छा है। हमने पीछे कहा था कि पद्मावती अन्त तक यहाँ समुद्रगृह में नहीं आई। प्रस्तुत पद्य की इस पंक्ति से सम्भवतः भास ने यह संकेत भी किया है कि पद्मावती महल में अन्यत्र कहीं लेटी थी और वहीं लेटी रही। यद्यपि उसके लिए रुग्णशय्या समुद्रगृह में बनायी गई थी पर "प्राणी प्राप्य रुजा...शीघ्रं स्वयं न मुञ्चति" के अनुसार वह भी अपने पूर्व-बिस्तर को छोड़कर यहाँ नहीं आयी है। पद्य के पूर्वार्द्ध शय्या नावनता में स्वभावोक्ति अलङ्कार है।

हों इति करोतु भवान्—आप हुँकारा भरिये। इससे विदूषक का भोलापन, बच्चे-जैसा स्वभाव प्रकट होता है। कहानी में हुँकारा भरने से सुनने वाले कहानी कहने वाले की ओर आकृष्ट रहते हैं। उनकी इस अवधानता से कथाकार का उत्साह बढ़ता है।

अधिकरमणीयानि—"अस्ति नगर्युज्जयिनी नाम" इस आरम्भ से पता चलता है कि विदूषक उज्जयिनी से सम्बन्धित किसी प्रसिद्ध कथा को सुनाने वाला है किन्तु अगले ही वाक्य में "वहाँ बहुत सुन्दर जलागार हैं" एक सामान्य-सी बात कहकर उसने गम्भीरता को समाप्त कर दिया। यह उसके विदूषकत्व के अनुरूप ही है।

उदयन के साथ चली आयी थी, यह इस पद्य से ज्ञात होता है। आवन्तिका ने भी यही बात चौथे अङ्क में कही थी 'यद्यल्पः स्नेहः सा स्वजनं न परित्यजति' (पृ० ४२)। सुतायाः स्मरामि—"अधीगर्थदयेशां कर्मणि" से कर्म की अविवक्षा के कारण शेषत्व-विवक्षा में षष्ठी विभक्ति है।

उज्जयिनी नाम सुनने से उदयन को प्रस्थान के समय वासवदत्ता के आँसुओं की याद आ जाती है अतः यहाँ स्मरणालङ्कार है। "सदृशानुभवाद्वस्तुस्मृतिः स्मरण-मुच्यते" (सा० दर्प०, १०-२७)।

पद्य ६—बहुशोऽप्युप०—पहले पद्य की ही भाँति उदयन, वासवदत्ता-विषयक प्रसंगों को याद करते हुए कहता है—अनेक बार वीणा-शिक्षण के समय अनुरागवश वासवदत्ता एकटक मुझे देखती थी। उसका ध्यान वीणा से हट कर मुझ पर केन्द्रित हो जाता था। उसके हाथ से कोण (वीणा बजाने का साधन) गिर पड़ता, पर अभ्यासवश आकाश में ही उसका हाथ ऐसे चल जाता, मानो वीणा पर ही चल रहा हो। कोण—वीणा बजाने के दण्ड को कहते हैं, सारंगी आदि अन्य वाद्यों के बजाने के लिए प्रयुक्त दण्ड को भी 'कोण' ही कहते हैं। पूर्व-पद्य की ही भाँति यहाँ भी 'स्मरणालङ्कार' है। ये दोनों पद्य आगे आने वाले स्वप्न की पूर्वभूमिका हैं।

नगरं ब्रह्मदत्तं नाम०—विदूषक की विशेषता है प्रायः बातों को उलटा कहना। अपनी इसी विशेषता को यहाँ विदूषक प्रकट कर रहा है। काम्पिल्य और ब्रह्मदत्त—जातक-कथाओं में वाराणसी के राजा ब्रह्मदत्त का उल्लेख मिलता है। परन्तु यहाँ काम्पिल्य के राजा ब्रह्मदत्त का उल्लेख है। पाञ्चाल राज्य का अभ्युदय चौथी ई०पू० से पहले ही पूर्वी भारत में कुरु, काशी, कोशल और विदेह के साथ हो चुका था। इसी पाञ्चाल राज्य की प्राचीन राजधानी काम्पिल्य थी। यहीं द्रुपदपुत्री द्रौपदी का स्वयंवर हुआ था। सम्भवतः बुद्ध से भी तीन सौ वर्ष पूर्व (प्रो० भिड़े के अनुसार) ब्रह्मदत्त यहाँ का राजा था। इसी काम्पिल्य के ब्रह्मदत्त की एक प्रसिद्ध कथा विदूषक सुनाना आरम्भ करता है। आजकल का काम्पिल्य ही सम्भवतः पुराना काम्पिल्य है। यह बदायूँ और फर्रुखाबाद के मध्य गंगा की पुरानी धारा के दुआबे में स्थित है।

ओष्ठगतम्—ओंठ पर चढ़ाता हूँ। बोलने का अभ्यास करता हूँ। यदि स्मृति में गड़बड़ भी हो जाय (जैसा कि प्रायः विदूषक के साथ होता है) तो भी अभ्यास वश, ओंठ पर चढ़ा होने के कारण ठीक-ठीक ही मुँह से वाक्य बाहर निकले।

प्रावारकम्—(प्र + आ + वृ + घञ् + कन्) ऊपर ओढ़ने का वस्त्र। चादर इत्यादि।

विच्छेद भी होता है। इसके विपरीत स्वस्थ व्यक्ति का श्वास-प्रश्वास अविच्छिन्न एवं समान गति वाला होता है। यद्यपि उदयन ने ऊपर से नीचे तक चादर ओढ़ रखी है तो भी रात की निस्तब्धता में ठीक-ठीक साँस चलने की जानकारी वासवदत्ता को हो सकती है। इसी विच्छेदरहित और सरलता से चलने वाले श्वास से वह पद्मावती के स्वस्थ होने का अनुमान करती है।

अथवा एकदेश०—आधा विस्तर खाली पड़ा था। वासवदत्ता सोचती है—मानो यह खाली हिस्सा मुझे भी साथ लेटने के लिए आमन्त्रित कर रहा है। **एकदेशस्य संविभागः (षष्ठी तत्पुरुषः) तस्य भावस्तया (हेतौ तृतीया)।**

इस प्रसङ्ग में दो बातें ध्यान देने योग्य हैं—(१) पद्मावती यद्यपि वासवदत्ता की सौत हो गई है फिर भी उसके प्रति वासवदत्ता का प्रेम अतुलनीय है। (२) परिस्थिति ने वासवदत्ता को उदयन के साथ एक ही शय्या पर लिटा दिया है। इस समय बुद्धि की अपेक्षा उसका अवचेतन मन अधिक कार्य कर रहा है। सबसे बड़ी बात यह है कि यहाँ जो कुछ हो रहा है वह सब अत्यन्त स्वाभाविक प्रतीत होता है। न कोई चमत्कार है और न कोई दिव्य शक्ति, जिसने यह सब कराया हो। घटनाओं का यह स्वाभाविक परिणाम मात्र है।

महान् खल्वार्ययौगन्ध०—यौगन्धरायण की योजना का मुख्य उद्देश्य उदयन का खोया हुआ राज्य शत्रु से पुनः प्राप्त करना है। यह अभी तक सम्पन्न नहीं हुआ है। इस योजना की मुख्य कड़ी (पद्मावती से उदयन का विवाह) पूरी हो चुकी है। पर यदि इस समय भी दर्शक को सत्यता पता चल जाय तो हो सकता है इस धोखे से वह रुष्ट हो जाय और सैन्य सहायता न दे। वासवदत्ता को यदि कोई पहचान ले तो यौगन्धरायण की योजना असफल हो जाय। इसीलिए वह कहती है—"**महान् खलु ...मम दर्शनेन निष्फलः संवृत्तः।**" वासवदत्ता समझ रही है कि सचमुच में उदयन ने उसे पहचान लिया है।

पृ० ७२—स्वप्नायते—स्वप्नवान् भवतीत्यर्थे "भृशादिभ्यो०" (३-१-१२) इस सूत्र से क्यङ् प्रत्यय होकर रूप बनेगा **स्वप्नायते**। इसी स्वप्न-प्रसङ्ग के आधार पर नाटक का नाम '**स्वप्नवासवदत्तम्**' रखा गया है।

देहि मे प्रतिवचनम्—मुझे प्रत्युत्तर दो। उदयन स्वप्न में ही बातें कर रहा है। ठीक इसी प्रकार के वाक्य का अविमारक में भी भास ने प्रयोग किया है—"**हा सुन्दरि ! देहि मे प्रतिवचनम्**" (अङ्क ४, पाँचवें पद्य के बाद)।

इतः परं किम्—उदयन ने कहा था 'यदि कुपित नहीं हो तो फिर सज्जा क्यों नहीं की है?' वासवदत्ता का उत्तर है—'इससे अधिक और क्या' अर्थात् मेरे

लोट्)। इहापि०—यहाँ पति-विरह में भी 'विरचिता' सज्जा से युक्त में स्वयं को सोचूंगी। विच्छेद में मैं अलङ्कृत कैसे हो सकती हूँ? यह भाव बहुत ही खींचतान करके निकाला गया प्रतीत होता है और अच्छा भी नहीं है। इस अर्थ में वासवदत्ता के "(सरोषम्) आ अपेहि" और उदयन के अगले वाक्य "तेन हि विरचिकार्थं (तार्थम्) भवतीं प्रसादयामि" की संगति भी नहीं बनती। अतः 'विरचिता' पाठ और उसका प्रस्तुत अर्थ दोनों ही त्याज्य हैं। 'विरचनाम्' पाठ में भी अर्थ इसी प्रकार होगा, अतः वह भी ग्राह्य नहीं है। हमने जो अर्थ एवं भाव प्रकट किया है वही अधिक संगत एवं स्पष्ट होने से ग्राह्य होना चाहिए।

पद्य ७—सम्भ्रमेण (सम्+भ्रम्+घञ्) हड़बड़ाहट, जल्दबाजी। द्वारपक्षेण—द्वार के दो पल्लड़ (हिस्से) होते हैं, इनमें से एक पल्लड़ से उदयन टकरा गया। वह नींद से उठा था। अभी पूरी तरह से जागा भी नहीं था कि तेजी से बाहर निकलती हुई वासवदत्ता की झलक दिखाई पड़ी। ज्यों ही उठकर उसने रोकना चाहा वह द्वार से टकरा गया और वासवदत्ता वहाँ से बाहर चली गई। ततो व्यक्तं न जानामि—क्योंकि मैं दरवाजे से टकरा गया और पूरी तरह से जागा हुआ भी नहीं था, अतः यह वासवदत्ता की उपस्थिति अथवा स्पर्श वास्तविक है या मानसिक कल्पनामात्र है, यह मैं ठीक से नहीं जानता। अर्थ यों भी हो सकता है—"अयं (मे) मनोरथः भूतार्थः (इति) व्यक्तं न जानामि' मेरा यह भाव (अभी वासवदत्ता यहाँ थी) वास्तविक है, यह मैं ठीक से नहीं जानता हूँ।

उदयन का अर्धजागृतावस्था में वासवदत्ता को रोकने के लिए हड़बड़ाहट में उठना और फिर द्वार से टकराना अत्यन्त नाटकीय है। उसके मन में दुविधा हो गई है। उदयन की यह दुविधा इस स्वप्न-प्रसङ्ग की अत्यन्त सुन्दर नींव बन गई है। उभय-पक्षाश्रित उदयन के मन का चित्रण बहुत ही अच्छा है। पद्य में अलङ्कार काव्यलिंग है—"हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्गं निगद्यते" (सा० दर्प०, १०-६४), यहाँ द्वारपक्षताड़न 'व्यक्तं न जानामि' के प्रति हेतु है।

धरते—'जीवति' के अर्थ में इसका प्रयोग यहाँ भास ने किया है। तुदादि गण की धृङ् १४१२ अवस्थाने (आ०पद, अकर्मक) धातु का लुट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन में रूप ध्रियते बनेगा। प्रथम अङ्क में, इसी अर्थ में इस धातु के शुद्ध रूप का प्रयोग भास ने किया है—दिष्ट्या ध्रियते। यहाँ धरते प्रयोग प्रमादवश ही समझना चाहिए। भ्वादिगण की धृञ् धारणे धातु का उभयपदी होने से धरति-धरते रूप बनेगा। पर यह धातु सकर्मक है अतः 'धरते वासवदत्ता' वाक्य अधूरा रह जायेगा। इस अवस्था में 'जीवनम्' इत्यादि कर्म का अध्याहार करना पड़ेगा। भ्वादिगण की ही धृङ् अवध्वंसने का रूप भी धरते बनेगा पर इसका अर्थ प्रसंग के

स्पर्श अनुभव किया है, अपनी आँख से उसे भागते हुए देखा है अतः स्वप्न मानने में सन्देह है। शय्या से जब वह उठा था तो पूरी तरह से जागा हुआ नहीं था अतः निश्चय से अपने ज्ञान को प्रत्यक्ष भी नहीं कह सकता। ऐसी अवस्था में दूसरा विकल्प विभ्रम है। इसका आधार उदयन का वासवदत्ता के प्रति अतिशय प्रेम है। इसी प्रेम की भीनी-भीनी स्मृति को लेकर वह सोया था—'**स्नेहान्ममैवोरसि पातयन्त्याः**', '**मामीक्षमाणया कृतमाकाशवादितम्**' (पृ०६८); जो भी हो, उदयन किसी भी मूल्य पर वासवदत्ता के सहवास के लिए अधीर है। चाहे उसे इसके लिए चिरकाल तक सोते रहना पड़े और चाहे उसके चित्त का यह क्षणिक विक्षेप स्थिर हो जाय। सोते रहकर या पागल बनकर भी वासवदत्ता को चाहना उदयन के वासवदत्ता के प्रति प्रेम की अभिव्यक्ति की पराकाष्ठा है। यौगन्धरायण ठीक ही सोचता था कि वासवदत्ता के जीवित रहते वह पद्मावती से कभी विवाह नहीं करेगा। जो व्यक्ति चिरनिद्रा या चित्त-भ्रांति को स्वीकार करने के लिए सहर्ष तैयार है वह भला वासवदत्ता के प्रेम से अधिक महत्त्व राजकार्य को देगा? उदयन के प्रति वासवदत्ता के इस अद्वितीय प्रेम का प्रकाशन ही वास्तव में भास का उद्देश्य है। इस प्रेमाभिव्यक्ति की चरमावस्था इस स्वप्न-प्रसङ्ग में हुई है। इसी कारण नाटक का नाम '**स्वप्नवासवदत्तम्**' है।

सामान्यतः अप्रतिबोधन और विभ्रम प्रतीकूलवेदनीय होने से अवाञ्छनीय हैं। यहाँ ये दोनों ही उदयन के लिए अनुकूल होकर वाञ्छनीय हो गए हैं। अतः पद्य में अनुकूल अलंकार है—"**अनुकूलं प्रातिकूल्यमनुकूलानुबन्धि चेत्**" (सा० दर्प०, १०-६४)।

अवन्तिसुन्दरी नाम यक्षिणी—वासवदत्ता यहीं रहती है यह विदूषक भी जानता था, क्योंकि यौगन्धरायण ने पूरी योजना राज्य के प्रधान-पुरुषों के साथ मिलकर बनाई थी। वासवदत्ता को पद्मावती के पास रखना योजना का भाग था "**स्वामिन् सर्वैरेव ज्ञातम्**" (पृ० ६८) और "**यथा मन्त्रिभिः सह समर्थितं तथा परिणमति**" (पृ० १४)। दर्शक के प्रासाद में कोई नहीं जानता था कि आवन्तिका कौन है। किसी ब्राह्मण की बहिन ही वह समझी जाती थी। उसके अनुपम सौन्दर्य एवं गुणों के कारण सम्भवतः उसे असामान्य समझा जाता था। कथासरित्सागर के अनुसार, उसने पद्मावती के लिए एक बार अम्लानमाला और दिव्य-तिलक भी बनाए थे। इनसे सज्जित पद्मावती को देखकर उसकी माता ने कहा था कि यह किसी मानुषी का काम न होकर देवी का काम प्रतीत होता है। मूल प्रसङ्ग इस प्रकार है—

पद्य ११—संत्रस्तया—(सम्+त्रस्+क्त, तृ०एक०) कहीं मुझे कोई देख ले या कहीं आर्यपुत्र ही पहचान लें, इससे यौगन्धरायण की योजना विफल हो जायेगी। इस कारण वासवदत्ता भयभीत थी। बाहुर्निपीडितः—शय्या से नीचे लटकते उदयन के हाथ को वासवदत्ता ने ऊपर रखा था। (नि+पीड्+क्त) दबाना। वासवदत्ता के इस स्पर्श में 'निपीडन' शब्द का प्रयोग बहुत ही काव्यमय है। निपीडन में केवल स्पर्श नहीं, प्रेमावेश में हल्का सा दबाने का भाव भी सन्निहित है। इसी प्रेम-निपीडन के कारण उदयन को रोमाञ्च हो आया था। वासवदत्ता उदयन को पद्मावती समझ कर जब बिस्तर पर साथ में लेटी थी तो उसका मन भी कुछ आह्लादित-सा हुआ था—'प्रह्लादितमिव मे हृदयम्' (पृ० ७०)। उदयन को भी यहाँ रोमाञ्च हो आया है। दोनों के परस्पर प्रेम की कितनी सशक्त अभिव्यक्ति है। उदयन विदूषक से कहता है—देखो, अब भी यह हाथ रोमाञ्चित है। इस सम्पूर्ण प्रसंग में भ्रम, सन्देह और निश्चय के उतार-चढ़ाव से उदयन और वासवदत्ता के परस्पर प्रेम की जो अभिव्यञ्जना हुई है वह स्वयं लौकिक और अलौकिक के बीच दोलायमान है। निःसन्देह प्रेमाभिव्यक्ति यहाँ अपनी चरमावस्था में पहुँच गई है। नाटक में रस विप्रलम्भ-शृंगार है। वासवदत्ता उदयन के आस-पास रहने पर भी विरहिणी है। उदयन उसे देखकर भी संदिग्ध है। प्रेम के चिह्नों (रोमाञ्च) की स्पष्ट अभिव्यक्ति होने पर भी वह स्वप्न और विभ्रम से अभिभूत है। सम्पूर्ण प्रसंग का आधार स्वप्न है इसी आधार पर नाटक का नाम 'स्वप्नवासवदत्तम्' बहुत ही समीचीन है।

पृ० ७६—आरुणिम्—आरुणि कब और कहाँ का राजा था, कुछ पता नहीं। कथासरित्सागर की मूल कथा में भी यह नहीं है। वहाँ उदयन का राज्य भी किसी ने नहीं छीना है। यौगन्धरायण उदयन के राज्य को बढ़ाने की इच्छा से सब कुछ करता है। भास ने इसे कहाँ से ले लिया और क्यों ले लिया, कह नहीं सकते। हो सकता है, भास के समय में कथा का यह रूप प्रचलित रहा हो और सोमदेव तथा गुणाढ्य ने गौण होने से आरुणि का उल्लेख न किया हो।

पद्य १२—पार्ष्णी—(पृष्+नि) सेना का पिछला भाग। सामान्यतः यह शब्द 'पार्ष्णिः' है और पुल्लिंग है। पर स्त्रीलिंग में होने से "कृदिकारादक्तिनः" वार्तिक से ङीष् करके 'पार्ष्णी' शब्द बनेगा। इसे श्रेणि-श्रेणी, रात्रि-रात्री आदि की तरह, समझना चाहिए। आक्रमण के समय 'पार्ष्णि' का विधान करना अत्यन्त आवश्यक है। आगे की टुकड़ी लड़ती है, प्रदेश जीतती है और आगे बढ़ती है। इस विजित प्रदेश का प्रबन्ध करना तथा आगे के सैन्य-भाग को रसद (गोला-बारूद तथा खाद्य सामग्री) पहुँचाना सेना के इसी अंग का काम होता है। यदि इसका ठीक-ठीक प्रबन्ध नहीं होता तो अगली टुकड़ी बलवान् होकर भी निर्बल हो जायगी।

में भीषण लहरें उठती हैं, यहाँ दोनों ओर से फेंके गये बाण व्याप्त हैं। अतः युद्ध-स्थल की शोभा समुद्र-जैसी है। पद्य में उपमालङ्कार है।

एक विशेष बात यह है कि सारे नाटक में यही एक स्थल है जहाँ उदयन का हल्का-सा वीरत्व झलकता है। इसके सिवा अन्यत्र कहीं भी क्षत्रिय राजा उदयन के क्षत्रियत्व की झलक नहीं दिखाई पड़ती। उदयन क्षत्रिय राजा है, यह बताने के लिए यही एक पद्य है अतः इसकी महत्ता बढ़ जाती है।

अङ्क-समाप्ति पर यौगन्धरायण कहता है—देवी का कुशल-समाचार बताने के लिए आज ही उज्जयिनी से आये इन धाय और काञ्चुकीय को वापस भेज दीजिए। सन्ध्या के समय तो उन्हें कौशाम्बी से वापस भेजा नहीं जायेगा। अतः दिन का पहला दूसरा प्रहर वह होगा। सम्भवतः प्रातःकाल ही वे राजप्रासाद में आये होंगे। सारी घटना को घटित होने में अधिक-से-अधिक एक पहर समय लगा होगा। धाय और काञ्चुकीय ने पहली रात कौशाम्बी में ही किसी अतिथिगृह में बिताई होगी। पाँचवें और छठे अङ्क के मध्य छह-सात दिन का समय बीता होगा। क्योंकि कम-से-कम इतना समय युद्ध में आरुणि को परास्त करने के लिए अवश्य चाहिए।

काञ्चुकीयः—यह काञ्चुकीय उज्जयिनी से आया है। प्रद्योत ने इसे और वासवदत्ता की माँ अङ्गारवती ने वसुन्धरा नामक वासवदत्ता की धाय को उदयन के पास कौशाम्बी भेजा है।

अशून्यं कुरुते—मुहावरा है। 'यहाँ द्वार पर कौन उपस्थित है' शाब्दिक अर्थ होगा "द्वार को कौन शून्य-रहित करता है।" आज-कल की भाषा में "द्वार पर किसकी ड्यूटी है" ऐसा कहेंगे।

रैभ्यसगोत्रः—गोत्र शब्द का अर्थ वंश एवं कुल के अतिरिक्त नाम और संज्ञा भी होता है। "**गोत्रेण माठरोस्मि**", "**कौशिकगोत्रः**", "वसिष्ठगोत्रः" इत्यादि प्रयोगों में स्पष्ट ही गोत्र शब्द कुल या वंश का वाचक है। "**मद्गोत्राङ्कं विरचितपदं गेयमुद्गातुकामा**" (मेघदूत, उ०-२६); "**गोत्रेषु स्खलितस्तदा भवति च व्रीडाविलक्षश्चिरम्**" (शाकु० ६-५)। आदि-आदि स्थलों में गोत्र शब्द का अर्थ नाम या संज्ञा है। "**गोत्रं नाम्नि कुलेऽप्यद्रौ**"इति यादवः। प्रस्तुत सन्दर्भ में काञ्चुकीय का नाम रैभ्य है अथवा उसका कुल रैभ्य है यह सन्देह है। **सगोत्रः**—**समानं गोत्रं यस्य सः(बहुव्रीहिः)** यहाँ "**ज्योतिर्जनपदरात्रिनाभिनामगोत्ररूप०**" (६-३-८५) सूत्र से गोत्र शब्द उत्तरपद होने के कारण समान को स आदेश हुआ है। गोत्र शब्द का कुल अर्थ लेने पर '**रैभ्यसगोत्रः**' का अर्थ होगा—'रैभ्य के समान है कुल जिसका ऐसा'। **रैभ्यः** (**रेभस्यापत्यं पुमान्**)। रेभ के पुत्र किसी प्रसिद्ध पूर्व-पुरुष का नाम रैभ्य है। उसका जो कुल था वही कुल काञ्चुकीय का भी है। इस प्रकार 'रैभ्य' किसी अन्य व्यक्ति का नाम है (काञ्चुकीय का नहीं) और गोत्र शब्द कुल वाचक है। रैभ्य को यदि गोत्र मानेंगे तो 'रैभ्य (गोत्र) के समान है गोत्र जिसका' ऐसा अर्थ होगा। यहाँ रैभ्य (गोत्र) के समकक्ष गोत्र का अपना नाम क्यों नहीं लिया गया? समकक्ष होने से वह गोत्र भी प्रसिद्ध होगा। फिर सीधा न कह कर यह द्राविड़ प्राणायाम क्यों किया गया? इत्यादि प्रश्न बने रहेंगे। अतः रैभ्य को किसी प्रसिद्धपुर्व-पुरुष का नाम

पाठ होने पर होगा। (२) सूर्या देवता का भी नाम है। यह विवाह की अधिष्ठात्री देवी है। **सूर्या विवाहदेवता सा मंगलार्थं दारुशिलाद्युत्कीर्णा मुखे यस्य स सूर्यामुखः प्रासादः**, जिस भवन के मुख्य द्वार पर मंगल के लिए विवाह की देवता सूर्या की पत्थर या लकड़ी की मूर्ति बनी हो। (३) अथवा सूर्या का अर्थ है नवोढा, **सूर्यायाः नवोढायाः पद्मावत्याः मुखप्रासादं प्रासादपुरोभागं तत्र गतेन।**

(ख) **शय्यामुखप्रासाद** इस पाठ के पक्ष में—यह वह भवन है जिसके ठीक सामने शयन-कक्ष है।

(ग) **सुयामुन प्रासाद**—प्रो० देवधर ने उपलब्ध पाण्डुलिपि में यह पाठ (सुयामुणप्पा०) पाया है। इसके अनुसार यह वह भवन था जिस पर से यमुना का सुन्दर दृश्य दिखाई देता था। इलाहाबाद के निकट यमुना के किनारे का **कोसम** गाँव ही सम्भवतः उस समय की कौशाम्बी हो। अतः यमुना के दृश्य के लिए भवन का बनवाया जाना और फिर उसका यह नाम रखा जाना सम्भव भी है।

घोषवती—प्रशस्तः घोषो यस्याः सा। उदयन की वीणा का नाम। वासुकि के भाई वसुनेमि ने इसे उदयन को दिया था। यह वीणा दिव्य-शक्ति से युक्त थी। उदयन इसे बजा कर हाथियों को पकड़ता था। वसुनेमि ने उदयन को कभी न मुरझानेवाली माला गूँथने की कला और सदा ताजा रहने वाले मस्तक-तिलक को बनाने की विद्या भी सिखाई थी (कथासरित्सागर, २-१-७८-८१)। उदयन को छल करके प्रद्योत के मन्त्री शालङ्कायन ने पकड़ लिया था। इस अवसर पर उसने विजयोपहार के रूप में यही घोषवती प्रद्योत के सामने प्रस्तुत की। प्रद्योत ने इसका उचित पात्र वासवदत्ता को जानकर, घोषवती उसे सौंप दी (गोपालक और पालक क्रमशः अर्थशास्त्र और व्यायाम में रुचि रखते थे)। यही घोषवती वीणा उदयन ने वासवदत्ता को सिखाई थी। इस प्रकार अन्तिमावस्था में वस्तुतः यह वासवदत्ता की सम्पत्ति थी (प्रतिज्ञायौगन्धरायण, अङ्क २)।

नर्मदातीरे—नर्मदा के किनारे पर। उदयन की राजधानी कौशाम्बी यमुना के किनारे पर थी। वह लावाणक गाँव भी, जहाँ वह वासवदत्ता के साथ रहता था, यमुना के किनारे पर ही अवस्थित था। ये दोनों ही स्थान इलाहाबाद के आस-पास कहीं थे। नर्मदा मध्यप्रदेश में जबलपुर के पास बहती है। उसकी यमुना (इलाहाबाद) से कम-से-कम दूरी सीधे रास्ते से नापी जाय तो ३५० किलोमीटर से कम नहीं होगी। उदयन की प्रिय घोषवती उससे कहाँ छूटी थी, भास ने कहीं नहीं बताया। अनुमान लगा सकते हैं कि लावाणक में ही छूटी होगी। लावाणक में छूटी हो चाहे कौशाम्बी में, वह नर्मदा के किनारे नहीं पहुँच सकती। उज्जयिनी में छूटना सम्भव नहीं। उदयन और वासवदत्ता दोनों को ही वह इतनी प्रिय थी कि उसे उज्जयिनी में छोड़ कर नहीं आये होंगे। और यदि वहाँ होती तो अपनी

एक विशेष प्रकार की गूँज होती है। यह धीरे-धीरे कम होती जाती है। घोषवती का स्वर उसकी दिव्यता के कारण अत्यन्त कर्णप्रिय था। अतएव उसके स्वर से हाथी वश में हो जाते थे। घोषवती के इस गुण का उल्लेख प्रतिज्ञायौगन्धरायण में किया गया है—"श्रुतिसुखमधुरा स्वभावरक्ता करजमुखोल्लिखिताग्रघृष्टतन्त्री। ऋषिवचनगतेव मन्त्रविद्या गजहृदयानि बलाद् वशीकरोति" २-१२। **जघनस्थले**—स्त्री के नितम्ब, कटिप्रदेश और कटि के नीचे आगे के भाग को जघन कहते हैं "जघनं स्यात् स्त्रियाः श्रोणिपुरोभागे कटावपि" इति मेदिनी। वीणा बजाते समय उसके दोनों तूँबे धरती पर टिकते हैं और मध्य का भाग जंघाओं के ऊपर आ जाता है। यदि विश्राम के क्षणों में या अन्यथा उस पर जरा झुका जाय तो स्तनयुगल का स्पर्श ऊपर से होगा। इस प्रकार वीणा वासवदत्ता के जघनभाग (जंघाओं के पुरोभाग) और स्तनयुगल के अन्तराल में स्थित होती थी। इसी स्थिति को काव्य के प्रकार से सुप्ता कहा है। वीणा-वादन का अभ्यास करते-करते जब वह थक जाती थी तब वीणा को गोद में लिए ही विश्राम करती थी, या फिर अनेक बार जब वह उदयन को देखकर प्रेम-विभोर हो अपनी सुध-बुध भूल जाती थी "बहुशोऽप्युपदेशेषु यया मामीक्षमाणया" तब देर तक वीणा चुपचाप उसकी गोद में पड़ी रहती थी। यह सब सुप्ता शब्द से ध्वनित होता है। उदयन के मन में विरह की छटपटाहट उत्पन्न करने के लिए वीणा की यह स्थिति और 'सुप्ता' की ध्वनि अत्यन्त सशक्त है। **विहगगण०**—'विहगगणेन रजसा' इस प्रकार समास का विग्रह अनुचित होगा। **विहगानां (विहायसा आकाशेन गच्छति) गणः इति विहगगणः तस्य रजः (ष० तत्पु०) तेन विकीर्णः दण्डः यस्याः सा (बहु०)।** 'रजस्' शब्द का अर्थ यद्यपि धूल होता है पर 'पक्षियों की धूल से व्याप्त दण्डवाली' यहाँ 'धूल' को हर गन्दगी का उपलक्षण मानकर पक्षी-सम्बन्ध से 'बीट' अर्थ में लेना उचित है। फिर भी शब्द-प्रयोग बहुत उपयुक्त नहीं हुआ है। **प्रतिभयम्**—'अरण्यवासम्' का विशेषण है और इसका अर्थ है भयङ्कर। महाभारत में इसी अर्थ में अनेक स्थलों पर इसका प्रयोग हुआ है—"**वनं प्रतिभयाकारम्**"। **अप्रतिभयम्** पाठ होने पर यह क्रिया-विशेषण होगा। अर्थ इस प्रकार होगा—'**अविद्यमानं प्रतिभयं यथा स्यात्तथा**।' तुम जंगल में बिना डरे कैसे पड़ी रहीं ?

पद्य २—श्रोणीसमुद्वहन—श्रोणी (श्रोण्+ङीप्) का अर्थ यहाँ नितम्ब न लेकर कटिप्रदेश ही लेना चाहिए। अङ्क में रखी वीणा के दोनों हिस्सों का वासवदत्ता द्वारा किया गया गाढ़ आलिङ्गन ही यहाँ **निपीडन (नि+पीड्+ल्युट्)** का अभिप्राय है। **खेदस्तनान्तर०**—वीणा बजाने से थककर वासवदत्ता उस पर लेट-सी जाती थी। इस स्थिति में वीणा को उसके स्तनयुगल के मध्य में विश्रान्तिदायक

उपस्थिति से सम्पूर्ण वातावरण (या कार्य) उदासीन-सा हो जायेगा, कोई भी पक्ष (वे और आप) इसमें बढ़कर रुचि नहीं ले सकेगा। सब तटस्थ-सा व्यवहार करेंगे। अतः मेरी उपस्थिति उचित नहीं है। यहाँ 'उदासीनमिव' के स्थान पर 'न श्लाघनीयम्' पाठ भी मिलता है। इस पक्ष में अर्थ स्पष्ट होगा—मेरी उपस्थिति यहाँ प्रशंसनीय नहीं होगी। यहाँ यह भी ध्यान रखना चाहिए कि पद्मावती भले ही आगन्तुकों को वासवदत्ता के सम्बन्ध से अपना स्वजन समझे, पर वह यह मान कर नहीं चल सकती कि वे भी उसे उदयन के सम्बन्ध से अपना ही समझेंगे।

कलत्रदर्शनार्हम्०—पद्मावती की उपर्युक्त युक्ति बिलकुल ठीक थी। पहले आगन्तुकों को उसने स्वजन कहा और फिर दूसरी बात कही, इससे उसके चरित्र में किसी प्रकार का दोष भी नहीं आने पाया है। यहाँ उदयन इसी बात के दूसरे पहलू को सामने रखता है। उसका अभिप्राय ऐसा है—वे लोग वासवदत्ता के सगे हैं, तुमने वासवदत्ता के स्थान को ग्रहण किया है, इस दृष्टि से उनका तुम्हारे प्रति उत्सुक होना स्वाभाविक है। इतना तो वे भी सुन ही चुके होंगे कि मैंने दूसरा विवाह कर लिया है। इस अवस्था में यदि तुम मेरे साथ नहीं रहोगी तो वे सोचेंगे कि जानबूझ कर ही तुम्हें उनसे नहीं मिलने दिया है। वासवदत्ता की स्थानीय होने से तुम भी उनके लिए वैसी ही (बेटी) हो। अतः वे तुम्हारी उपस्थिति की अपेक्षा करते होंगे। यदि तुम नहीं रहोगी तो और अधिक प्रवाद होगा कि पत्नी को जिनसे मिलाना चाहिए था उनसे नहीं मिलाया, जरूर इसमें कोई रहस्य होगा, इत्यादि। अतः तुम्हारा यहाँ बैठना ही उचित होगा।

उपर्युक्त दोनों ही युक्तियाँ ठीक हैं और सामाजिक सम्बन्धों की सूक्ष्म व्याख्या प्रस्तुत करती हैं। पद्मावती ने उदयन की बात मानकर अपने चरित्र को और ऊँचा उठा लिया है।

पृ० ८४—पद्य ४—किं वक्ष्यति (ब्रू [वच्] स्य + ति, लृट्) महदवाप्तगुणोपघातः—(उप + हन् + घञ्) उपघातः गुणानामुपघात इति गुणोपघात.। महत् विपुल, अत्यधिक, बलवान्, प्रचण्ड इत्यादि इसके अर्थ हैं। यहाँ यह क्रियाविशेषण है। महत् यथा स्यात् तथा अवाप्तः (अव + आप + क्त) प्राप्तः गुणोपघातः येन सः। प्रद्योत की दृष्टि में उदयन अत्यन्त गुणी व्यक्ति था। 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' में जब उदयन के पकड़े जाने का समाचार महासेन को मिला तब वह अपनी पत्नी के साथ वासवदत्ता के विवाह के विषय में बातें कर रहा था। इसी प्रसङ्ग में उदयन के गर्व के कारणों को गिनाते हुए प्रकारान्तर रूप से वह उसके गुणों की परिगणना करता है—"उत्सेकयत्येनं प्रकाशराजर्षिनामधेयो वेदाक्षरसमवायप्रविष्टो भारतो वंशः। दर्पयत्येनं दायाद्यागतो गान्धर्वो वेदः। विभ्रमयत्येनं वयःसदृशं रूपम्। विस्रम्भयत्येनं कथमप्युत्पन्नोऽस्य

पौरानुरागः ।" इसके तुरन्त बाद महारानी कहती है—"अभिजनवतीया परगुणाः । कस्य वामतया वोपः संवृत्तः" (द्वितीय अंक १०वें पद्य के बाद) । इसके अतिरिक्त उदयन का (प्रस्तुत संदर्भ में) विशेष गुण उसका "सानुक्रोशत्व" था; इसी कारण वासवदत्ता उसपर सर्वस्व न्योछावर करती थी और मुख्य रूप से इसी कारण पद्मावती उससे अनुरक्त थी । महासेन भी वासवदत्ता के लिए वर में अन्य गुणों की अपेक्षा इस गुण को प्राधान्य देता था—"ततः सानुक्रोशं मृदुरपि ह्येष गुणो बलवान्" (प्रतिज्ञा० २-८) । उदयन के इन गुणों की इस समय साख जमी थी । वासवदत्ता की मृत्यु से उसके गुणों को बहुत ठेस पहुँची थी । महद्व्याप्त० से इसका यही अभिप्राय है । पत्नी की रक्षा कर सकना ही पति के पतित्व का मुख्य आधार है (पा=रक्षणे) । महासेन के ही शब्दों में—"ततो वीर्योदग्रं न हि न परिपाल्या युवतयः" प्र० यौगन्ध० २-४ । पर मैं (उदयन) ने वासवदत्ता का अपहरण भी किया और रक्षा न कर सका । महत् को इस प्रकार भी ले सकते हैं—महत्सु महासेन-सदृशेषु आदरणीयेषु जनेषु अवाप्तः गुणोपघातः येन सः । हमें प्रथम पक्ष अभीष्ट है। महत् को उपघात के साथ नहीं लेना चाहिए ।

उदयन महासेन के प्रति बहुत आदरभाव रखता था । इस पद्य में विशेष रूप से 'पुत्रः पितुर्जनितरोष इवास्मि भीतः' इन शब्दों से उसका महासेन के साथ पिता-पुत्र-जैसा सम्बन्ध अत्यन्त सरल शब्दों में प्रकट होता है । पद्य में उपमालंकार है । 'अहं पुत्र इव नीतोऽस्मि', यहां अहम् उपमेय और पुत्रः उपमान है ।

पद्य ५—किं नाम देव०—पद्य के उत्तरार्द्ध की शब्दावली कुछ व्याख्या-सापेक्ष है । भाव यह है कि यदि खोया हुआ राज्य वापस मिल जाता और वासव-दत्ता भी जीवित रहती तो हे देव ! आपने क्या न कर दिया होता अर्थात् सब-कुछ कर दिया होता । (अन्वय टीका में देखें) यहां टीकाकृत अन्वय की अपेक्षा कुछ सरल अन्वय इस प्रकार भी किया जा सकता है—"देव ! भवता किं नाम न कृतं स्यात् यदि राज्यं परैरपहृतं न स्यात् देव्याश्च कुशलं स्यात् ।" हे देव ! आपने क्या न कर दिया होता यदि राज्य शत्रु से छीना गया न होता और देवी वासवदत्ता का कुशल होता । इसमें 'न स्यात्' की, इकट्ठा करके पुनः आवृत्ति करनी होगी । इस अन्वय से भाव अधिक स्पष्ट होता है । किन्तु कठिन होने पर भी अधिक शुद्ध प्रथम अन्वय (टीकाकृत) ही है । इस समय की दो ताजी घटनाएं हैं (१) उदयन ने खोया हुआ राज्य वापस ले लिया है और (२) वासवदत्ता की मृत्यु हो गई है । इन घट-नाओं की पृष्ठभूमि में काञ्चुकीय का यह कथन कि 'राज्य वापस मिल जाता और देवी की मृत्यु न होती' ही अधिक उपयुक्त है । 'हे देव ! आपने क्या न कर दिया होता यदि...' इससे भी ध्वनित यही होता है कि दैव ने कुछ तो किया है । हां यदि

यह (देवी का कुशल) भी हो जाता तो सब-कुछ हो जाता। 'शत्रु ने राज्य ही न छीना होता' इस भाव के साथ पद्य की शब्दावली की संगति अधिक नहीं जँचेगी और चकार के बल से यदि 'न स्यात्' की ही अनुवृत्ति वाक्य के उत्तरार्द्ध के साथ हो गई तो फिर अर्थ का अनर्थ हो जायगा।

आर्यपुत्र—नाटयशास्त्र के नियमानुसार केवल पत्नी ही अपने पति को 'आर्यपुत्र' कहती है। आर्यस्य श्वसुरस्य पुत्र इति आर्यपुत्रः। यहाँ भास कांचुकीय से उदयन को आर्यपुत्र कहला रहे हैं। इसका कारण भास की नाट्यशास्त्र से पूर्व-कालिकता समझनी चाहिए।

पृ० ८६—राजवंश्यानाम्०—वंशे भवः इति वंश्यः (वंश+यत्) राज्ञः वंश्याः इति राजवंश्याः (षष्ठी तत्०) तेषाम्। उदयास्तमय—उदय (उद्+इ+अच्); अस्तमय (अस्तम् [अव्यय] इण्+अच्) अस्तम् ईयते गम्यते अस्मिन्। उदयश्च अस्तमयश्च उदयास्तमयौ (द्वन्द्व) तत्र प्रभुः—अन्य राजाओं के अभ्युदय और विनाश में समर्थ, सम्राट। इससे यह पता चलता है कि उस समय प्रद्योत की शक्ति अत्यधिक थी। शक्तिशाली राष्ट्र दूसरों के उत्थान और पतन में समर्थ होते हैं। मगध साम्राज्य भी उस समय प्रद्योत से डरता था। प्रो० देवधर ने मज्झिमनिकाय से उद्धरण प्राप्त किए हैं जिनके अनुसार अजातशत्रु (मगध-नरेश, दर्शक से पहले) ने प्रद्योत के आक्रमण के भय से राजगृह की पुनः किलेबन्दी की थी।

कांक्षितबान्धवः—बान्धवः (बन्धु+अण्, स्वार्थे) रिश्तेदार, नातेदार। कांक्षितश्चासौ बान्धवश्च इति कांक्षितबान्धवः। मुझसे चाहा गया रिश्तेदार (बन्ध्+उ) 'बन्धुः' और (बन्धु+अण्, स्वार्थे प्रत्ययः) 'बान्धवः'। इस प्रकार बन्धु और बान्धव अर्थ की दृष्टि से एक ही हैं। यहाँ 'कांक्षितं बान्धवं यस्य सः' ऐसा विग्रह करने पर अर्थ होगा—'मेरे साथ चाहा है सम्बन्ध जिसने, ऐसा'। कथा की दृष्टि से यह दूसरा अर्थ ही ठीक है। परन्तु महासेन के प्रति उदयन के आदर-भाव के अनुरूप प्रथम अर्थ है।

कुशली—कुशलम् अस्य अस्ति असौ। कल्याण से युक्त, मंगलमय।

वैदेहीपुत्रस्य—यह विदेह की राजकुमारी, जो उदयन की माता के रूप में यहाँ वर्णित है, कौन थी, इस विषय में इतिहास से कुछ पता नहीं चलता। भास माता की ओर से विशेषण रखने का अभ्यस्त है—'गान्धारीमातः', 'कौसल्यामातः', 'यादवीपुत्रः' इत्यादि।

पद्य ७—सोत्साहैरेव०—"वीरभोग्या वसुन्धरा" यह विचार संस्कृत-साहित्य में पर्याप्त मात्रा में मिलता है—"साहसे श्रीः प्रतिवसति" (मृच्छकटिक, अंक ४), "अनिर्वेदप्राप्याणि श्रेयांसि" (विक्रमो०); "लभ्या धरित्री तव विक्रमेण" (किरात.

मेदानीं भर्ता—यहाँ भास ने फिर 'मा' के साथ तुमुन् का अपाणिनीय प्रयोग किया है। भास 'अलम्' के अर्थ में 'मा' का प्रयोग प्रायः कर देते हैं। इससे पहले 'अलमिदानीं संतप्य' (इसी अङ्क में दूसरे पद्य के बाद) में ठीक प्रयोग किया है। 'मा इदानीं सन्तप्यतु' ठीक प्रयोग होता या फिर 'मा' के स्थान पर 'अलम्' रखने से वाक्य ठीक हो जाएगा। यहाँ 'सतंप्य' पाठ होने पर 'मा' का ल्यप् के साथ प्रयोग भी अशुद्ध होगा।

उपरताप्यनुपरता—ठीक इसी प्रकार का भाव प्रथम अङ्क में ब्रह्मचारी ने प्रकट किया था—भर्तृस्नेहात्सा हि दग्धाप्यदग्धा (पृ० २०)।

पद्य १०—रस्सी यदि बीच में ही टूट जाय तो कोई शक्ति नहीं जो घड़े को कुँए में गिरने से बचा ले। इसी प्रकार जब काल आ जाय तो भला कौन रक्षा कर सकता है? काल महाबली है—'सुरक्षितं दैवहतं विनश्यति'। एवं लोकः—'तुल्यधर्मः' के स्थान पर 'तुल्यधर्मा' रूप होना चाहिए। वनानां तुल्यः धर्मो यस्य सः (बहुव्रीहिः); 'धर्मादनिच् केवलात्' से यहाँ 'अनिच्' प्रत्यय होकर 'तुल्यधर्मा' रूप बनेगा। तुल्यधर्मा, तुल्यधर्माणौ, तुल्यधर्माणः इस प्रकार रूप बनेंगे। 'लोकः रुह्यते' यहाँ भी 'रोहति' प्रयोग होना चाहिए। अथवा इसे कर्मकर्तृ का रूप 'भिद्यते काष्ठम्' "पच्यते ओदनः" की तरह मानना होगा। विस्तृत नोट प्रथम अङ्क में 'श्लिष्यते' शब्द पर देखें (पृ० १२२)। जंगल में पेड़ कटते हैं और फिर अंकुर फूट आते हैं, यह सामान्य नियम है। आत्मा एक देह को त्याग देती है और फिर दूसरे शरीर को धारण कर लेती है, यह मनुष्य-लोक का नियम है। यह तुलना कठोपनिषद् के 'सस्यमिव मर्त्यः पच्यते सस्यमिव जायते पुनः (१-१-६) के आधार पर की गई है।

पद्य के पूर्वार्द्ध में दृष्टान्तालंकार है। 'दृष्टान्तस्तु सधर्मस्य वस्तुनः प्रतिबिम्बनम्' सा० दर्प० १०-५१। उत्तरार्द्ध में उपमालंकार है।

पद्य ११—(१) वासवदत्ता महासेन की पुत्री थी—महासेन के प्रति उदयन अपना आदरभाव प्रकट कर चुका है। (२) वह उसकी शिष्या थी। उसने अपनी सारी विद्या (ललित-कला-सम्बन्धी) बड़े मनोयोग से उसे सिखायी थी। वासवदत्ता भी बहुत मेधाविनी शिष्या सिद्ध हुई थी। इसीका परिणाम था दोनों में प्रेम। (३) वह उदयन की पत्नी थी। (४) सबसे बढ़कर वह उदयन की प्रेयसी थी। यह आवश्यक नहीं कि जो पत्नी हो वह प्रिय भी हो। पत्नी और प्रेयसी दोनों का संयोग सौभाग्य से ही होता है। वासवदत्ता पत्नी भी थी और प्रिया भी। प्रस्तुत नाटक में तो उसका प्रिया-रूप ही अधिक उभरा है। उपर्युक्त चार कारणों के आधार पर उदयन कहता है कि मैं उसे भुला कैसे सकता हूँ? देहान्तरेष्वपि—अन्यो देहः इति देहान्तरम् (मयूरव्यंसकादि श्रेणी का नित्यसमास) तेषु। इस

जन्म में तो भूल ही नहीं सकता, अन्य जन्मों में भी मैं उसी की याद में तड़पता रहूँगा।

गोपालकपालकौ—दोनों महासेन के पुत्र हैं। प्रतिज्ञायौगन्धरायण के अनुसार बड़ा गोपालक अर्थशास्त्र (राजनीति) का पंडित था और छोटा पालक ललित कलाओं का द्वेषी तथा व्यायाम का शौकीन था "अर्थशास्त्रगुणग्राही ज्येष्ठो गोपालकः सुतः। गान्धर्वद्वेषी व्यायामशाली चाप्यनुपालकः" (२-१३)। शूद्रक के मृच्छकटिक में हम पालक को उज्जयिनी में राज्य करते हुए पाते हैं। जामाता—जायां मातीति जामाता (जम्+मा+तृच्) दामाद। अनग्निसाक्षिकम्—साक्षिन्, सह अक्षि यस्य सः (सह+अक्षि+इन्) अपनी आँख से देखने वाला। साक्षात् द्रष्टा, साक्षी। अग्निः साक्षी यस्मिन्कर्मणि तदग्निसाक्षिकं, तथा न भवतीति अनग्निसाक्षिकम्। अग्नि की साक्षी के बिना। हिन्दू रीति से विवाह सजीव अग्नि के बिना नहीं होता। वर को यज्ञाग्नि में आहुतियाँ डालकर प्रतिज्ञाएँ करनी होती हैं। अग्नि की ही प्रदक्षिणा करके मुख्य विधि 'परिक्रमा'(फेरे) होती है—वधूं द्विजः प्राह तवैष वत्से वह्निर्विवाहं प्रति कर्मसाक्षी" (कुमारसम्भव ७-८३)। "तमेव चाधाय विवाहसाक्ष्ये वधूवरौ संगमयाञ्चकार" (रघु० ७-२०)। वीणाव्यपदेशेन—वीणा के बहाने से वासवदत्ता को तुम्हें सौंप दिया था। चपलतया—चञ्चलता व अधीरता से। प्रतिकृति (प्रति+कृ+क्तिन्) चित्र। निर्वृत्तः (निर्+वृत्+क्त) पूर्ण किया। इस विवाह का उल्लेख प्रतिज्ञायौगन्धरायण में किया गया है "अया—क्षत्रधर्मेणोद्दिष्टस्ते (अङ्गारवत्याः) दुहितुर्विवाहः किमिदानीं हर्षकाले संतप्यसे? तत्चित्रफलकस्ययोर्वत्सराजवासवदत्तयोर्विवाहोऽनुष्ठीयतामिति" (४ अङ्क में २३वें पद्य के बाद)।

पृ० ९०—पद्य १२—उदयन ने अभी-अभी अपना राज्य वापस लिया है; पर ऐसे सैंकड़ों राज्यों की प्राप्ति से भी अधिक प्रिय वह अङ्गारवती के उपर्युक्त सन्देश को समझता है। राज्यलाभ०—राज्यस्य लाभः इति (ष० तत्०)। राज्यलाभानां शतमिति राज्यलाभशतम् (ष० तत्०) तस्मात्। अपराद्धेषु (अप+राध्+क्त), विस्मृतः (वि+स्मृ+क्त)।

गुरुजनम्—अपने से बड़े जन। पद्मावती से वासवदत्ता बड़ी थी; अतः उसके लिए वह गुरुजन है। एक बात ध्यान देने योग्य है कि पद्मावती को जहाँ भी अवसर मिलता है वह अपने उच्च चरित्र के अनुरूप कुछ-न-कुछ अवश्य कहती या करती है। सम्पूर्ण नाटक में एक भी ऐसा अवसर वह हाथ से नहीं जाने देती।

न सदृशी संवेति—पद्मावती को वह चित्र आवन्तिका-जैसा लगा। उसने उदयन से पूछा—यह चित्र आर्या वासवदत्ता की यथार्थ प्रतिकृति है या इसमें कुछ

अन्तर है ? इस पर उदयन कहता है—प्रतिकृति नहीं, वरन् कहना चाहिए वही (वासवदत्ता) है।

पद्य १३—प्रियजन की कोई भी वस्तु विरह में उसके प्रति प्रेम को उद्दीप्त करती है। प्रथम अङ्क में हमने ब्रह्मचारी से सुना था "तस्याः शरीरोपभुक्तानि दग्धशेषाणि आभरणानि परिष्वज्य राजा मोहमुपगतः" (पृ० १८)। इस अङ्क के आरम्भ में वह उसकी वीणा को देखकर व्याकुल हो उठा "चिरप्रसुप्तः कामो मे वीणया प्रतिबोधितः।" अब वासवदत्ता के चित्र को देखकर वह विलाप कर उठा। 'अभिज्ञानशाकुन्तल' का दुष्यन्त छठे अंक में अँगूठी को देखकर प्रिया को याद करता है। इसी कारण वहाँ वह अँगूठी को कोसता है "अये इदं तावत्...शोच-नीयम्।" इसी प्रकार तेरहवें पद्य में भी वह अँगूठी को उपालम्भ देता है, और बाद में स्वनिर्मित चित्र के आधार पर शकुन्तला को याद करता है। यहाँ भी उदयन वासवदत्ता के चित्र को देखकर पुनः शोकाभिभूत हो जाता है। स्निग्धस्य (स्निह् + क्त) प्रिय, कोमल, मनोहर। मुखमाधुर्यम्—मुखस्य माधुर्यम् (मधुरस्य भावः, मधुर + ष्यञ्) लावण्य, सौन्दर्य। सौन्दर्य विश्रान्तिदायक एवं तृप्तिजनक भी हो सकता है और कामोद्दीपक भी। माधुर्य तृप्तिदायक सौन्दर्य को कहेंगे— "अहो मधुरमासां दर्शनम्" (शा० प्र० अंक), "किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्" (शाकु० १-१८) इत्यादि में इसी शान्त सौन्दर्य की अभिव्यक्ति 'मधुर' शब्द से की गई है। वासवदत्ता का सौन्दर्य भी क्षणिक उत्तेजक न होकर स्थिर, शान्त एवं निवृत्तिमय है। एक ओर यह लावण्य और कोमलता और दूसरी ओर अग्नि की प्रचण्डता एवं भीषणता। "अग्निरक्नोपनो भवति स्थौलाष्ठीविः, न क्नोपयति न स्नेहयति" (निरुक्त ७-४-१४)। अग्नि रूक्ष या शुष्क करने वाली होती है अतः इसे अग्नि कहते हैं। अग्नि के इस निर्वचन की पृष्ठभूमि में 'स्निग्धस्य' शब्द का प्रयोग बहुत अर्थपूर्ण है।

आर्यपुत्रस्य०—पद्मावती अपने निश्चय के लिए उदयन के चित्र को देखना चाहती है। यदि उदयन का चित्र यथार्थ होगा तो उसी चित्रकार द्वारा बनाया गया वासवदत्ता का चित्र भी निश्चित रूप से यथार्थ ही होगा। उदयन और उसके चित्र दोनों को वह साक्षात् देख सकती है। पर वासवदत्ता के चित्र का मिलान नहीं कर सकती, क्योंकि वासवदत्ता उपस्थित नहीं है।

आर्यायाः सदृशी—उदयन से चित्र को देखकर उसने चित्रकार की निपुणता पर विश्वास कर लिया। इसी तर्क के आधार पर उसने वासवदत्ता के चित्र की प्रामाणिकता का निश्चय कर लिया।

प्रहृष्टोद्विग्नामिव—पद्मावती को लगभग निश्चय हो गया है कि आवन्तिका

वास्तव में वासवदत्ता ही है। आदौ प्रहृष्टा पश्चात् उद्विग्ना इति प्रहृष्टोद्विग्ना नाम् (कर्मधारयः)। वासवदत्ता मरी नहीं, जीवित है, इससे उसे प्रसन्नता हुई है। वह वही है अतः पद्मावती की आदरणीया है, गुरुजन है "गुरुजनमभिवादयितु-मिच्छामि।" परन्तु आवन्तिका के रूप में साथ रहते हुए उसने सखीभाव से व्यवहार किया है। औपचारिकता का निर्वाह वह नहीं कर पाई है। इस कारण वह कुछ उद्विग्न एवं व्याकुल हुई है। यहां व्याकुलता का कारण, वासवदत्ता के अपने रूप में आ जाने से उदयन के पास पद्मावती का द्वितीय स्थान होगा, यह नहीं समझना चाहिए। यह भाव यद्यपि स्त्री-स्वभाव के अधिक अनुकूल है, पर जैसा चरित्र भास ने पद्मावती का प्रस्तुत किया है उसके प्रतिकूल है। वह स्वयं भी आगे कहती है—"आर्ये! सखिजनसमुदाचारेणाजानत्याऽतिक्रान्तः समुदाचारः। तच्छीर्षेण प्रसादयामि।" अथवा—आवन्तिका वास्तव में वासवदत्ता है इससे उदयन का सारा शोक समाप्त हो जाएगा। इस विचार से उसकी आकृति पर प्रसन्नता उभर आई है। पर यदि आवन्तिका वासवदत्ता न हुई तो इससे उदयन को और भी दुःख होगा। वासवदत्ता की उपलब्धि की आशा से जब वह आवन्तिका को देखेगा और वह वासवदत्ता नहीं होगी, तो उदयन को निराशा बहुत अधिक होगी। इस विचार से वह व्याकुल हो उठी है। हमें प्रथम व्याख्या अधिक उचित जान पड़ती है।

पृ० ६२—आर्या पश्यतु—अपनी धरोहर की चरित्र-रक्षा के प्रति वह अन्त तक जागरूक है। उदयन पुरुष होने से उसे नहीं देख सकता, धाय देख सकती है। धाय वासवदत्ता की उपमाता है अतः वह ठीक से पहचान भी सकेगी कि वास्तव में वह वासवदत्ता है या नहीं।

पद्य १४—भगिनी (भग + इनि + ङीप्) भङ्गोंऽशः पित्र्यादि रिक्थे विद्यते अस्याः सा। व्यक्तम् (वि + अञ्च् + क्त)। 'अन्या' कोई दूसरी। ब्राह्मण की बहन होने से यह वासवदत्ता से भिन्न कोई दूसरी होगी। परस्परगता (परः परः इति विग्रहे समासवद्भावे पूर्वपदस्य सुः)। परं परं गता इति परस्परगता (द्वि० तत्०) अन्योऽन्यं प्राप्ता रूपतुल्यता रूपस्य तुल्यता इति (ष० तत्पु०)। तुलया सम्मितमिति तुल्यम् (तुला + यत्) तस्य भावः तुल्यता, समानता। रूपसादृश्य, एक-दूसरे में गया हुआ, एक-जैसा रूप, एक से अधिक में गया हुआ अर्थात् रूप-सादृश्य, दुनिया में देखा ही जाता है। वासवदत्ता उदयन को इतनी प्रिय है कि उसकी पुनरुपलब्धि की आशा पर वह अनायास विश्वास नहीं कर पाता। प्रायः समाचार जितना अधिक शुभ हो उतना ही उस पर सरलता से विश्वास नहीं होता। यह अविश्वास वास्तव में प्रेमातिशय का ही द्योतक होता है।

शीघ्रं प्रवेश्यताम्—यहां शीघ्र शब्द में सन्निहित उदयन की आतुरता स्पष्ट झलकती है।

आभ्यन्तरसमुदाचारेण—अभ्यन्तरेऽन्तर्गृहे कर्तव्येन परिपालनीयेन वा समुदाचारेण स्वागतोपचारादिना (सम् + उद् + आ + चर् + घञ्)। राजा के यहां आया ब्राह्मण सामान्यतः विशेष आदर का अधिकारी होता है। फिर यह ब्राह्मण तो उज्जयिनी से आया है। इसके अतिरिक्त उसकी पत्नी (पद्मावती) के पास इस ब्राह्मण की धरोहर है। और सबसे बढ़कर उसकी बहन का रूप वासवदत्ता-जैसा ही है। इन्हीं से उदयन में आतुरता है और ब्राह्मण के विशेष सत्कार के लिए वह आदेश देता है। अन्यथा बिना उसके कहे भी राजमहल के नियमों का पालन होता ही।

पद्य १५—**राजमहिषीम्**—राज्ञः महिषी इति (ष० तत्पु०) **"कृताभिषेका महिषी भोगिन्योऽन्या नृपस्त्रियः"** अमरकोश। वासवदत्ता उदयन के लिए महिषी से बढ़कर 'प्रिया' थी। उदयन को 'पत्नी' वासवदत्ता का विरह इतना नहीं था जितना 'प्रिया' वासवदत्ता का, फिर भी यौगन्धरायण राजकीय पुरुष (प्रधान अमात्य) होने के कारण **'राजमहिषी'** इस औपचारिक शब्द का प्रयोग करता है।

कामम्—(अव्यय) इच्छानुसार, **यथेच्छं यथा स्यात्तथा**। **'मया इदं कार्यं कामं कृतम्'**। अथवा—स्वीकारोक्ति-सूचक भी यह अव्यय होता है। **'कामं मया इदं कृतम्'** (सचमुच मैंने यह किया) इस प्रकार अर्थ होगा।

किं वक्ष्यतीति०—इसी अंक के चतुर्थ पद्य का प्रथम चरण भी यही है। उदयन का हृदय शंकित था कि प्रद्योत न जाने क्या कहेगा और यौगन्धरायण का हृदय शंकित है कि उदयन क्या कहेगा। **श्रुतपूर्व इव स्वरः**—इस कथन को स्वगत और शेष को प्रकट होना चाहिए।

पृ० ९४—**दिष्ट्या इदानीमपि स्मरति**—वासवदत्ता का यौगन्धरायण पर पूरा विश्वास है। सारी योजना कहां कैसी करवट लेती है, इस विषय में वह कुछ नहीं जानती। वह केवल यही जानती है कि उसे किसी भी अवस्था में प्रकट नहीं होना है। परिस्थितियां अनेक मोड़ खाकर बदल गईं। वासवदत्ता का हृदय सब-कुछ देखता रहा, सहता रहा। जो कुछ उसके साथ हुआ उससे अधिक की कल्पना वह नहीं कर सकती **"इतः परं किम्"**। अब यौगन्धरायण आया है। उसका **"इदानीमपि स्मरति"** वाक्य समग्र मनोव्यथा को अपने अन्तराल में छिपाये हुए है।

साक्षिमत्—क्रियाविशेषण। **साक्षिमत् यथा भवति तथा**। **अधिकरणम्**

(अधि+कृ+ल्युट्) यहाँ 'न्यायालय' अर्थ में इस शब्द का प्रयोग हुआ है, यह अर्थ कोशसम्मत है "स्वान्दोषान् कथयन्ति नाधिकरणे"। उदयन का अभप्राय यह है कि धरोहर को गवाह की उपस्थिति में लौटाना चाहिए। न्यायालय का काम तृतीय पक्ष का व्यक्ति ही कर सकता है। प्रस्तुत संदर्भ में एक पक्ष राजपरिवार और दूसरा पक्ष ब्राह्मण है। दोनों से भिन्न रैभ्य और वसुन्धरा से वह साक्षी या न्यायालय के सम्बन्ध से न्यायाधीश होने को कहता है। अधिकरण शब्द का अभिधेयार्थ न्यायालय और लक्ष्यार्थ न्यायाधीश होगा।

प्रविश त्वसभ्यन्तरम्—राजकीय समुदाचार के अनुसार राजपत्नियों को बाहर के व्यक्ति के सामने अकारण नहीं आना चाहिए। यहाँ (ब्राह्मण) बाह्य व्यक्ति उपस्थित है।

पद्य १६—ब्राह्मणवेषधारी यौगन्धरायण पाँच बातों की दुहाई देकर अपनी बहन वापस माँगता है। **भारतानाम्०—भरतस्य गोत्रापत्यानि पुमांसः भारताः तेषां कुले**। उस समय भरत-वंश बहुत उच्च और अच्छा माना जाता था। लोगों के मन में इस वंश के प्रति आदरभाव था। प्रद्योत के शब्दों में, उदयन को अपने इस वंश का गर्व था "**उत्सेकयत्येनं प्रकाशराजर्षिनामधेयो वेदाक्षरसमवायप्रविष्टो भारतो वंशः**" (प्रतिज्ञायौगन्ध० अङ्क २, १०वें पद्य के बाद)। प्रतिज्ञायौगन्धरायण के ही चतुर्थ अङ्क के १९वें पद्य में उदयन के भरतवंश से सम्बन्धित होने का विशेष निर्देश मिलता है "**भारतानां कुले जातो वत्सानामूर्जितः पतिः।**" दुष्यन्त और शकुन्तला के पुत्र भरत ने मान्धाता के समय लगभग नष्ट हुए पौरव साम्राज्य की पुनः स्थापना की। वत्सराज्य सहित गङ्गा-यमुना द्वीप के उत्तर भाग में यह साम्राज्य प्रतिष्ठित था। भरत के वंशज भारत कहलाये। इसी पौरव वंश में या भरतकुल में अर्जुन के पौत्र परीक्षित द्वितीय के बाद छब्बीसवाँ राजा उदयन हुआ (प्राचीन भारत, डॉ० आर० सी० मजूमदार, पृष्ठ ९०, ९३)। उदयन का समय छठी शताब्दी ई० पू० का उत्तरार्द्ध है (मजूमदार, पृष्ठ ९६)।

विनीतः—(वि+नी+क्त) विनम्र, भद्र, शिष्ट। उदयन में यह गुण कूट-कूट कर भरा था। इसी आधार पर उसे पद्मावती के शब्दों में दाक्षिण्यगुणोपेत कहा था। **ज्ञानवान्**—उदयन विद्वान् था। वह विशेषज्ञ था। दर्शक ने अपनी बहन का विवाह निश्चित करते हुए उसके इस गुण को भी महत्त्व दिया था "**अभिजनविज्ञानवयोरूपं दृष्ट्वा**" (पृ० ३०)। **शुचिः** (शुच्+इन्) यहाँ इसका अर्थ पवित्र, निष्कपट, ईमानदार है। निष्कपट एवं पवित्र चरित्रवान् व्यक्ति के लिए किसी की बहन का [illegible] रोकना उचित नहीं। सबसे बढ़कर उदयन "**राजधर्मस्य देशिकः** (देश+

ठन्+इक्) है। पथ-प्रदर्शक जो राजधर्म का प्रवर्तक हो, दूसरों के लिए धर्म-मार्ग को जो प्रशस्त करता हो वह स्वयं ही यदि उस मार्ग से च्युत हो जायेगा तो कितना अनर्थ होगा। "यथा राजा तथा प्रजा" को ध्यान में रखते हुए आपको यह नहीं करना चाहिए। उपर्युक्त युक्तियों में क्रमशः बाद की युक्ति अधिक प्रबल होती गई है।

यवनिका—युनाति आवृणोति अनया सा यवनिका (यु+ल्युट्+ङीप्+कन्+टाप्, ह्रस्व) अवगुण्ठन, जिससे आवन्तिका आवृत थी।

पृ० ९६—पद्य १७—उदयन को अपनी आँखों पर विश्वास नहीं हो रहा है। स्वप्न-प्रसङ्ग में समुद्रगृह में वह बस एक झलक दिखाकर लुप्त हो गई थी। अब फिर क्या पता, उसी प्रकार दिख कर लुप्त हो जाय? पूर्वानुभूत इसी प्रवञ्चना के कारण वह प्रत्यक्ष दिखाई देने पर भी इस पर विश्वास नहीं करना चाहता।

यौगन्धरायण—युगन्धरस्यापत्यं पुमान् यौगन्धरायणः (युगन्धर+फक् [आयन्])। युगं धरतीति युगन्धरः (युग+धृ+खच्)। 'युग' शब्द का अभिधेयार्थ 'जूआ' और लक्ष्यार्थ 'भार' है। जूए (भार) को कन्धे पर धारण करने के कारण ही बैल को 'युगन्धर' कहते हैं। उदयन के सम्पूर्ण राज्य का भार भी यौगन्धरायण ने अपने कन्धों पर उठाया हुआ था। "**यौगन्धरायणो भवान् ननु**" का अभिप्राय है—आप सचमुच '**यौगन्धरायण**' हैं। यहाँ '**यौगन्धरायण**' शब्द का प्रयोग इसी अन्तर्हित अर्थ की दृष्टि से हुआ है। अर्थात् तुम सचमुच में राज्य के भार को वहन करने वाले हो। यौगन्धरायण के इसी उत्तरदायित्व के सम्यक् निर्वाह का विवेचन अगले पद्य में उदयन ने किया है।

पद्य १८—मिथ्योन्मादैः—कृत्रिम उन्माद-व्यवहारों से। यहाँ प्रतिज्ञायौगन्धरायण की कथा की ओर संकेत है। जब उदयन प्रद्योत के यहाँ बन्दी था तो यौगन्धरायण उन्मत्त बनकर, श्रमणक वेशधारी रुमण्वान् और वसन्तक के साथ उज्जयिनी में गया था। उन्मत्त बनकर ही वह उदयन को वहाँ से छुटा पाया था। **युद्धैः**—अभी-अभी आरुणि को जो परास्त किया है उस युद्ध में भी यौगन्धरायण का मुख्य हाथ था। उसी की योजना से मगध-सैन्य की सहायता उदयन को मिल सकी थी। **शास्त्रदृष्टैः**—शास्त्र-सम्मत सलाहें जो मन्त्री होने के नाते [illegible] पर वह उदयन को देता रहता है। उसके इन प्रयत्नों से ही उदयन का [illegible] हुआ है।

शीर्षेण प्रसादयामि—यह मुहावरा है। सिर से प्रसन्न [illegible] पर सिर रख कर या सिर झुकाकर क्षमा माँगना। वासवदत्ता [illegible] ने अब तक उसे ब्राह्मण की बहन समझकर सखी-जैसा वर्ताव [illegible] गुरुजन के प्रति कर्तव्य का उल्लंघन प्रतीत हो रहा है।

परिपालयामि को वर्तमानसामीप्य भविष्यकाल के अर्थ में प्रयुक्त मानेंगे। इस प्रकार —सम्पूर्ण वत्सराज्य का पालन (शासन) कर सकेंगे—यह भाव होगा। अर्थात्, देवी वासवदत्ता को छिपाकर आपका दूसरा विवाह कराके उस सम्बन्ध से प्राप्त सैन्य सहायता से आरुणि को परास्त करके अपना खोया हुआ राज्य वापस लेंगे और फिर सम्पूर्ण वत्सराज्य का संरक्षण कर सकेंगे।

पृ० ९८—पुष्पकभद्रादिभिः—वासवदत्ता को पद्मावती के पास धरोहर-रूप में रखने के कई कारण थे—(१) यह लगभग निश्चित था कि वह आपकी पत्नी बनेगी "न हि सिद्धवाक्यान्युत्क्रम्य गच्छति विधिः सुपरीक्षितानि" (पृ० १४)। (२) अन्त में, मिलन के समय वह वासवदत्ता के चरित्र की साक्षी होगी "इहात्रभवती मगधराजपुत्री विश्वासस्थानं भविष्यतीति" (पृ० १४)। (३) साथ रहकर दोनों एक-दूसरे की भद्रता और शालीनता को निकट से जान लेंगी और फिर सपत्नी-रूप में रहने पर भी परस्पर प्रेम एवं विश्वास बना रहेगा, इससे राज-परिवार में सुख एवं शान्ति रहेगी। (४) राजमहल में पद्मावती के साथ रहते हुए वासवदत्ता को किसी प्रकार का शारीरिक कष्ट नहीं होगा।

भरतवाक्यम्—भरतानां नटानां वाक्यमिति भरतवाक्यम्। भरतमुनि के सम्बन्ध से अभिनेताओं को भी भरत कहते हैं, अथवा भरतमुनि के प्रति आदर प्रकट करने के लिए ही इसकी यह संज्ञा है। नाटक की समाप्ति पर सभी अभिनेता एक साथ मिलकर भरतवाक्य बोलते हैं। इसमें प्रायः तत्कालीन राजा की मङ्गल-कामना होती है। भास ने सीधे ही बिना किसी अवतरणिका के 'भरतवाक्यम्' का प्रयोग किया है। बाद के नाटकों में प्रायः कोई प्रधान पात्र नायक से पूछता है "किं ते भूयः प्रियमुपकरोमि" इस पर नायक, जो कुछ उपकार और उपलब्धि उसे नाटक के अन्त में मिल चुकी होती है, उससे पूर्ण सन्तोष प्रकट करता है और फिर सबके उपकार के लिए किसी मङ्गल की कामना करता है "किमतः परमपि प्रियमस्ति तथापि इदमस्तु"। ऐसा प्रतीत होता है कि सुखान्त नाटक होने के कारण नायक का तो, नाटक की समाप्ति पर उद्देश्य की प्राप्ति होने से, मङ्गल हो ही जाता है। उसके बाद एक सामान्य मङ्गल-कामना के लिए, जिसका सम्बन्ध प्रकृत कथा से न होने के कारण अभिनेताओं से न होकर सभी लोगों से होता है, प्रार्थना की जाती है। तत्कालीन राजा चिरकाल तक राज्य करें, देवगण कल्याण करें, आदि-आदि इस मङ्गल-कामना का स्वरूप होता है। स्व-कल्याण के बाद सर्व-कल्याण की इस अभिव्यक्ति में "सर्वे भवन्तु सुखिनः" का भाव सन्निहित है। नाटक की इस प्रकार की समाप्ति भारतीय परम्परा के अनुरूप ही है।

पद्य १९—एकातपत्राङ्काम्—आतपात् त्रायते इति आतपत्रम्, छत्र

परिशिष्ट—२

प्रधान पात्रों का चरित्रचित्रण

उदयन—"भारतानां कुले जातः" (६४), "अस्ति वत्सराज उदयनो नाम" (२८) स्वप्नवासवदत्त में भास ने उदयन का ऐतिहासिक परिचय केवलमात्र इतना ही दिया है। स्वप्नवासवदत्त से पहले भास ने 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' नाटक लिखा था। उदयन शतानीक का पुत्र था, उसके नाना का नाम सहस्रानीक था और कौशाम्बी उसकी राजधानी थी। उदयन का यह परिचय भास ने प्रतिज्ञायौगन्धरायण में दिया है। सब कुछ मिलाकर भी परिचय बहुत नहीं है। नाटककार कवि भास से किसी पात्र के ऐतिहासिक परिचय की अधिक अपेक्षा भी नहीं की जा सकती है। इसके अतिरिक्त भास के समय में उदयन की कथा इतनी प्रसिद्ध थी कि अधिक ऐतिहासिक परिचय की आवश्यकता भी नहीं थी। भास के बाद कालिदास के समय में भी उदयन-सम्बन्धी कथाएँ अवन्तिराज्य में खूब प्रचलित थीं (मेघ० १-३१)।

पौराणिक परम्परा के अनुसार मनु जब पृथ्वी के सम्पूर्ण राज्य को अपने पुत्रों में बाँटने लगे तो अपने नाती पुरूरव ऐल (इला के पुत्र) को प्रतिष्ठान (इलाहाबाद) का राज्य दिया। पुरूरव का प्रपौत्र नहुष अत्यन्त पराक्रमी था। उसने राज्य का विस्तार किया और 'सम्राज्' पद को प्राप्त किया। अपने पाँच पुत्रों में इस राज्य को विभक्त करते समय सबसे छोटे बेटे पुरु को उसने परम्परा-प्राप्त पैतृक राज्य (प्रतिष्ठान) दिया। इन्हीं पुरु के वंशज पौरव कहलाये। मान्धाता के समय इस पौरवराज्य का क्षय हुआ। अयोध्या के राजा सगर की मृत्यु के बाद दुष्यन्त ने पुनः पौरव-राज्य का उद्धार किया। शकुन्तला के गर्भ से इन्हीं दुष्यन्त का पुत्र भरत हुआ। इस समय पौरव-वंशीय राज्य गंगा-यमुना द्वीप के उत्तर में अवस्थित था। सम्भवतः प्रतिष्ठान इस समय तक वत्स-राज्य में मिल चुका था। इसी भरत के वंशज 'भारत' कहलाये। भरत वंश के पाँचवें राजा हस्तिन् ने हस्तिनापुर बसाया और इसे राज्य की राजधानी बनाया। हस्तिन् ने राज्य का विस्तार करके पांचाल तथा अन्य समीपवर्ती प्रदेशों को अपने राज्य में मिला लिया। महाभारतयुद्ध के बाद पाण्डव भारत में प्रबल राजनीतिक शक्ति के रूप में शेष रहे। अर्जुन के पौत्र परीक्षित द्वितीय से आरम्भ करके २६ पौरव राजाओं का उल्लेख पुराणों में उपलब्ध होता है। जनमेजय के बाद चौथे राजा निचक्षु के समय राज्य की राजधानी

नोट—प्रत्येक उद्धरण के साथ कोष्ठक में पृष्ठ-संख्या दी गई है।

हस्तिनापुर गंगा की बाढ़ में बह गई। फलत: कौशाम्बी को राजधानी बनाया गया। किन्तु पौरव राज्य धीरे-धीरे क्षीण होता गया। इसी पौरव राज्य में अथवा भरत वंश में (परीक्षित द्वितीय से आरम्भ करके) २६वें राजा उदयन हुए। उदयन का राज्य-काल छठी शताब्दी ईसापूर्व का उत्तरार्द्ध है। अवन्ति में प्रद्योत, मगध में बिम्बिसार[1] और कोशल में प्रसेनजित् ये सब समकालीन हैं। वत्सदेश की राजधानी कौशाम्बी यमुना के तट पर इलाहाबाद के पास थी।[2]

स्वप्नवासवदत्त उदयन और वासवदत्ता के अतिशय प्रेम पर आधारित नाटक है। उदयन के चरित्र के 'प्रेमी' अङ्ग का सर्वाङ्गीण विकास इस नाटक में हुआ है। नाटक की सभी उक्तियाँ और उदयन का सारा कार्य-कलाप मुख्य रूप से उसके प्रेमी मन का ही चित्रण करता है। अन्य सभी बातें गौण हैं। अपनी पत्नी वासवदत्ता से उदयन अत्यधिक प्रेम करता है। उभयपक्षीय प्रेम के इतस्तत: ही नाटक की सारी घटनाओं का ताना-बाना बुना गया है। यही प्रेम नाटक का केन्द्रबिन्दु है। सभी सूक्तियाँ, समग्र वाञ्छित मनुष्य-स्वभाव-विश्लेषण, इसी केन्द्रबिन्दु पर आश्रित हैं।

नाटक का स्थूल (घटना-रूप) उद्देश्य आरुणि से अपने राज्य को वापस लेना है। इसमें सहायक मागध सैन्य-बल है। मगध की राजकुमारी पद्मावती से उदयन का विवाह-सम्बन्ध हो जाए तो यह सहायता सरलता से मिल सकती है और खोये राज्य को पुन: प्राप्त किया जा सकता है। किन्तु वासवदत्ता के जीवित रहते हुए उदयन से द्वितीय विवाह-प्रस्ताव करने का किसी को साहस भी नहीं था। परिणामतः उदयन के परम्पराप्राप्त प्रधान सचिव यौगन्धरायण को षड्यन्त्र करना पड़ा, वासवदत्ता को मृत घोषित किया गया। यौगन्धरायण की इस योजना पर सारा नाटक अवस्थित है। उदयन का वासवदत्ता से प्रेम अद्भुत है। उसके लिए इस प्रेम के एक अंश का भी मूल्य कुलक्रमागत राज्य के मूल्य से कहीं अधिक है। अपने राज्य को पाने के लिए भी वह इस समग्र प्रेम का अंशमात्र देने को तैयार नहीं है।

यौगन्धरायण की सफल योजना के परिणामस्वरूप उदयन का पद्मावती से विवाह हो जाता है, किन्तु कभी एक क्षण के लिए भी वह वासवदत्ता की स्मृति को

---

१. 'स्वप्नवासवदत्त' में उदयन के समय मगध में दर्शक का प्रसङ्ग है। पुराणों के अनुसार दर्शक अजातशत्रु के पुत्र थे। मजूमदार आदि प्राचीन भारत के इतिहास-लेखकों के अनुसार ४७५ ई० पू० में अजातशत्रु की मृत्यु हुई और उदयी मगध का अधिपति बना। बिम्बिसार अजातशत्रु का पिता था जिसे मारकर अजातशत्रु ने राज्य प्राप्त किया था।

२. यद्यपि चरित्र-चित्रण से उपर्युक्त ऐतिहासिक विवेचन का कोई सम्बन्ध नहीं है, फिर भी अन्यत्र उपयुक्त अवसर न होने के कारण उदयन-सम्बन्धी ऐतिहासिक परिचय यहाँ दे दिया है।

अपने हृदय से नहीं हटाता। पद्मावती के प्रति उसके हृदय में अनुराग उदय हो रहा है, पर वासवदत्ता के प्रति उसका प्रेम अब भी अक्षुण्ण है—"तैरद्यापि सशल्यमेव हृदयं भूयश्च विद्धा वयम्" (४४)। पद्मावती के साथ विवाह को वह "कालक्रमेण पुनरागतदारभारः (६२)" कहकर परिस्थितियों का परिणाम मात्र मानता है। पद्मावती के रूप में उसे पत्नी प्राप्त हो गई है पर कान्ता का स्थान रिक्त ही है "वयमिव कान्तावियुक्ताः स्युः" (४८)। विदूषक से हठपूर्वक पूछे जाने पर वह स्पष्ट शब्दों में अपने मन को वासवदत्ता में संलग्न कहता है—"वासवदत्तावद्धं न तु तावन्मे मनो हरति" (५२)।

उदयन के मानस-पटल पर अङ्कित वासवदत्ता की छवि नाटक में आदि से अन्त तक देखी जा सकती है। पद्मावती ने जब वीणा सिखा देने के लिए उदयन से कहा तो वह कुछ भी न कह कर आह भर कर चुप हो गया "अभणित्वा किञ्चिद् दीर्घं निःश्वस्य तूष्णीकः संवृत्तः" (४४)। उदयन का यह दीर्घ निःश्वास वासवदत्ता की याद आजाने के कारण ही है। पद्मावती भी ऐसा ही सोचती है—"तर्कयामि आर्याया वासवदत्ताया गुणान् स्मृत्वा दक्षिणतया ममाग्रतो न रोदिति" (४४)। जीवित पत्नी की उपस्थिति में मृत पत्नी को ही हर समय याद करते रहना पूर्व पत्नी के प्रति भले ही अद्भुत प्रेम-प्रकाशन हो; किन्तु वर्तमान पत्नी के प्रति अवश्य अन्याय है। इसी सम्भावना के कारण वासवदत्ता (आवन्तिका) उदयन और पद्मावती के विवाह को अनुचित कहती है "अत्याहितम्"। वासवदत्ता की यह सम्भावना ठीक भी निकली है, किन्तु उदयन ने अपनी शालीनता के कारण पद्मावती के प्रति इस विषम परिस्थिति को नहीं आने दिया है। पद्मावती भी इस बात को जानती है। उदयन के वासवदत्ता-विषयक अनुराग पर दासी के कुछ रोष प्रकट करने पर वह कहती है "मा मैवम्। सदाक्षिण्य एव आर्यपुत्रः य इदानीमपि आर्याया वासवदत्ताया गुणान् स्मरति" (५२)। वासवदत्ता को याद करते हुए भी दूसरे की भावनाओं को आदर देना उदयन के चरित्र की विशेषता है। दर्शक के यहाँ विशिष्ट अतिथिरूप में अतएव सावधान रहते हुए भी उदयन के मुँह से "वसन्तक! सर्वमेतत् कथयिष्ये देव्यै वासवदत्तायै" (५४) इतने स्वाभाविक ढंग से निकलता है मानो वस्तुतः वासवदत्ता जीवित हो। वासवदत्ता के निरन्तर उसकी स्मृति में बने रहने के कारण ही ऐसा होता है। उदयन भी इसका यही कारण मानता है "ततो वाणी तथैवेयं पूर्वाभ्यासेन निस्सृता"(५४)। एक अन्य पद्य में "दुःखं त्यक्तुं बद्धमूलोऽनुरागः, स्मृत्वा स्मृत्वा याति दुःखं नवत्वम्" (५६) वह वासवदत्ता की स्मृति से आच्छादित अपने हृदय का ठीक-ठीक विश्लेषण करता है। उदयन ही नहीं, बद्धमूल प्रेम को तो कोई भी नहीं छोड़ सकता। पाँचवें अङ्क के "स्मराम्यवन्त्याधिपतेः सुतायाः"(६८) और "बहुशोऽप्युपदेशेषु०" (६८) पद्यों में उज्जयिनी का नाम सुनने से उदयन वासवदत्ता की याद में इतना खो जाता है कि स्वप्न में उसी का नाम लेकर बड़बड़ाने लगता है। वह स्वयं तो वासवदत्ता की याद में तड़पता ही है, घोषवती को, जो जड़ होने के कारण वासवदत्ता को याद

नहीं करती, उपालम्भ भी देता है "अस्निग्धासि घोषवति या तपस्विन्या न स्मरसि" (८०)।

पाँचवें और छठे अङ्क के मध्य जो युद्ध की घटना घटी उसमें बहुत अधिक समय नहीं लगा है। अधिक से अधिक सात-आठ दिन में आरुणि को परास्त करके उदयन अपनी राजधानी में लौट आया है। इस समय में वासवदत्ता की स्मृति सम्भवतः युद्ध में रत होने के कारण कुछ मन्द पड़ गई है। वीणा को देखकर स्मृति फिर से उभर आई है। यह थोड़े से समय का स्मृति-वियोग भी उसे पहाड़-जैसा लगता है "चिरप्रसुप्तः कामो मे वीणया प्रतिबोधितः" (८०)। सचमुच में प्रिय का विरह-काल बिताए नहीं बीतता "योगे वियोगे दिवसोऽङ्गनाया अणोरणीयान् महतो महीयान्।" उज्जयिनी से आया काञ्चुकीय उदयन को धैर्य धारण करने के लिए कहता है तो वह वासवदत्ता को देहान्तर में भी भूलना असम्भव बताता है "कथं सा न मया शक्या स्मर्तुं देहान्तरेष्वपि" (८८)।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि उदयन के स्मृति-पटल पर वासवदत्ता स्थायी रूप से अंकित है। पाँचवें अङ्क के जिस सुन्दर दृश्य के आधार पर नाटक का नामकरण हुआ है उसकी पृष्ठभूमि भी वासवदत्ता की स्मृति ही है। इसी स्मृति के आश्रय से विरही उदयन का उत्कृष्ट चित्रण नाटक में हो पाया है। यही वासवदत्ता के प्रति उसके अनुपम प्रेम की अभिव्यक्ति है। स्वप्न में भी वासवदत्ता का सान्निध्य यदि मिले तो वह चिरनिद्रा की कामना करता है। यदि चित्त की विक्षिप्तावस्था में वासवदत्ता का सामीप्य अनुभव हो तो वह सदा विक्षिप्त रहना पसन्द करेगा "यदि तावदयं स्वप्नो धन्यमप्रतिबोधनम्। अथायं विभ्रमो वा स्याद् विभ्रमो ह्यस्तु मे चिरम्" (७४)। वासवदत्ता के प्रति इस अतिशय प्रेम के कारण ही स्वप्न में भी उत्पन्न स्पर्श उसे रोमाञ्चित कर देता है। उदयन के इस अत्यधिक प्रेम के कारण ही वासवदत्ता मरकर भी नहीं मरी है "उपरताप्यनुपरता महासेनपुत्री एवमनुकम्प्यमानाऽऽर्यपुत्रेण" (८८)। उदयन के वियोग-दुःख को अतुलनीय बताते हुए इसी प्रकार की बात ब्रह्मचारी भी कहता है "नैवेदानीं तादृशाश्चक्रवाका नैवाप्यन्ये स्त्रीविशेषैर्वियुक्ताः। धन्या सा स्त्री यां तथा वेत्ति भर्ता भर्तृस्नेहात्सा हि दग्धाप्यदग्धा" (२०)।

'प्रेमपरता' उदयन के चरित्र का, प्रस्तुत नाटक के आधार पर, प्रधान अङ्ग है। इस प्रेम का आधार उसके हृदय में स्थित वासवदत्ता का सौन्दर्य एवं गुण हैं। इसी प्रेमी मन के कारण उसके स्वभाव का एक विशेष गुण है सानुक्रोशत्व। वह दयालु एवं दयार्द्रचित्त व्यक्ति है। सानुक्रोश होने के कारण ही वासवदत्ता के मृत्यु-समाचार को सुनकर वह स्वयं आग में जलकर मर जाना चाहता है। वासवदत्ता भी उसके इस गुण को पहचानती है "जानामि जानाम्यार्यपुत्रस्य मयि सानुक्रोशत्वम्" (१८)। पद्मावती उदयन से प्रेम करती है, उसके गुणों की प्रशंसक है, उससे विवाह करना चाहती है, यह सब उदयन के सानुक्रोश होने के कारण ही है "चेटी—तस्य

गुणान् भर्तृदारिका अभिलषति। वासवदत्ता—केन कारणेन ? चेटी—सानुक्रोश इति" (२८)। उज्जयिनी में जब उदयन वासवदत्ता को वीणा सिखाता था तो वासवदत्ता भी उसके इसी सानुक्रोशत्व पर मर मिटी थी "जानामि जानामि अयमपि जन एवमुन्मादितः" (२८)।

सानुक्रोशत्व से सम्बद्ध एक और गुण 'दाक्षिण्य' उदयन में है। 'दाक्षिण्यं परच्छन्दानुवर्तनम्' मल्लिनाथ के अनुसार दूसरे की इच्छानुसार, दूसरे का ध्यान रखकर व्यवहार करना दाक्षिण्य है। 'दक्षिणः सरलोदारपरच्छन्दानुवर्तिषु' यह शाश्वत कोष-सम्मत दक्षिण का अर्थ है। नाट्यशास्त्र के अनुसार अनेक पत्नियों से समान प्रेम करने वाला नायक दक्षिण नायक कहलाता है। पद्मावती उदयन की दूसरी पत्नी है। वासवदत्ता की याद आने पर भी इसके सामने वह दाक्षिण्य के कारण ही अपने को रोके रखता है "वासवदत्ताया गुणान् स्मृत्वा दक्षिणतया ममाग्रतो न रोदिति" (४४)। मृत वासवदत्ता को भी उदयन जो याद करता है वह भी अपने इसी दक्षिण स्वभाव के कारण "सदाक्षिण्य एवार्यपुत्रो य इदानीमपि आर्याया वासवदत्ताया गुणान् स्मरति" (५२)। स्वप्न में भी जब उसे वासवदत्ता रुष्ट प्रतीत होती है तो वह दक्षिण होने के कारण ही कहता है "विरचिकार्थं भवतीं प्रसादयामि" (७२)।

सानुक्रोश और दक्षिण, दोनों ही गुणों का आधार हृदय की कोमलता है। इसी कोमल हृदय के कारण वह परदुःख-कातर है। विदूषक जब भौंरों पर कुछ कुपित होता है तो उदयन उसे रोकता है "मा मा भवानेवम्। मधुकर संत्रासः परिहार्यः। पश्य—मधुमदकला मधुकराः...पादन्यासविषण्णा वयमिव कान्तावियुक्ताः स्युः" (४८)। उज्जयिनी में प्रद्योत के घर वह लगभग स्वजन बन कर रहा। प्रद्योत और अङ्गारवती ने उसे अपने पुत्र गोपाल और पालक की तरह समझा "यादृशौ गोपालपालकौ" (८८)। उज्जयिनी से भाग आने के बाद अपने कोमल स्वभाव के कारण ही वह अङ्गारवती को अपने प्रवास के दुःख से दुःखित समझता है "मम प्रवासदुःखार्ता माता कुशलिनी ननु" (८६)। इससे उसके हृदय की सरलता भी द्योतित होती है।

अपने से बड़ों के प्रति उसके मन में आदरभाव भी बहुत है। प्रद्योत के यहाँ से काञ्चुकीय और धाय के आने पर इसी आदरभाव के कारण वह आशङ्कित है। अपराधी पुत्र जैसे पिता से डरता है उसी प्रकार वह भयभीत है (६-४)। आसन से उठकर वह महासेन का सन्देश सुनता है "(आसनादुत्थाय) किमाज्ञापयति महासेनः" (८६)। आदरभाव एवं पूज्य-बुद्धि के कारण ही वह दर्शक की सहायता से प्राप्त राज्य का सारा श्रेय महासेन को देता है "ननु यदुचितान् वत्सान् प्राप्तुं नृपोऽत्र हि कारणम्" (८६)। दूसरे के गुणों को ठीक से समझना और उचित सम्मान देना वह अपना कर्तव्य मानता है। चतुर्थ अङ्क की समाप्ति पर अतिथियों से मिलने के समय तीसरे पहर, वह इसी कारण दर्शक के साथ बैठने के लिए जाता है। वासवदत्ता के बन्धुओं

को अपना स्वजन बताने पर पद्मावती की तुरन्त प्रशंसा करता है "अनुरूपमेतद् भवत्याऽभिहितम् वासवदत्ता स्वजनो मे स्वजन इति" (८२)।

सामाजिक नियमों में वह औचित्य का समर्थक है। उज्जयिनी से आये काञ्चुकीय और धाय से मिलने के समय वह आग्रहपूर्वक पद्मावती को अपने साथ बैठने को कहता है। उसके साथ न रहने में उसे दोष प्रतीत होता है "कलत्रदर्शनार्हं जनं कलत्रदर्शनात् परिहरति, इति बहुदोषमुत्पादयति। तदास्यताम् (८२)।" वासवदत्ता जीवित है, इस शुभ समाचार को देने के लिए जब उज्जयिनी जाने का प्रसङ्ग आता है तो वह पद्मावती को साथ रखना नहीं भूलता "सर्व एव वयं यास्यामो देव्या पद्मावत्या सह" (९८)।

मुख्य रूप से उदयन के इसी उपर्युक्त व्यक्तित्व का चित्रण भास ने स्वप्नवासवदत्त में किया है। वह नाटक का नायक है। स्वभाव की कोमलता के कारण वह धीरललित नायक है। वीणा-वादक उदयन में सचमुच लालित्य का ही आधिक्य है। यद्यपि वह शूरवीर भी है; प्रतिज्ञायौगन्धरायण में उसके चरित्र के इस पहलू का कुछ चित्रण भास ने किया है, किन्तु स्वप्नवासवदत्त में न तो इसका कहीं प्रसङ्ग है और न ही अनुचित रूप से भास ने इसके प्रदर्शन का कहीं आग्रह किया है। पाँचवें अङ्क की समाप्ति पर थोड़ा-सा अवसर आने पर भास ने इस पहलू को अछूता नहीं रहने दिया "उपेत्य नागेन्द्र तुरङ्गतीर्णे...महार्णवाभे युधि नाशयामि" (७६)। स्वप्नवासवदत्त का उदयन सचमुच धीरललित नायक के सिवाय और कुछ नहीं। भास ने उसके व्यक्तित्व के इसी पहलू का पूर्ण चित्र खींचा है और इसमें भास सफल भी रहा है।

उदयन के नायकोचित कुछ स्वाभाविक गुणों का बखान भी नाटक में यथाप्रसङ्ग हुआ है। वह महापुरुष होने के नाते धैर्यशाली है "आगमप्रधानानि सुलभपर्यवस्थानानि महापुरुषहृदयानि भवन्ति" (३०)। उसकी कुलीनता, विद्वत्ता, आयु और रूप को देखकर ही दर्शक ने विवाह का प्रस्ताव किया है "अभिजनविज्ञानवयोरूपं दृष्ट्वा स्वयमेव महाराजेन दत्ता" (३०)। वासवदत्ता को तो वह सुन्दर लगता ही है "नहि नहि। दर्शनीय एव" (२८), चेटी को भी वह धनुष-बाण-रहित कामदेव लगता है "शरचापहीनः कामदेव इति" (३४)। अपनी बहन को वापस लेने के लिए ब्राह्मण (यौगन्धरायण) उसके प्रसिद्ध गुणों की दुहाई देता है "भारतानां कुले जातो विनीतो ज्ञानवान् शुचिः। तन्नार्हसि बलाद्धर्तुं राजधर्मस्य देशिकः" (९४)। सचमुच वह अत्यन्त गुणी है, जिसके गुणों की प्रशंसा राह-चलते पथिक भी करते हैं "स खलु गुणवान् नाम राजा य आगन्तुकेनापि अनेन एवं प्रशस्यते" (२२)।

वासवदत्ता—उदयन का वासवदत्ता के प्रति प्रेम अद्भुत है। वासवदत्ता भी उदयन से अत्यधिक प्रेम करती है। किन्तु दोनों के इस परस्पर प्रेम में एक अन्तर है। उदयन के प्रेम में आसक्ति की प्रधानता है और वासवदत्ता के प्रेम में त्याग की। उदयन वासवदत्ता के प्रेम के सामने राज्य को भी तुच्छ समझता है किन्तु वासवदत्ता

पति की समृद्धि के लिए अपनी भावनाओं को दबा कर भी त्याग करने से नहीं झिझकती। अपने प्रिय की प्रतिष्ठा के लिए वह यौगन्धरायण की योजना को स्वीकार करती है। कालावधि विरह ही नहीं, अपने एकाकी प्रेम में वह साझे को भी स्वीकार कर लेती है। इस प्रकार उदयन के प्रेम के लिए अपने प्रेम तक का त्याग करने से उसका प्रेम केवलमात्र आसक्ति न होकर वास्तविक प्रेम हो जाता है। अतिशय प्रेम, त्याग एवं विरह की तड़प को भीतर ही भीतर सहते रहना वासवदत्ता के चरित्र का उत्कर्ष है। इसके अतिरिक्त सौन्दर्य, कोमल हृदय, श्रद्धा एवं शालीन व्यवहार आदि गुण भी वासवदत्ता में स्वाभाविक रूप से विद्यमान हैं।

यौगन्धरायण की आद्योपान्त योजना की जानकारी वासवदत्ता को नहीं है। योजना पूर्वनियोजित है किन्तु जहाँ-जहाँ इसमें मोड़ आता है वासवदत्ता की अभिव्यक्ति अनजान की सी होती है "हम् इह मां निक्षेप्तुकाम आर्ययौगन्धरायणः" (१२), "आर्यपुत्रं भर्तारमभिलषति" (२८), "अहो अत्याहितम्। आर्यपुत्रोऽपि नाम परकीयः संवृत्तः" (३६), "दिष्ट्या इदानीमपि स्मरति" (६४), इत्यादि उद्धरणों से स्पष्ट है कि उसे आरम्भ में पूर्ण योजना की जानकारी नहीं है। किन्तु यौगन्धरायण की योजना में और उसकी स्वामिभक्ति में उसे पूर्ण विश्वास है। इसी विश्वास के कारण वह पद्मावती के पास रहना स्वीकार करती है। इसमें उचित-अनुचित का विचार न करके वह इतना ही कहती है "भवतु अविचार्य कर्म न करिष्यति" (१२)। यौगन्धरायण के कार्य को वह इसी विश्वास एवं आस्था के कारण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समझती है। स्वप्न में उदयन जब उसे पुकारता है तो सर्वप्रथम उसके मन में भय होता है कि मेरे दिखाई देने से आर्य यौगन्धरायण का महान् प्रतिज्ञाभार निष्फल हो गया।

यौगन्धरायण और उसकी योजना में वासवदत्ता के विश्वास का नियामक, उसका उदयन के लिए अतिशय प्रेम ही है। उन्माद प्रेम की चरमावस्था है। वासवदत्ता का प्रेम भी उन्माद की अवस्था तक पहुँचा हुआ है "जानामि जानामि। अयमपि जन एवमुन्मादितः" (२८)। यदि प्रेम ने उन्माद का रूप धारण न किया होता तो वह अपने स्वजनों को छोड़कर उदयन के साथ भाग कर न आती। वीणावादन के समय एकटक उदयन को देखने के कारण उसके हाथ से कोण खिसक जाता था और वीणा के स्थान पर आकाश में ही हाथ चल जाता था, यह सब प्रेम के नशे का ही प्रभाव था। प्रेम के इस नशे को ही तो उन्माद कहते हैं। "आर्यपुत्रेण विरहिता उत्कण्ठिता भवामि" (४२)। पद्मावती के यह कहने पर वह ठीक ही अनुभव करती है, "दुष्करं खल्वहं करोमि" (४२)। अतिशय प्रेम में तो क्षण भर का भी वियोग सह्य नहीं, वासवदत्ता तो लम्बा विरह सहन कर रही है। पुनः आर्यपुत्र के दर्शन होंगे, केवल इसी कारण यह विरह उसका घातक नहीं बनता "आर्यपुत्रं पश्यामीत्यनेन मनोरथेन जीवामि मन्दभागा" (३२)। 'आर्यपुत्र जैसे मेरे हैं वैसे ही आर्या वासवदत्ता के हैं' पद्मावती के यह कहने पर अत्यन्त विश्वास के

साथ वासवदत्ता कहती है "अतोऽप्यधिकम्" (४२)। उदयन के अभ्युदय के लिए कुछ समय तक उसे अपने प्रेम को दबाए रखना था। समुद्रगृह में एकान्त पाकर यह प्रेम उमड़ पड़ा। वह क्षण भर हृदय एवं दृष्टि के सन्तोष के लिए वहीं ठहर जाती है 'नात्र कश्चिज्जनः। यावन्मुहूर्तकं स्थित्वा दृष्टिं हृदयञ्च तोषयामि" (७२)। "किमर्थं नालङ्कृतासि" (७२)? उदयन के यह पूछने पर वह कहती है "इतः परं किम्" (७२)। अतिशय प्रेम में विरह और पति के दूसरे विवाह से बढ़ कर और कौन-सा ऐसा घोर प्रसङ्ग होगा जिसके उपस्थित होने पर प्रेमिका सज्जा का परित्याग करेगी।

प्रेमिका के साथ-साथ वह पतिपरायणा भी है। उदयन के प्रति उसके हृदय में उदारता एवं सम्मान की भावना है। उदयन ने स्वयं अपनी ओर से विवाह के प्रस्ताव में पहल नहीं की है, उसने तो दर्शक की ओर से आये प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया है, यह जानकर उदयन के प्रति उसका रोष समाप्त हो जाता है "एवम्। अनपराद्ध इदानीमार्यपुत्रः" (३०)। चतुर्थ अङ्क में जब उदयन विदूषक के साथ प्रमदवन में पहुँचता है तो गुप्त-वास में प्रथम बार वासवदत्ता उसे देखती है। उदयन के स्वस्थ देह को देखकर वह अपने को धन्य समझती है "दिष्ट्या प्रकृतिस्थशरीर आर्यपुत्रः" (५०)। उदयन, विदूषक के साथ वार्तालाप में, वासवदत्ता की याद आ जाने के कारण कुछ विक्षुब्ध हो जाता है। उसकी आँखें आँसुओं से गीली हो जाती हैं। पद्मावती इस अवसर से लाभ उठाकर वहाँ से चले जाना चाहती है। वासवदत्ता जानती है कि पद्मावती इस समय केवल उसी के कारण उदयन के सामने नहीं आ रही है क्योंकि वह प्रोषितभर्तृका होने से पर-पुरुष-दर्शन से बचती है। सारी स्थिति को समझ कर पति-परायणा होने के कारण ही वह वहाँ से स्वयं चले जाना चाहती है। किसी भी अवस्था में उदयन को दुःख न हो यही उसका लक्ष्य है "एवं भवतु। अथवा तिष्ठ त्वम्। उत्कण्ठितं भर्तारमुज्झित्वायुक्तं निर्गमनम्। अहमेव गमिष्यामि" (५६)। पद्मावती के प्रति उसके मन में सौतिया डाह भी हो सकता था किन्तु उसका दृष्टिकोण इसके विपरीत अत्यन्त उदार है। पद्मावती के साथ विवाह हो जाने पर भी वह इसलिए सन्तुष्ट है कि अब उसके प्रिय (उदयन) को सान्त्वना देने के लिए किसी ने रिक्त स्थान को भर दिया है। पद्मावती के सिरदर्द के समाचार को सुनकर उसे इसी कारण दुःख होता है कि उदयन को विश्रान्ति देनेवाली यह भी अब रुग्ण हो गयी "अहो अकरुणाः खल्वीश्वरा मे। विरहपर्युत्सुकस्य आर्यपुत्रस्य विश्रमस्थलभूतेयमपि नाम पद्मावती अस्वस्था जाता" (७०)। वासवदत्ता का हृदय निष्कपट एवं आशुतोष है। पद्मावती ने उदयन से जब वीणा सिखा देने को कहा, तब वह एक आह भर कर चुप हो गया। पद्मावती के विचार से वह वासवदत्ता की स्मृति में खो गया था। वासवदत्ता यह जानकर धन्य हो उठती है "धन्यास्मि यद्येवं सत्यं भवेत्" (४४)। उदयन के "वासवदत्ताबद्धं न तु तावन्मे मनो हरति" (५२) कहने पर वह अपने सारे दुःखों को भूल जाती है और

कृतज्ञता प्रकट करते हुए कहती है "भवतु भवतु दत्तं वेतनमस्य परिखेदस्य। अहोऽज्ञातवासोऽप्यत्र बहुगुणः सम्पद्यते" (५२)। वस्तुतः पीठ-पीछे की गई प्रशंसा यथार्थ होती है और सच्ची प्रशंसा से किसका मन प्रसन्न नहीं होता ? उदयन को अपनी याद में खोया हुआ पाकर वह कहती है "भवतु भवतु। विश्वसितास्मि। अहो प्रियं नामेदृशं वचनमप्रत्यक्षं श्रूयते" (५६)।

वासवदत्ता में सौन्दर्य के साथ-साथ कुलीनता है। वह महासेन प्रद्योत की पुत्री और अवन्तिराज्य की राजकुमारी है। तापसी उसे देखकर कहती है "यदीदृशी अस्या आकृतिरियमपि राजदारिकेति तर्कयामि" (१४); इसका अनुमोदन दासी "अहमप्यनुभूतसुखेति पश्यामि" (१४) कहकर करती है। दर्शक की पत्नी, पद्मावती के विवाह की माला गूंथने के लिए वासवदत्ता को ही उपयुक्त पात्र समझती है, क्योंकि वह "महाकुलप्रसूता, स्निग्धा, निपुणा" (३२) है। अपने कुल के अनुरूप ही उसमें संवेदनशीलता है। गुप्त वेश में यौगन्धरायण के साथ जाते हुए उसे मार्ग की थकावट इतना कष्ट नहीं पहुँचाती जितना सैनिकों की उत्सारणा "आर्य ! तथा परिश्रमः परिखेदं नोत्पादयति यथायं परिभवः" (४)।

वह सच्चरित्र है। प्रोषितभर्तृका होने के कारण परपुरुष-दर्शन से वह बचती है। इसी कारण पद्मावती उसके चरित्र की रक्षा के कार्यभार को सरल समझती है "परपुरुषदर्शनं परिहरति आर्या। भवतु सुपरिपालनीयः खलु मन्न्यासः" (१६)। दासी द्वारा उदयन के सौन्दर्य की प्रशंसा किए जाने पर यद्यपि पहले वह इसमें रस लेती है पर शीघ्र ही अपनी स्थिति का विचार कर उसे आगे कुछ कहने से मना कर देती है "अयुक्तं परपुरुषसंकीर्तनं श्रोतुम्" (३४)। स्वप्न अङ्क में वासवदत्ता के स्पर्श से उदयन की नींद खुल जाती है। कुछ-कुछ उनींदी अवस्था में उसने वासवदत्ता का जो चेहरा देखा उस पर स्पष्ट ही सच्चरित्रता की छाप थी "स्वप्नस्यान्ते विबुद्धेन नेत्रविप्रोषिताञ्जनम्। चारित्रमपि रक्षन्त्या दृष्टं दीर्घालकं मुखम्" (७४)। अपने कुल, चरित्र, शालीन व्यवहार एवं स्थिति के अनुरूप ही वह स्वभाव से कोमल, सरल-हृदय एवं स्नेहशील है। पद्मावती राजपुत्री है इतना मात्र जान लेने पर उसके प्रति बहिन का-सा भाव वासवदत्ता के मन में होता है "राजदारिकेति श्रुत्वा भगिनिकास्नेहोऽपि मेऽत्र सम्पद्यते" (८)। ब्रह्मचारी के मुख से उदयन के विलाप का समाचार सुनकर उसकी आँखें गीली हो जाती हैं। चेटी के ध्यान देने पर पद्मावती सम्भावना करती है "सानुक्रोशया भवितव्यम्" (१८)। पद्मावती की इस सम्भावना की पुष्टि तुरंत यौगन्धरायण करता है "अथ किमथ किम्, प्रकृत्या सानुक्रोशा मे भगिनी" (२०)। यद्यपि यहाँ यौगन्धरायण वास्तविकता को छिपाने के लिए ही उसे सानुक्रोशस्वभावा कह रहा है किन्तु वास्तव में भी वासवदत्ता दयालु स्वभाव की ही नारी है। उदयन स्वयं दयालु प्रकृति का व्यक्ति है। उसका प्रेम वासवदत्ता के प्रति अत्यधिक है। वासवदत्ता में भी कोई ऐसा विशिष्ट गुण होना चाहिए जिससे वह उदयन को इतना अधिक अनुरक्त कर सकी है। निश्चय ही सौन्दर्य के साथ

उसके स्वभाव की दयालुता (सानुक्रोशत्व) ही उसका आकर्षक गुण है। दयार्द्रचित्त उदयन को दयालु-स्वभावा वासवदत्ता ही लुभा सकती थी। महासेन प्रद्योत अपने पुत्र के लिए पद्मावती का हाथ माँगता है, यह जानते ही पद्मावती के साथ वह बहुत आत्मीय हो गई। गेंद से खेलती पद्मावती को इस आत्मीयता के कारण ही वह ऐसे छेड़ती है मानो ननद भाभी से ठिठोली कर रही हो। सरल-हृदय व्यक्ति में ही इतनी शीघ्र आत्मीयता का भाव आ सकता है। सपत्नी हो जाने पर भी पद्मावती के प्रति उसका व्यवहार पहले-जैसा ही स्नेहमय है। इस विवाह की घटना के लिए उसके मन में पद्मावती या उदयन के प्रति थोड़ा-सा भी रोष नहीं है। सम्पूर्ण घटना के प्रति उत्तरदायी यौगन्धरायण के लिए कभी उसके मुख से एक कठोर शब्द तक नहीं निकला है। वह इसके लिए सदा अपने भाग्य को ही उत्तरदायी ठहराती है। उसकी सहनशीलता की तब पराकाष्ठा हो जाती है जब वह स्वयं अपने हाथ से वरमाला गूंथती है। 'अविधवाकरण' औषध को वह बड़ी रुचि से माला में गूंथती है। इसमें दोनों का ही मंगल है **"इदं बहुशो गुम्फितव्यं मम च पद्मावत्याश्च"** (३४)। किन्तु **'सपत्नीमर्दन'** औषध को वह निरर्थक कहकर गूंथने से मना कर देती है। वास्तव में वासवदत्ता मरी नहीं थी, जीवित थी। अतः पद्मावती के कल्याण के लिए उसे इस **'सपत्नीमर्दन'** नामक औषध को भी अवश्य गूंथना चाहिए था। किन्तु उसे अपने स्वभाव पर विश्वास है। कठिन से कठिन परिस्थिति में भी वह दुष्टता नहीं कर सकती। वह जानती है कि वासवदत्ता एक दिन अवश्य ही प्रकट होगी; पर उसे पूर्ण विश्वास है कि पद्मावती की ऐसी सपत्नी उत्पन्न नहीं होगी जिसके अभिभव की कामना पद्मावती की ओर से की जाए। पद्मावती की शिरोवेदना को वह मीठी-मीठी बातों से कम कर सकती है। दर्शक के महल में उसके इस स्नेहमय स्वभाव को दास-दासियां तक भली भाँति जानती हैं **"सा खल्विदानीं मधुराभिः कथाभिः .....शीर्षवेदनां विनोदयति"** (६०)। पद्मावती के प्रति उसकी आत्मीयता एवं स्वभाव की स्नेहशीलता के कारण ही दासी को भरोसा है कि सूचना मात्र से ही वह आ जायेगी उसे बुलाने की आवश्यकता नहीं **"केवलं भर्तृदारिकायाः शीर्षवेदनामेव निवेदय। ततः स्वयमेवागमिष्यति** (६०)। स्नेहाधिक्य के कारण ही वह रुग्ण पद्मावती के साथ उसी विस्तर पर बैठती है, अलग आसन पर नहीं **"अथवा अन्यासनपरिग्रहेण अल्प इव स्नेहः प्रतिभाति"** (७०)।

सच्चरित्र एवं विशुद्ध प्रेममय हृदय के कारण ही उसका प्रेम कुछ लौकिक सीमा को लांघकर अलौकिक-सा हो गया है। पद्मावती के साथ (वस्तुतः उदयन के साथ) एक विस्तर पर बैठने से उसका मन आह्लादित-सा होता है **"किन्तु खल्वेतया सहोपविशन्त्या अद्य प्रह्लादितमिव मे हृदयम्"** (७०)। उदयन के लिए वह पत्नी ही नहीं, शिष्या और प्रेयसी भी है **"शिष्या देवी च मे प्रिया"** (८८)।

वासवदत्ता बुद्धिमती स्त्री है। उसका उदयन से अनुपम प्रेम है और मनुष्य होने के कारण कुछ स्वाभाविक कमजोरियां हैं। अनेक अवसरों पर प्रेमातिशय तथा

भावावेश के कारण उसके मुँह से कुछ ऐसा वाक्य निकल जाता है जिससे यौगन्धरायण की योजना निष्फल हो सकती है। किन्तु अपनी संजग बुद्धि के कारण ही वह सर्वत्र स्थिति को सँभाल लेती है। "आर्यपुत्रपक्षपातेन अतिक्रान्तः समुदाचारः" अनुभव करके वह प्रसङ्गानुकूल कोई-न-कोई समाधानजनक उत्तर दे देती है। इस प्रकार के प्रसङ्ग, सारे नाटक में दो स्थानों पर (२८, ४२) स्पष्ट रूप से और अन्यत्र दो स्थलों पर (३०, ५०) कुछ अवान्तर शब्दों के साथ आये हैं।

सब कुछ मिलाकर वासवदत्ता स्नेही स्वभाव की सच्चरित्र एवं सरलहृदया नारी है। पति से उसका प्रेम अद्भुत है। इसी प्रेम के लिए वह त्याग करती है और प्रतिकूल परिस्थिति को भी विना किसी शिकायत के सहन करती है। वह नाटक के प्रधान पात्रों में से एक है और नायक की पत्नी है। अतः स्पष्ट ही नाटक की नायिका है।

पद्मावती—पद्मावती मगध के राजा दर्शक की बहिन है "**महाराजदर्शकस्य भगिनी**" (६)। वह किशोरावस्था से यौवनावस्था में प्रवेश कर रही है। एक तो वेजोड़ सौन्दर्य, ऊपर से यह वयःसन्धि, दोनों के मेल ने उसे अद्भुत आकर्षक बना दिया है। इस सौन्दर्य में उच्चकुल के अनुरूप धार्मिकता एवं सुजनता ने सोने में सुगन्ध का काम किया है। सब मिलाकर पद्मावती का ऐसा सुन्दर चित्रण भास ने किया है कि विरक्त व्यक्ति को भी वह हठात् अनुरक्त बना देती है और विशेषता यह कि शालीनता का कहीं परित्याग नहीं करती। अपूर्व सौन्दर्य पर गर्व की गन्ध नहीं, उच्च पद पर गुरुजनों के आदर में सदा नतमस्तक, रोष का कारण होने पर भी मर्यादित व्यवहार, यही पद्मावती के चरित्र की रूपरेखा है।

दूसरे अङ्क में गेंद से खेलती हुई पद्मावती का चित्रण उसकी वयःसन्धि का परिचायक है। किशोरियों में जब प्रथम बार शृङ्गारभाव का उदय होता है तभी वे यौवन की दहलीज पर पैर रखती हैं। यौवन में पदार्पण करते ही विवाह का प्रसङ्ग आ जाता है। जैसे खिले फूल की अपेक्षा खिलती हुई कली अधिक आकर्षक होती है, उसी प्रकार यौवन की इस उदीयमान अवस्था में भी सौन्दर्य अत्यन्त आह्लादक होता है। "**इयं भर्तृदारिका उत्कर्णचूलिकेन व्यायामसञ्जातस्वेदबिन्दुविचित्रितेन परिश्रान्तरमणीयदर्शनेन मुखेन कन्दुकेन क्रीडन्तीत एवागच्छति**" (२६) इस शब्दचित्र में पद्मावती के इस वयःसन्धि के सौन्दर्य की ही अभिव्यक्ति हुई है। इसी पृष्ठभूमि में उसका गेंद खेलना, वासवदत्ता का "**अभित इव तेऽद्य वरमुखं पश्यामि**" (२६) कहना, और अन्य शृङ्गार-रस-सहायक हास-परिहास है।

वासवदत्ता की मृत्यु से उदयन को जो आघात पहुँचा वह इतना प्रबल था कि दूसरी स्त्री के प्रति ही नहीं, अपितु जीवन के प्रति भी वह उदासीन हो गया था। उसके इस अतिशय शोक का वर्णन प्रथम अङ्क में ब्रह्मचारी ने किया है। उसके बाद भी स्थान-स्थान पर उदयन का यह शोक अभिव्यक्त होता रहा है। शोकसागर में डूबे उदयन का द्वितीय विवाह के प्रति उदासीन होना अत्यन्त स्वाभाविक था।

इसकी सम्भावना वासवदत्ता ने भी प्रकट की है "**तथा नाम संतप्योदासीनो भवतीति**" (३०)। इस प्रकार शोकाभिभूत एवं उदासीन उदयन भी पद्मावती के प्रति आकृष्ट हुआ "**भूयश्च विद्धा वयम्**" (४४), यह पद्मावती के सौन्दर्य का ही चमत्कार है। स्वयं उदयन के शब्दों में पद्मावती के रूप, चरित्र और मधुर व्यवहार ने उसे आकर्षित किया है "**पद्मावती बहुमता मम यद्यपि रूपशीलमाधुर्यैः**" (५२)। स्वभाव की मधुरता, सुसंस्कृत व्यवहार और शालीनता, सौन्दर्य को आह्लादक एवं स्तुत्य बनाते हैं। पद्मावती के चरित्र के ये पहलू नाटक में आद्योपान्त दृष्टिगोचर होते हैं।

प्रथम अङ्क में पद्मावती को देखते ही वासवदत्ता के मुँह से उसके कुल और रूप की प्रशंसा बरबस निकल पड़ती है "**अभिजनानुरूपं खल्वस्या रूपम्**" (८)। स्वयं सुन्दर एवं कुलीन होने से उसकी उक्ति पारखी की उक्ति है। क्षणभर पहले वासवदत्ता पद्मावती के सिपाहियों के व्यवहार से खिन्न थी। अतः उसकी उक्ति औपचारिक न होकर वास्तविकता की द्योतक है। व्यक्ति के व्यवहार में उसका भाषण-प्रकार विशेष महत्त्व रखता है। पद्मावती का रूप ही नहीं, वाणी भी मधुर है "**नहि रूपमेव वागपि खल्वस्या मधुरा**" (८)। अवन्त्यधिपति प्रद्योत, पद्मावती को अपनी पुत्र-वधू बनाना चाहता है, इसपर प्रसन्नता प्रकट करते हुए तापसी कहती है "**अर्हा खल्वियमाकृतिरस्य बहुमानस्य। उभे राजकुले महत्तरे इति श्रूयते**" (१०)। पद्मावती केवल सुन्दर ही नहीं, श्रेष्ठ राजकुल से सम्बन्धित भी है, अतएव कुलीनता एवं शालीनता उसके स्वाभाविक गुण हैं। चतुर्थ अङ्क में जब उदयन विदूषक से पूछता है कि तुम्हें वासवदत्ता और पद्मावती में से कौन अधिक प्रिय है? तो विदूषक पद्मावती की ओर अपना रुझान प्रकट करता है, क्योंकि वह "**तरुणी दर्शनीया अकोपना अनहङ्कारा मधुरवाक् सदाक्षिण्या**" (५४) है। सौन्दर्य एवं यौवन के इस मेल में स्वभाव की मधुरता ने पूर्णता ला दी है। उदयन भी उसे सुन्दर और गुणों से भरपूर मानता है "**रूपश्रिया समुदितां गुणतश्च युक्ताम्**" (६४)। भास पद्मावती के सौन्दर्य के प्रति अपेक्षाकृत पक्षपाती हैं। सारे नाटक में इसके सौन्दर्य को वे अनेक प्रकार से कहते हैं।

पद्मावती की धर्म में विशेष आस्था है। नाटक में सर्वप्रथम उसका परिचय धार्मिक के रूप में ही मिलता है "**धर्मप्रिया नृपसुता न हि धर्मपीडामिच्छेत् तपस्विषु कुलव्रतमेतदस्याः**" (८)। तपोवन में उसके आने से तपस्वियों के दैनिक कार्यक्रम में कोई बाधा न पड़े इसका उसे विशेष ध्यान है। वह स्वयं ही धार्मिक नहीं है, उसके परिवार में भी धर्म की विशेष प्रतिष्ठा है। अतएव धर्म उसके व्यक्तित्व का स्वाभाविक अंग है। धार्मिक भावना से प्रेरित होकर ही वह घोषणा कराती है "**कस्याद्य किं दीयताम्**" (१०)। तपस्वियों को उनकी अभीप्सित वस्तु का दान देने की इच्छुक पद्मावती अपने इस दानकार्य में स्वयं पर तपस्वियों का ही अनुग्रह देखती है "**आत्मानुग्रहमिच्छतीह नृपजा धर्माभिरामप्रिया**" (१०)। पद्मावती की इसी धार्मिकता के कारण यौगन्धरायण वासवदत्ता के चरित्र को उसके हाथों में

सुरक्षित समझता है "धीरा कन्येयं दृष्टधर्मप्रचारा शक्ता चारित्रं रक्षितुं मे भगिन्याः" (१२)। नम्र स्वभाव की होने पर भी उसके चरित्र में दृढ़ता है। यौगन्धरायण की इच्छा को पूरा करने में काञ्चुकीय के टालमटोल करने पर वह निर्णयात्मक आदेश देती है "आर्य प्रथममुद्घोष्य कः किमिच्छतीति अयुक्तमिदानीं विचारयितुम्। यदेष भणति तदनुतिष्ठत्वार्यः" (१२)। काञ्चुकीय, दासी और तापसी के मुख से पद्मावती के इस कार्य की भास ने प्रशंसा भी कराई है "काञ्चु०—अनुरूपमेतद् भवत्याभिहितम्।" "चेटी—चिरं जीवतु भर्तृदारिकैवं सत्यवादिनी"। "तापसी—चिरं जीवतु भद्रे" (१४)। सत्यवादिता, धार्मिकता एवं चरित्र की दृढ़ता के आधार पर ही यौगन्धरायण उसे विश्वसनीय समझता है "......अत्रभवती मगधराजपुत्री विश्वासस्थानं भविष्यति" (१४)। पद्मावती की सज्जनता के कारण ही उसे भरोसा है कि वासवदत्ता को उसके पास रहते हुए किसी प्रकार का कष्ट नहीं होगा "साधुजनहस्तगतैषा नोत्कण्ठिष्यते" (२२)।

पद्मावती उच्चकुलानुरूप शालीन भी है। उसके व्यवहार अथवा अभिव्यक्ति में कहीं भी ग्राम्यता नहीं है। उदयन के प्रति, उसके युवा मन में अनुरक्ति है। "राजा मोहमुपगतः"(१८) ब्रह्मचारी से ऐसा सुनकर पद्मावती मन में कुछ खोया-सा अनुभव करती है। उदयन को फिर होश आ गया है यह जानकर उसे सहज सन्तोष होता है "दिष्ट्या ध्रियते। मोहं गत इति श्रुत्वा शून्यमिव मे हृदयम्" (२०)। वासवदत्ता के मर जाने पर क्या उदयन दूसरा विवाह करेंगे? चेटी की इस उक्ति को वह अपने मन की ही बात समझती है "मम हृदयेनैव सह मन्त्रितम्" (२२)। इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि वह उदयन के प्रति अनुरक्त है। किन्तु इस अनुरक्ति की अभिव्यक्ति सर्वत्र ही अत्यन्त शालीनता के साथ हुई है। विवाह हो जाने के बाद वह स्पष्ट शब्दों में अपने पति के प्रति स्वकीय प्रेम को प्रकट कर सकती थी। किन्तु प्रेम की अभिव्यक्ति अभिधा से उतनी शालीन नहीं हो सकती जितनी व्यञ्जना से। "हला! प्रियस्ते भर्ता?" (४२) यह सीधा प्रश्न किए जाने पर वह अत्यन्त कुलीन उत्तर देती है "आर्ये न जानामि। आर्यपुत्रेण विरहिता उत्कण्ठिता भवामि" (४२) पद्मावती के इस आभिजात्य-प्रकार की प्रशंसा भास भी चेटी के मुख से कराना नहीं भूले हैं "अभिजातं खलु भर्तृदारिकया मन्त्रितं प्रियो मे भर्तेति"(४२)। किसी के हृदय के कोमल पहलू को छूना और हठपूर्वक भावों को कुरेदना कोई अच्छी बात नहीं। विदूषक जब उदयन से बार-बार वासवदत्ता अथवा पद्मावती के प्रति अपने प्रेम के आधिक्य को बताने का आग्रह करता है तो पद्मावती इसे बहुत धृष्टता समझती है "अहोऽस्य पुरोभागिता एतावता हृदयं न जानाति" (५२)। कुछ बातें केवल समझने की होती हैं, कहने की नहीं। विषय स्वयं पद्मावती से सम्बद्ध है। वह स्वयं भी अपने बारे में पति के मुख से स्पष्ट सुनना चाह सकती है। किन्तु स्वभाव की सज्जनता के कारण ही वह इस प्रकार दूसरे की भावनाओं से खिलवाड़ अच्छा नहीं समझती। उदयन के प्रेम का अपेक्षाकृत अधिक झुकाव वासवदत्ता की ओर है।

दासी को यह अनुचित लगा और वह कह बैठी "अदाक्षिण्यः खलु भर्ता" (५२)। किन्तु पद्मावती ने इसे दूसरे ही पहलू से देखा। जो व्यक्ति मृत पत्नी को भी इतना प्यार करता है उसमें तो दाक्षिण्य गुण (सभी पत्नियों से समान प्रेम करना) की पराकाष्ठा है "हला! मा मैवम् सदाक्षिण्य एव आर्यपुत्रो य इदानीमपि आर्याया वासवदत्ताया गुणान् स्मरति" (५२)। प्रयत्नपूर्वक दूसरे व्यक्ति के अच्छे पहलू को देखना और प्रत्येक में अच्छाई को ही ढूँढ़ने का प्रयत्न करना शालीनता एवं कुलीनता के ही कारण होता है। पद्मावती के इस गुण को वासवदत्ता ने भी लक्ष्य किया है "भद्रे अभिजनस्य सदृशं मन्त्रितम्" (५४)। चतुर्थ अंक में वासवदत्ता की याद आ जाने से उदयन की आँखों में आँसू आ जाते हैं। विदूषक मुँह धुलाने के लिए पानी लाता है। मार्ग में उसे पद्मावती मिलती है। आर्य वसन्तक! यह क्या है? पूछने पर वह बहाना बनाता है। पद्मावती वास्तविक कारण को जानती थी। विदूषक को इस बहानेबाजी के कारण वह झूठा एवं धूर्त भी कह सकती थी, किन्तु अपने आभिजात्य के कारण वह इसमें भी अच्छाई ही देखती है "अहो सदाक्षिण्यस्य जनस्य परिजनोऽपि सदाक्षिण्य एव भवति" (५८)। उदयन उसे यद्यपि धैर्यशालिनी मानता है किन्तु सामान्यतः स्त्री-स्वभाव के कातर होने के कारण, सत्य को उससे छिपाता है "इयं बाला नवोद्वाहा०" (५८); किन्तु हम जानते हैं कि बाला, नवोद्वाहा और कातरता के लिए प्रसिद्ध, स्त्री होते हुए भी पद्मावती का हृदय सत्य को जानकर भी व्यथित नहीं हुआ है। यदि हुआ भी हो तो उसने अपनी मर्यादा की प्रतिष्ठा के लिए इस व्यथा को हृदय में ही समेटे रखा है, भूल से भी कहीं प्रकट नहीं होने दिया है।[1]

दूसरों के प्रति आदरभाव भी पद्मावती के व्यक्तित्व की विशेषता है। दूसरे का आदर करने में ही वह अपना सम्मान समझती है। दासी को अधिक फूल तोड़ने से वह इस कारण रोकती है कि उदयन इस पुष्प-समृद्धि को देखकर सन्तुष्ट होंगे और उनका यह सन्तोष ही उसका अपना सम्मान है "आर्यपुत्रेण इहागत्य कुसुम-समृद्धि दृष्ट्वा सम्मानिता भवेयम्" (४२)। वासवदत्ता के मायके से आए काञ्चुकीय और धाय को उदयन के सम्बन्ध से वह आत्मीय ही समझती है "प्रियं मे ज्ञाति-कुलस्य कुशलवृत्तान्तं श्रोतुम्" (८२)। वह स्वयं तो उन्हें अपना समझती है किन्तु वे भी उसे अपना समझेंगे, ऐसा विचार कर वह केवल अपनी इच्छा के अनुसार ही आचरण नहीं करती। दूसरों का क्या दृष्टिकोण हो सकता है इसका वह विशेष ध्यान रखती है। उदयन जब मुलाकात के समय पद्मावती को भी साथ बैठने के लिए कहता है तो वह बड़े स्वाभाविक रूप से मना करती है "आर्यपुत्रस्यापरः

१—सम्भवतः इसी अन्तर्द्वन्द्व का परिणाम उसका सिर-दर्द हो। व्यथा को अनुभव करने की अपेक्षा हृदय में दबाए रहना चरित्र की अधिक उच्चता का द्योतक है।

परिग्रह इति उदासीनमिव भवति" (८२)। अभ्यागत और उदयन उसकी उपस्थिति से किसी विषम परिस्थिति में न पड़ जायें, इसी का ध्यान रखकर वह स्वयं वहाँ से चले जाना चाहती है। उदयन के अन्यथा तर्क करने पर वह अनायास ही मान जाती है। तर्क दोनों ही संगत हैं, सम्भवतः पद्मावती की उपस्थिति ही सामाजिक दृष्टि से अधिक उपयुक्त है, किन्तु उसकी ओर से निषेधपूर्वक स्वीकृति में ही सुन्दरता एवं स्वाभाविकता है। उसके व्यवहार में न रोष की गन्ध है और न उलाहने का पुट। चित्रित वासवदत्ता के सामने आने पर भी वह तुरन्त उसका अभिवादन करती है "चित्रगतं गुरुजनं दृष्ट्वा अभिवादयितुमिच्छामि" (९०)। वासवदत्ता जीवित है, यह ज्ञात हो जाने पर उसकी प्रसन्नता का पारावार नहीं रहता। सपत्नी-भाव से उसके मन में कुछ खिन्नता भी आ सकती थी, किन्तु वहाँ इसका बीज मात्र भी दृष्टिगत नहीं होता। ब्राह्मण की बहिन आवन्तिका है या वासवदत्ता, यह जानने के लिए उदयन वासवदत्ता का मुख देखना चाहता है। पद्मावती इसका निषेध करती है "प्रोषितभर्तृका परपुरुषदर्शनं परिहरति। तदार्या पश्यतु सदृशी न वेति" (९२)। जहाँ पद्मावती अपनी धरोहर के चरित्ररक्षण में तत्पर है वहाँ एक युवती पत्नी का अपने पति को थोड़ा सा तंग करने का भाव भी लक्षित होता है। प्रिय समाचार को, थोड़ा विलम्ब से, श्रोता को अधीर बना कर देना, वक्ता के चातुर्य (रसिकता) का द्योतक होता है। वासवदत्ता के प्रकट होने पर पद्मावती तुरन्त अपने व्यवहार के लिए क्षमा माँगती है। वासवदत्ता बड़ी है, अतः पद्मावती का उसके प्रति व्यवहार सखी का सा न होकर कुछ उपचारमय होना चाहिए था। पद्मावती का इस प्रकार सोचना उसकी सज्जनता का ही द्योतक है "सखिजनसमुदाचारेणाजानत्याऽतिक्रान्तः समुदाचारः। तच्छीर्षेण प्रसादयामि" (९६)।

नाटक की घटनाओं की दृष्टि से पद्मावती का सम्बन्ध उदयन और वासवदत्ता के साथ है। एक, मृत पत्नी के विरह में निरन्तर उदासीन है और दूसरी का अपना पति, उसकी आँखों के सामने ही न केवल अपना नहीं रहता, वरन् किसी और का भी हो जाता है। प्रतिकूल परिस्थितियों के होने पर भी पद्मावती अपने व्यक्तित्व से, विरक्त उदयन के हृदय में स्थान बना लेती है और सपत्नी वासवदत्ता के हृदय को भी जीत लेती है। पद्मावती अपने सौन्दर्य, सौजन्य, आभिजात्य, माधुर्य एवं शालीन व्यवहार से उदयन, वासवदत्ता और विदूषक के मन में ही नहीं, हम सबके मन में भी अनायास ही अपना स्थान बना लेती है। वह सबको प्यारी लगती है।

नाटक का नायक उदयन है। पद्मावती उदयन की पत्नी है और नाटक में एक प्रधान पात्र है अतः वह भी नायिका है। नायक यदि दक्षिण नायक है तो उसकी सभी पत्नियाँ या प्रियाएँ, जिनका नाटक में भी प्राधान्य हो, नायिका ही होंगी, यह निर्विवाद है।

यौगन्धरायण—यौगन्धरायण रंगमंच पर बहुत कम आता है। परिव्राजक के वेश में प्रथम अंक में कुछ अधिक और फिर नाटक के अन्त में उपसंहारक के रूप में उसके दर्शन होते हैं। वह उदयन का परम्परागत प्रधान अमात्य है। क्योंकि उदयन ललित कलाओं और वासवदत्ता में अत्यधिक आसक्त रहता है अतः वास्तव में वत्सराज्य के संरक्षण का भार यौगन्धरायण पर ही है।[1] यौगन्धरायण की योजना को सभी उच्चस्तरीय अधिकारी, और विशेष रूप से वासवदत्ता, स्वीकार करते हैं। यही घटना उसकी महत्ता और विश्वसनीयता को प्रकट करने के लिए पर्याप्त है। यद्यपि बीच के अंकों में वह रंगमंच पर नहीं आया तो भी सारी योजना का वही सूत्रधार है, यह स्पष्ट है। उच्च अधिकार एवं विश्वसनीयता के होते हुए भी उसमें कहीं गर्व या अहंकार नहीं है। अन्त में यद्यपि उसकी योजना फलवती हुई है, तो भी वह उदयन से डरता है। वह उदयन की अपेक्षा अधिक समर्थ है, पर स्वामिभक्ति के कारण ही उसमें यह नम्रता है **"सिद्धेऽपि नाम मम कर्मणि पार्थिवोऽसौ किं वक्ष्यतीति हृदयं परिशङ्कितं मे"** (९२)। प्रथम अंक में सैनिकों की उत्सारणा से दुःखित वासवदत्ता को जिस प्रकार वह धैर्य धारण कराता है उसमें, उसकी बुद्धि की प्रौढ़ता लक्षित होती है। पद्मावती द्वारा *"तत्कस्याद्य किं दीयताम्"* (१०) घोषणा कराए जाने पर वह तुरन्त अपनी योजना के लिए मार्ग खोज लेता है **"हन्त दृष्ट उपायः"** (१०)। पद्मावती के पास रहते हुए वासवदत्ता को कोई कष्ट नहीं होगा। ठीक से दोनों एक-दूसरी को पहचान लेंगी। अतः बाद में सपत्नी-भाव से रहने में किसी प्रकार का प्रतिरोध नहीं आएगा और वासवदत्ता जब उदयन के सामने प्रकट होगी तब पद्मावती उसके चरित्र की साक्षी होगी। यही सब सोचकर वह वासवदत्ता को पद्मावती के पास धरोहर रखता है। इन कार्यों में उसकी सूझबूझ और दूरदर्शिता परिलक्षित होती है। सारे कार्य का वह सूत्रधार है, पर श्रेय का लोभ उसमें अल्पमात्र भी नहीं। इसका श्रेय मुख्य रूप से वह रुमण्वान् को देता है **"सविश्रमो ह्ययं भारः प्रसक्तस्तस्य तु श्रमः। तस्मिन् सर्वमधीनं हि यत्राधीनो नराधिपः"** (२२)। योजना की सफलता में भी वह उदयन के भाग्य को ही कारण मानता है **"स्वामिभाग्यानामनुगन्तारो वयम्"** (९६)। विश्वसनीय, परिपक्व एवं प्रत्युत्पन्नमति, तपस्वी और त्यागी यौगन्धरायण के सम्पूर्ण चरित्र को भास ने उदयन के मुँह से एक ही वाक्य में सूत्ररूप से कहला दिया है **"यौगन्धरायणो भवान् ननु"** (९६)। सचमुच

---

१. उदयन धीरललित नायक है। **"निश्चिन्तो धीरललितः कलासक्तः सुखी मृदुः"** (दशरूपक) यह धीरललित का लक्षण है। अवलोककार के अनुसार इस प्रकार के शृङ्गार-प्रधान, सुकुमार एवं कोमल नायक के योग-क्षेम की चिन्ता मन्त्री ही करता है **"सचिवादिविहितयोगक्षेमत्वाच्चिन्तारहितः।"**

ही वह (युगं धरतीति युगन्धरः, तस्यापत्यं यौगन्धरायणः) यौगन्धरायण है। सब परिस्थितियों में सभी प्रकार के उपायों से वह अपने स्वामी एवं राज्य का संरक्षण करता रहा है—"मिथ्योन्मादैश्च युद्धैश्च शास्त्रदृष्टैश्च मन्त्रितैः। भवद्यत्नैः खलु वयं मज्जमानाः समुद्धृताः" (९६)।

विदूषक—"अनप्सरस्संवास उत्तरकुरुवासो मयाऽनुभूयते" (३८), "वातशोणितमभित इव वर्तते इति पश्यामि" (३८), "कोकिलानामक्षिपरिवर्त इव कुक्षिपरिवर्तः संवृत्तः" (४०), "अस्ति नगरं ब्रह्मदत्तं नाम तत्र किल राजा काम्पिल्यो नाम" (६८), इत्यादि वाक्यों में परम्परागत हास्यकारी ब्राह्मण का ही चरित्र वसन्तक के व्यक्तित्व में दिखाई देता है। किन्तु सर्वथा हँसोड़ ही स्वप्नवासवदत्त का विदूषक नहीं है। इसका मुख्य उद्देश्य विरही उदयन को सँभाले रखना है। अनेक अवसरों पर उसने अपने इस कर्तव्य को निभाया है। चौथे अङ्क में जब उदयन बहुत दुःखी होता है तो विदूषक ही उसे धैर्य रखने को कहता है "धारयतु धारयतु भवान्। अनतिक्रमणीयो हि विधिः" (५६)। कई बार उदयन के विषमावस्था में पड़ जाने पर अपने बुद्धि-कौशल से विदूषक ही उसे उबारता है। चतुर्थ अङ्क में ही जब उदयन की आँखों में पानी भर आता है और यह मुखोदक लाता है तब पद्मावती के वहाँ आ जाने से उदयन दुविधा में पड़ जाता है। "काशपुष्पलवेनेदं साश्रुपातं मुखं मम" (५८) उदयन को यह बचाव का उपाय विदूषक ने ही सुझाया है। फिर विदूषक ही वहाँ से उदयन को बड़ी चतुराई से ले जाता है और बात को आगे बढ़ने का अवसर ही नहीं आने देता। रात के अंधेरे में हवा से हिलती हुई तोरणमाला को साँप समझ कर वह अपनी मूर्खता प्रकट करता है पर अन्यत्र चुने हुए फूलों को देखकर पद्मावती के वहाँ आकर चले जाने का अनुमान लगाकर अपनी बुद्धि की प्रकर्षता को भी द्योतित करता है। यौगन्धरायण की योजना की कुछ-कुछ जानकारी इसे भी है। स्वप्नअङ्क में बात बिगड़ती देखकर वह खूब चतुराई से उदयन को वासवदत्ता के मर जाने का विश्वास दिलाता है—"अविधा वासवदत्ता......(७४)।" "उदकस्नानसंकीर्तनेन ......सा स्वप्ने दृष्टा भवेत्" (७४), "अवन्तिसुन्दरी नाम यक्षिणी......दृष्टा भवेत्" (७४)। इत्यादि युक्तियों से ज्यों ही उदयन कुछ प्रभावित होता है, त्यों ही वह "भेदानीं भवान् अनर्थं चिन्तयित्वा। एतु एतु भवान्। चतुःशालं प्रविशावः" (७६) कहकर प्रसङ्ग को ही बदल देता है। इस प्रकार विदूषक मुख्य योजना को पूरा कराने में सहायक है और अपने प्रसिद्ध हँसोड़ व्यक्तित्व को कुछ अंश तक बनाये रखकर भी अपने उत्तरदायित्व को चतुराई के साथ निभाता है।

———

परिशिष्ट—३

छन्द-परिचय

गद्यं पद्यं च मिश्रं च तत्त्रिधैव व्यवस्थितम् ।
पद्यं चतुष्पदी तच्च वृत्तं जातिरिति द्विधा ॥

(काव्या०, १-११)

पद्यं चतुष्पदी तच्च वृत्तं जातिरिति द्विधा ।
वृत्तमक्षरसंख्यातं जातिर्मात्राकृता भवेत् ॥

(छन्दोमञ्जरी)

काव्य, गद्य पद्य और मिश्र (चम्पू) के भेद से तीन प्रकार का होता है। पद्य प्रायः चार चरणों में निबद्ध होता है। यह 'वृत्त' और 'जाति' भेद से दो प्रकार का होता है। अक्षरसंख्यात चरण को 'वृत्त' और मात्रासंख्यात चरण को 'जाति' कहते हैं। 'स्रग्धरा' आदि वृत्त हैं और आर्या आदि जाति। जिसका उच्चारण किया जा सके ऐसे स्वरसहित व्यंजन अथवा केवल स्वर को अक्षर कहते हैं। अ, इ, उ, ऋ, लृ लघु और आ, ई, ऊ, ॠ, ए, ऐ, ओ, औ दीर्घ या गुरु स्वर हैं। लघु स्वर, बाद में संयुक्त व्यंजन, विसर्ग अथवा अनुस्वार आने पर गुरु हो जाता है। पाद के अन्त में विकल्प से गुरु होता है—

सानुस्वारश्च दीर्घश्च विसर्गी च गुरुर्भवेत् ।
वर्णः संयोगपूर्वश्च तथा पादान्तगोऽपि वा ॥

(छन्दोमञ्जरी)

लघु और गुरु स्वर के योग से सम्वन्वित अक्षर भी लघु एवं गुरु होता है। अक्षरसंख्यात वृत्त की गणन-परीक्षा (स्कैनिंग) के लिए छन्दशास्त्रियों ने आठ गणों का आविष्कार किया है। प्रत्येक गण में तीन-तीन अक्षर होते हैं। लघु-गुरु के स्थान-भेद से ये परस्पर भिन्न-भिन्न होते हैं। इनका संग्रह इस प्रकार है—

मस्त्रिगुरुस्त्रिलघुश्च नकारो भादिगुरुः पुनरादिलघुर्यः ।
जो गुरुमध्यगतो रलमध्यः सोऽन्तगुरुः कथितोऽन्तलघुस्तः ॥

लघु अक्षर को (।) अथवा (◡) चिह्न से और गुरु अक्षर को (ऽ) अथवा (–) चिह्न से प्रकट करते हैं। चिह्नों के अनुसार गणों को इस प्रकार लिखा जायेगा—

मगण ऽऽऽ, नगण ।।।, भगण ऽ।।, यगण ।ऽऽ, जगण ।ऽ।, रगण ऽ।ऽ, सगण

IIS, तगण SSI, 'ल' का अर्थ लघु और 'ग' का अर्थ गुरु होता है। एक अन्य पद्य में इन गणों को इस प्रकार गिनाया गया है—

आदिमध्यावसानेषु यरता यान्ति लाघवम् ।
भजसा गौरवं यान्ति मनौ तु गुरुलाघवम् ॥

जिस वृत्त में चारों पादों में अक्षर-संख्या समान हो उसे समवृत्त और जिसमें चारों पादों में अक्षर-संख्या भिन्न-भिन्न हो उसे विषमवृत्त कहते हैं। प्रथम-तृतीय और द्वितीय-चतुर्थ पादों की अक्षर-संख्या समान होने पर अर्ध-समवृत्त कहलाता है।

समवृत्त के एक चरण में एक से लेकर छब्बीस तक अक्षर हो सकते हैं। इस आधार पर समवृत्त के छब्बीस वर्ग माने गए हैं। प्रत्येक वर्ग में गण-स्थिति के भेद से अनेक छन्द होते हैं। उदाहरणार्थ १६ अक्षरों के वर्ग का नाम अत्यष्टि है और पृथ्वी, मन्दाक्रान्ता, शिखरिणी, हरिणी आदि छन्द इसके अन्तर्गत हैं। विषमवृत्त के अन्तर्गत सामान्य छन्द एक उद्गता ही है। अर्ध-समवृत्त के अन्तर्गत अपरवक्त्र, उपचित्र, पुष्पिताग्रा आदि ६ छन्द हैं।

'जाति' नामक पद्य में गणना मात्रा के आधार पर की जाती है। लघुमात्रा 'एक' और गुरु मात्रा 'दो' गिनी जाती हैं। इस श्रेणी का प्रचलित छन्द 'आर्या' है। इसके प्रथम और तृतीय पाद में १२ मात्राएँ तथा दूसरे और चौथे चरण में क्रमशः १८ और १५ मात्राएँ होती हैं। गीति, उपगीति, उद्गीति, आर्यागीति आदि इस श्रेणी के अन्य छन्द हैं।

पद्य के एक पाद में लय या पढ़ने की दृष्टि से जितने अक्षरों के बाद थोड़ा विराम दिया जाता है उसे यति कहते हैं।

स्वप्नवासवदत्त में ११ विभिन्न छन्दों में ५७ पद्य हैं। इनमें १० वृत्त हैं और एक जाति छन्द है। वृत्तों में भी ९ समवृत्त तथा १ अर्धसमवृत्त है। अक्षर-संख्या-क्रमानुसार इनका विवेचन निम्नलिखित प्रकार से है—

समवृत्त—

१. **अनुष्टुभ्**—एक चरण में आठ अक्षर वाली वृत्त-श्रेणी का नाम अनुष्टुभ् है। इसके कुल सम्भव भेद ($२^८$) २५६ हो सकते हैं। प्रयोग की दृष्टि से श्लोक, गजगति, प्रमाणिका, माणवक, विद्युन्माला और समानिका अधिक प्रसिद्ध हैं। इनमें से भी श्लोक का प्रयोग अपेक्षाकृत इतना अधिक होता है कि सामान्यतः अनुष्टुभ् का दूसरा नाम श्लोक ही समझ लिया जाता है। वास्तव में यह ठीक नहीं। अनुष्टुभ् के उक्त २५६ भेदों में से एक भेद का नाम 'श्लोक' है। इस श्लोक वृत्त का नियमन गणों से नहीं होता। इसमें पाद के केवल तीन अक्षर ही नियमित होते हैं। इसका लक्षण इस प्रकार है—

श्लोके षष्ठं गुरु ज्ञेयं सर्वत्र लघु पञ्चमम् ।
द्विचतुःपादयोर्ह्रस्वं सप्तमं दीर्घमन्ययोः ।।

उदाहरण—प्रथम अङ्क—२, ७, १०, १५ । चतुर्थ—५, ७, ८, ९ । पञ्चम—६, ७, ८, ९, १०, ११ । षष्ठ— ७, ९, १३, १४, १६, १७, १९ । छठे अङ्क के ३, ६, ११, १२, १८ ये पाँच पद्य न तो श्लोक हैं और न ही इस श्रेणी के अन्तर्गत ऊपर गिनाये गए गजगति आदि छन्दों में से किसी छन्द का लक्षण इनमें घटता है। यद्यपि अनुष्टुभ् के शेष २५० प्रकारों में से ही कोई ये हैं तथापि सुविधा के लिए इन्हें अनुष्टुभ्, यह सामान्य नाम दिया जा सकता है।

२. उपजाति—यह त्रिष्टुभ् श्रेणी के अन्तर्गत है। एक पाद में ११ अक्षर होते हैं और यति पाद के अन्त में होती है।

लक्षण—अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ पादौ यदीयावुपजातयस्ताः ।
इत्थं किलान्यास्वपि मिश्रितासु वदन्ति जातिष्विदमेव नाम ।।

गणव्यवस्था—इन्द्रवज्रा और उपेन्द्रवज्रा छन्दों के मिश्रण से उपजाति छन्द होता है। इसके १४ भेद माने जाते हैं। इन्द्रवज्रा की गणव्यवस्था इस प्रकार है—त त ज ग ग (SSI SSI ISI SS) स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः। उपेन्द्रवज्रा की गणव्यवस्था इस प्रकार है—ज त ज ग ग (ISI SSI ISI SS) उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ ।

प्रस्तुत नाटक में इसका उदाहरण पाँचवें अङ्क का पाँचवाँ पद्य है। इसकी गणव्यवस्था प्रथम चरण में उपेन्द्रवज्रा के अनुसार (ISI SSI ISI SS) है और शेष तीन चरणों की गणव्यवस्था इन्द्रवज्रा के अनुसार (SSI SSI ISI SS) है।

३. उपेन्द्रवज्रा—यह त्रिष्टुभ् श्रेणी के अन्तर्गत है। एक पाद में ११ अक्षर होते हैं। यति पाद के अन्त में होती है।

लक्षण—उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ ।

गणव्यवस्था—ज त ज ग ग (ISI SSI ISI SS) ।

उदाहरण—पञ्चम—१३ ।

४. शालिनी—यह भी त्रिष्टुभ् श्रेणी के अन्तर्गत है। पाद में ११ अक्षर होते हैं और ४, ७ अक्षरों पर यति होती है।

लक्षण—मात्तौ गौ चेच्छालिनी वेदलोकैः ।

गणव्यवस्था— म त त ग ग (SSS SSI SSI SS) ।

उदाहरण—प्रथम–१३ । चतुर्थ–६ । षष्ठ–१० ।

५. वैश्वदेवी—जगती श्रेणी के अन्तर्गत यह १२ अक्षरों का छन्द है। यति ५, ७ अक्षरों पर होती है।

लक्षण—बाणाश्वैश्छिन्ना वैश्वदेवी ममौ यौ।

गणव्यवस्था—म म य य (SSS SSS ISS ISS)।

उदाहरण—प्रथम–९।

६. वसन्ततिलका—यह शक्वरी श्रेणी के अन्तर्गत है। एक पाद में १४ अक्षर होते हैं। पादान्त में यति होती है।

लक्षण—उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः।

गणव्यवस्था—त भ ज ज ग ग (SSI SII ISI ISI SS)।

उदाहरण—प्रथम—४, ६, ११। चतुर्थ—२। पञ्चम—१, २, ३। षष्ठ—२, ४, ५, १५।

७. शिखरिणी—यह अत्यष्टि श्रेणी के अन्तर्गत है। एक पाद में १७ अक्षर होते हैं। यति ६, ११ अक्षरों पर होती है।

लक्षण—रसै रुद्रैश्छिन्ना यमनसभला गः शिखरिणी।

गणव्यवस्था—य म न स भ ल ग (ISS SSS III IIS SII IS)।

उदाहरण—प्रथम–१४, १६।

८. हरिणी—यह भी अत्यष्टि श्रेणी का १७ अक्षरों का छन्द है। यति ६, ४, ७ अक्षरों पर होती है।

लक्षण—नसमरसला गः षड्वेदैर्हयैर्हरिणी मता।

गणव्यवस्था—न स म र स ल ग (III IIS SSS SIS IIS IS)।

उदाहरण—षष्ठ–८।

९. शार्दूलविक्रीडित—यह अतिधृति श्रेणी के अन्तर्गत है। एक पाद में १९ अक्षर होते हैं। यति १२, ७ अक्षरों पर होती है।

लक्षण—सूर्याश्वैर्यदि मः सजौ सततगाः शार्दूलविक्रीडितम्।

गणव्यवस्था—म स ज स त त ग (SSS IIS ISI IIS SSI SSI S)।

उदाहरण—प्रथम–३, ८, १२। चतुर्थ–१। पञ्चम–४, १२।

अर्धसमवृत्त—प्रस्तुत नाटक में इस श्रेणी के केवल एक पुष्पिताग्रा छन्द का ही प्रयोग हुआ है। इसे औपच्छन्दसिक भी कहते हैं। इसमें सम पादों में १३ और विषम पादों में १२ अक्षर होते हैं।

लक्षण—अयुजि नयुगरेफतो यकारो
युजि तु नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा।

गणव्यवस्था—विषमपाद—न न र य (III III SIS ISS) ।

समपाद—न ज ज र ग (III ISI ISI SIS S) ।

उदाहरण—प्रथम–५ । षष्ठ–१ ।

जाति—मात्रा-संख्यात जाति छन्द (आर्या) का प्रयोग भी प्रस्तुत नाटक में हुआ है। इसमें केवल मात्राएँ गिनी जाती हैं, गण आदि की व्यवस्था नहीं होती है। मात्रिक छन्दों में यह आर्या छन्द सबसे अधिक प्रचलित है। इसके नौ भेद गिनाये गये हैं—

"पथ्या विपुला चपला मुखचपला जघनचपला च ।
गीत्युपगीत्युद्गीतय आर्यागीतिश्च नवधार्या ॥"

लक्षण—यस्याः पादे प्रथमे द्वादशमात्रास्तथा तृतीयेऽपि ।
अष्टादशद्वितीये चतुर्थके पञ्चदश साऽऽर्या ।

उदाहरण—प्रथम–१ । चतुर्थ–३, ४ ।

चतुर्थ अङ्क में तृतीय पद्य के बाद निवेशित पद्य में श्लोक छन्द है। इस पद्य की गणना उपर्युक्त ५७ पद्यों में नहीं की गई है।

———

परिशिष्ट—४

भाषा के अपाणिनीय प्रयोग

(क) अनियमित सन्धि—

स्मराम्यवन्त्याधिपतेः सुतायाः ... ... पृ० ६८

(ख) आत्मनेपद के स्थान पर परस्मैपद का प्रयोग—

आपृच्छामि भवन्तौ ... ... पृ० २२

(ग) परस्मैपद के स्थान पर आत्मनेपद का प्रयोग—

अपरिचयात्तु न श्लिष्यते मे मनसि ... ... पृ० ६

काले काले छिद्यते रुह्यते च ... ... पृ० ८८

(घ) धातु का गणान्तर में प्रयोग—

धरते खलु वासवदत्ता ... ... पृ० ७२

(ङ) सामान्य के स्थान पर णिजन्त प्रयोग—

अथ कस्मिन् प्रदेशे विश्रमयिष्ये ... ... पृ० १४

(च) णिजन्त के स्थान पर सामान्य प्रयोग—

आत्मानम् अनुग्रहीतुम् ... ... पृ० १०

(छ) लिंग-परिवर्तन—

महार्णवाभे युधि नाशयामि ... ... पृ० ७६

(ज) अनियमित समास—

एवं लोकस्तुल्यधर्मो वनानाम् ... ... पृ० ८८

(झ) अनियमित प्रत्यय—

[1]आर्ये ! मेदानीमन्यच्चिन्तयित्वा ... ... पृ० ३४

[1]मा मा भूयोऽवचित्य ... ... पृ० ४२

आर्यपुत्रेण इहागत्येमां कुसुमसमृद्धिं दृष्ट्वा, संमानिता भवेयम् पृ० ४२

दुःखं त्यक्तुं बद्धमूलोऽनुरागः ... ... पृ० ५६

[1]मेदानीं भवाननर्थं चिन्तयित्वा ... ... पृ० ७६

[1]मेदानीं भर्तातिमात्रं सन्तप्तुम् ... ... पृ० ८८

———

१. सर्वत्र ही 'मा' के योग में 'क्त्वा' या 'तुमुन्' प्रत्यय का प्रयोग अपाणि–

परिशिष्ट—५

पद्यों की अकरादिक्रम से सूची

परिशिष्ट—६

व्याख्यात प्रमुख शब्दों की सूची

टि०—सामान्यतः शब्दों को प्रथमान्त/प्रातिपदिक/हिन्दी रूप में रखा है। परन्तु कहीं-कहीं पाठगत शब्द के साथ पाठक का परिचय यथापूर्व बनाये रखने के लिए शब्दों को पाठानुरूप ही रहने दिया गया है।

चलतः स्खलनं क्वापि प्रमादतः

पृ०	पं०	स्खलितपाठ	अभीष्टपाठ
३	१८	समासान्तो टच्	समासान्तष्टच्
८	२६	पुष्पकश्चभद्रकश्च (द्वन्द्व) तौ आदी येषां तैः	पुष्पकभद्रः आदौ येषां तैः
६	५	पुष्पक भद्रक आदि	पुष्पकभद्र आदि
१०	२४	वर्णतो अर्थतश्च	वर्णतोऽर्थतश्च
११	२५	अभिरामा	अभिरामाः
११	२७	रुचिर्यस्या सा	रुचिर्यस्यै सा
२५	१४	सस्तादृशः	स तादृशः
३४	१०	कौतुहलेन	कौतूहलेन
३५	८	कौतुहल	कौतूहल
३८	६	दिठ्ठिआ	दिट्ठिआ
३८	१०	दिठ्ठो	दिट्ठो
३८	१४	वाससोणिदं	वातसोणिदं
३८	१७	न	नु
३६	२७	बहुषु अप्सरसः	बहुष्वप्सरसः
४०	८	गच्छामि	गच्छम्हि
४०	१७	भट्टिटीदारिए	भट्टिदारिए
४०	२२	उपविपदु	उपविसदु
४१	२०	अन्यस्य	अवन्यस्य
४१	२७	कुसुमिता पुष्पिताः	कुसुमिताः पुष्पिताः
४२	२७	स्नेह सा	स्नेहः सा
४६	६	पव्वदतिलअं गदा	पव्वदतिलअं णाम सिलापट्टअं गदा
४६	२०	माहविलदामंडवं	माहवीलदामंडवं
४६	२७	वनं तत्र प्रविष्टा	वनं तत् प्रविष्टा
४७	२५	तमिव कुटिलाम्	स इव कुटिलाम्
४८	२३	तावत् भवान्	तावद् भवान्